मुद्रक,
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य-प्रेस,
अजमेर ।

प्रथम वार
२०००

मूल्य
१॥।)
सजिल्द २)

नवम्बर
१९३१

नम्रता के साथ—

ईश्वर को अनेक धन्यवाद देते हुए, अपनी यह पुस्तक मैं हिन्दी-संसार के सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ। 'स्त्री-समस्या' को अपने बहन-भाइयों के सामने रखते हुए, मेरे हृदय में, हर्ष और सङ्कोच के मिश्रित भाव उठ रहे हैं। इसके रूप में जो चीज़ मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, अपनी अयोग्यताओं और अपूर्णताओं से भलीभाँति भिज्ञ होते हुए भी, मेरा नम्र-अभिप्राय है कि हिन्दी में अभी तक उसका अभाव था। यह बात नहीं कि हिन्दी में स्त्रियों-सम्बन्धी साहित्य न हो। छोटा-बड़ा और अच्छा-बुरा सभी तरह का साहित्य हिन्दी में मिलेगा; किन्तु, जहाँतक मुझे पता है, उसमें से अधिकांश या तो स्त्री-जीवन के कर्त्तव्य-कर्मों के उपदेशात्मक वर्णन से ओतप्रोत है या उसके किसी अथवा कुछ अंगों पर प्रकाश डाला गया है—उनकी वर्तमान विभिन्न समस्याओं और वर्तमान विश्वव्यापी स्त्री-आन्दोलन में उनके भाग का सिलसिलेवार व्यवस्थित वर्णन नहीं है। 'स्त्री-समस्या' में, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, मैंने इसी ओर ध्यान दिया है। स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं और कठिनाइयों पर (जिन्हें आम तौर पर अयोग्यतायें, 'डिसएबिलिटीज़', कहा जाता है) अङ्कों और उद्धरणों के साथ तर्कयुक्त विचार करने का प्रयत्न किया गया है; साथ ही, सुलझन और ज्ञान-वृद्धि के लिए, परिशिष्ट-रूप में स्त्री-आन्दोलन और उसके विकास का भी सिंहावलोकन कर उसकी छान-बीन की गई है। हिन्दी में इस तरह का यह प्रथम ही प्रयत्न है, इसीलिए इसे प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। परन्तु साथ ही संकोच भी कम नहीं, क्योंकि मुझे अपनी अयोग्यता और अपूर्णता का पूर्णतया भान है—और, यद्यपि यह तो मैं नहीं

कह सकता कि मैं लेखक नहीं हूँ, किन्तु यह आशंका अवश्य है कि लिखना कहाँतक अच्छा जानता हूँ ! इसीलिए धुकड़-पुकड़ हो रही है कि यह जैसी चाहिए वैसी सम्पूर्ण, ज्ञातव्य और उपयोगी हो भी सकी है या नहीं! परन्तु सन्तोष केवल यही है कि 'समस्या'-सम्बन्धी अधिकांश लेख पहले कसौटी पर कसे जा चुके हैं—और, सच पूछो तो, इसीलिए कुछ नवीन फूल-पत्तों और तागे के संयोग से इसे गुँथा हुआ रूप देने का साहस भी हुआ है। अब वह गुँथा हुआ रूप कैसा है, यह पढ़ने वाले बहन-भाई स्वयं देख सकते हैं; मुझे इसमें की सब बातों को यहाँ दुहराने की न तो ज़रूरत ही मालूम होती है, न स्थान ही शेष रहा है।

यह पूछा जा सकता है कि मुझे, एक पुरुष को, स्त्रियों की समस्या पर क़लम चलाने की क्या ज़रूरत और क्या अधिकार ? सचमुच यह कुछ मैं नहीं जानता; अलबत्ता यह मुझे मालूम है कि मैं जो कुछ भी हूँ, हूँ अपनी माता—एक स्त्री—की ही देन। माँ का मैं पुत्र हूँ, इसीलिए मातृ-जाति—स्त्रियों—की समस्याओं पर अपनी छोटी-सी योग्यता एवं शक्ति के साथ विचार और उनका हल करने का प्रयत्न करना मेरा कर्तव्य है—ऐसा कर्त्तव्य कि अकृतज्ञ हुए बिना उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। और फिर जबकि 'हम, स्त्री-पुरुष, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं' और 'नारी-रूपी शक्ति की अवगणना करने से ही हमारा अधःपतन हुआ है', तब तो हमारे लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम स्त्रियों की समस्या पर गम्भीरता से विचार करें और किसी सुमार्ग की खोज करें। फिर मैं तो स्त्रियों का और भी 'ऋणी' हूँ—यदि इस शब्द का बिना आपत्ति के प्रयोग किया जा सके। इस संसार का प्रथम दर्शन तो सभी को स्त्रियाँ ही कराती हैं, किन्तु उसके अलावा अनेक स्त्रियों से आज भी मेरे गाढ़े सम्बन्ध हैं। कई ने अपने शुद्ध-सरस भगिनी-स्नेह के पाश में मुझे बद्ध कर रक्खा है, और एकाध तो मानों 'सगी' बहन ही न होगई हों ! कौन कह सकता है कि इन बहनों के शुद्ध-सरस स्नेह का मेरी

पुस्तक के विभिन्न भागों (लेखों) पर प्रभाव न पड़ा हो? अनेक पीड़ित, दुःखी, और पुरुष की ज़बर्दस्ती की शिकार बहनों का आर्त्तनाद भी मैंने देखा और सुना है; कौन कह सकता है कि वह करुण क्रन्दन भी, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में, इसमें न आया हो? साथ ही सभी स्त्रियाँ निर्दोष ही हों, सो बात नहीं; अतः स्त्रियों के कृष्ण रूप और उसके प्रति कठोरता का भी कुछ आभास आ गया हो तो कौन आश्चर्य? परन्तु अन्ततोगत्वा मनुष्य स्नेह का ही जीव है, और मैं भी इससे अन्यथा नहीं—अलबत्ता 'शारीरिक आकर्षण के रूप में वाहियात और वासनापूर्ण प्रेम नहीं, बल्कि वह स्नेह कि जिसमें माता और उसके बालक की नाईं एक-दूसरे का ख़याल और श्रद्धा रहे'। अपने चैतन्य-जीवन में (होश सम्हालने के बाद स्नेह की सर्वप्रथम झाँकी मैंने पाई है अपनी उन मामी श्रीमती ब्रह्मवर्तादेवीजी से, जिन्हें आज भी मैं माता के रूप में मान रहा हूँ; †अतः सब मिला कर इसमें स्त्रियों के मातृ-रूप की ही प्रमुखता मिले तो वह उचित ही है। 'मातृ-पूजा' ही अन्त में 'हमारा लक्ष्य' बतलाया गया है, और वस्तुतः वही अपनी पवित्रता एवं संयम के साथ वांछनीय भी है। "मैं ग़लती कर सकता हूँ, किन्तु", मैज़िनी के स्वर में स्वर मिलाकर मैं स्त्रियों से कहना चाहता हूँ, "मेरा हृदय शुद्ध है। मैं धोखा खा सकता हूँ, किन्तु धोखा दूँगा नहीं। अतः एक सच्चे भाई की तरह वे मेरी बातें सुनें और अपने तईं स्वतंत्रता-पूर्वक सोचें कि मेरा कहना सच है या नहीं। अगर वह असत्य मालूम पड़े, तो उसे न मानें; किन्तु यदि उसमें सचाई मालूम पड़े, तो उसका अनुसरण करें—उसके अनुसार कार्य करें।" मुझे आशा है कि जिस स्नेह और शुद्धता के साथ मैं यह लिख रहा हूँ, उसी रूप में इसे ग्रहण भी किया जायगा।

---

† इसी स्नेह के स्मृति-स्वरूप, मातृ-जाति के प्रति अपनी श्रद्धा के द्योतक-रूप, अपना यह प्रथम प्रयत्न—यह पुस्तक—इन्हींको समर्पित भी है।

एक बात और। स्त्री-हलचल के प्रति यद्यपि मेरा कुछ झुकाव तो शुरू से ही रहा है, क्योंकि आरम्भ में सामान्य साहित्य के रूप में मुझे स्त्रियों-संबन्धी पत्र-पुस्तकें ही अधिक पढ़ने का संयोग हुआ था, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस ओर गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन की रुचि को प्रोत्साहन मिलकर उसमें व्यवस्थितता लाने का श्रेय 'त्यागभूमि' को ही है। 'आधी दुनिया' ३२ पृष्ठों में 'त्यागभूमि' का सबसे महत्वपूर्ण उप-विभाग था, और इसका सम्पूर्ण दायित्व शुरू से आख़िर तक रहा मेरे ही ऊपर। यह तय हुआ था कि जो जिस उप-विभाग को सम्हाले वह अध्ययन और मनन द्वारा उस विषय का 'मास्टर' बनने का प्रयत्न करे, और मुझे तो उसके लिए हर महीने स्त्रियों-सम्बन्धी किसी एक प्रश्न का अध्ययन करके उसपर युक्ति और प्रमाण-पूर्ण मुख्य लेख भी लिखना पड़ता था। इसी सिलसिले में स्त्रियों-संबंधी अनेक पुस्तकें तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उन संबन्धी लेख, वर्णन इत्यादि मैंने पढ़े हैं और अब भी थोड़ा-बहुत पढ़ता रहता हूँ; ऐसी ही स्थिति में इसमें के अधिकांश लेख लिखे गये हैं, और वे हैं भी प्रायः 'त्यागभूमि' में ही प्रकाशित; हाँ, दो-एक लेख 'माधुरी' और 'महारथी' में निकले हुए भी इसमें जोड़ दिये गये हैं; साथ ही पुस्तक को सम्पूर्ण बनाने के लिए दो-एक लेख और ख़ासकर 'स्त्री-आन्दोलन' इसमें नये ही लिखे गये हैं। 'त्यागभूमि' तो घर की ही चीज़ है, किन्तु 'माधुरी' और 'महारथी' के सम्पादकों को इस अवसर पर मैं धन्यवाद न दूँ तो उचित न होगा। साथ ही उन अनेक पत्र-पुस्तकों के लेखकों व सम्पादकों को भी क्यों न धन्यवाद दूँ, कि जिनके अध्ययन का ही नहीं विभिन्न अंशों का भी मैंने जगह-जगह ख़ूब उपयोग किया है और कई जगह तो उनके नामादि का उल्लेख तक नहीं कर पाया हूँ? 'फ़ेमिनिज़्म', 'कॉमिंग रिनेसां', 'वीमन आफ़ दि फ्रेंच रिवाल्यूशन', 'वीमन प्राबलम्स आफ़ टुडे,' 'दुखी भारत', 'वीमन आफ़ माडर्न इंडिया', इत्यादि कई पुस्तकें तो मुझे ऐसी प्रिय हो गई हैं कि अपने पास से हटाने

को भी जी नहीं चाहता; साथ ही 'नाइण्टीन्थ सेन्चुरी' का भी एक अंक (अगस्त १९२७) मुझे बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। और अपने स्नेहियों, साथी व मित्रों, को धन्यवाद देने के लिए तो मानों मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, जिनमें से किसी एक को भी मैंने ऐसा नहीं छोड़ा है कि जिससे किसी-न-किसी रूप में थोड़ा-बहुत सहयोग-सहायता इस पुस्तक में न ले ली हो; और सच पूछो तो उन सबके प्रोत्साहन, सहयोग एवं वादविवाद और अन्य अनेक सलाह-मशविरे के फल-स्वरूप ही मैं इतने लेख लिख और उन्हें इस पुस्तक के रूप में गूँथ कर प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ।

अन्त में इस आशा के साथ मातृ-पूजा (दुर्गाष्टमी) के इस सुअवसर पर मैं इसे मातृ-रूप स्त्रियों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ कि वे इससे अपनी समस्या का सिंहावालोकन करें और उसके वास्तविक रूप को जानने तथा उसे पकड़ने की चेष्टा करें। साथ ही पुरुषों का भी कर्तव्य है कि वे अपना सुधार करें, स्त्रियों के प्रति अपने रुख को अधिक संयत और सुशील बनावें। तभी हम सत्यं, शिवं और सुन्दरं की प्रस्थापना कर सकेंगे।

अजमेर,
दुर्गाष्टमी (आश्विन),
१९८८।

मुकुटबिहारी वर्मा

जीवन में पहली बार जिनकी मंगल-मूर्ति में

मातृत्व की स्नेहल छाया

के सुखद स्पर्श का अनुभव किया, उन्हीं

पूज्य मामी

श्रीमती ब्रह्मावतीदेवीजी

के चरणों में

श्रद्धा, भक्ति और नम्रता के साथ यह तुच्छ भेंट

समर्पित है।

मुकुट

?

परिशिष्ट [३५७—४३२]

स्त्री-आन्दोलन—

स्त्री-समस्या

१

नई लहर

"क्रान्ति !—श्रमजीवी सरकार ने अपनी स्थापना के पहले ही महीनों में स्त्रियों-सम्बन्धी क़ानून में बिलकुल क्रांति कर दी। जिन क़ानूनों से स्त्रियाँ बिलकुल गुलामी में जकड़ी हुई थीं, उन्हें पलट देने में सोवियट सरकार ने कोई कसर नहीं रक्खी है। × × × और अब हम अभिमान-पूर्वक, बिना किसी अतिशयोक्ति के, कह सकते हैं कि सोवियट रूस के अलावा दुनिया में कोई एक भी ऐसा देश नहीं है कि जहाँ स्त्रियों ने बिलकुल बरा-बरी के अधिकार पा लिये हों और ख़ास कर रोज़मर्रा के कौटुम्बिक जीवन में उनकी स्थिति अपमानपूर्ण न हो।"

—मोशिये लेनिन

क्रान्ति ! क्रान्ति ! क्रान्ति ! जिधर देखो, आज यही गूँज मची हुई है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से, आधुनिक रूप में, इसका उद्भव हुआ है; और, तबसे अबतक, यह उत्तरोत्तर विकसित ही होती चली आ रही है। दुनिया में किसी भी ओर दृष्टिपात कीजिए—कहीं राजनैतिक तो कहीं आर्थिक, कहीं धार्मिक तो कहीं नैतिक—किसी-न-किसी प्रकार की क्रान्ति का ताण्डव सर्वत्र, थोड़े-बहुत रूप में, दीखे ही गा। न-जाने कितने राजवंश छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, न-जाने कितने मदान्ध शासक धराशायी हो चुके हैं, न-जाने कितने गर्वियों का मान-मर्दन हो चुका है, न-जाने कितनी परम्परायें बदल चुकी हैं, और न-जाने और भी कितनी उथल-पुथल मच चुकी है क्रान्ति के नाम पर ! फ्रान्स का नृशंस लुट गया; रूस के ज़ार का क़त्लेआम हो गया; आज के स्वेच्छाचारियों और अत्याचारियों के भाग्य का भी कौन ठिकाना है ? और सामाजिक प्रथायें ?—ओह, कहाँ है आज

वह पहले का जङ्गली और अन्ध-विश्वासी यूरोप ? कहाँ है आज टर्कों का प्रसिद्ध मुल्लापन ? कहाँ है आज अफ़ग़ानिस्थान की पहले की सी जङ्गली और खूंख़्वार सभ्यता ? अरे, भारत की सर्व-प्रशंसित और समुन्नत वैदिक सभ्यता का भी तो आज कहीं पूरा और पुराना अस्तित्व नहीं है !

क्रान्ति !—ओह, कितना जादू भरा हुआ है इस छोटे-से शब्द में ? कितना भीषण और, साथ ही, कितना आकर्षक है यह शब्द ? कायर इसके नाम-मात्र से हड़बड़ा उठते हैं और युवक—उठती हुई उम्र के स्त्री-पुरुष—उठती हुई उमङ्गों और हार्दिक उल्लास के साथ, इसके स्वागत के लिए, अधीरता और उत्कण्ठा के साथ, तड़फड़ाते हैं !

क्रान्ति ! सचमुच कितनी शक्ति है इसके अन्दर ! कितनी भयावह, किन्तु, परिणाम में कितनी सुखद ! नदी का प्रवाह जैसे मार्ग के कूड़े-काँटों को बहा ले जाता है, क्रान्ति भी अपने भीषण-भयानक प्रवाह में सब बुराइयों और उन बुराइयों के कर्त्ताओं को उसी प्रकार सफ़ाचट कर डालती है !

इसलिए, और इसीलिए, हम उतावले-अधीर युवकों को यह अतिप्रिय है। हमारी यह आशा है—और, इसी आशा पर, हमारे न-जाने कितने और किन-किन मन्सूबों का आधार है !

इसीलिए कितने प्रसन्न होते हैं हमारे हृदय, जब हम सुनते हैं कि आज अमुक देश में क्रान्ति हुई और आज अमुक जाति या वर्ग ने क्रान्ति का शंख फूँका ! ओह, क्या पूछना है उस प्रसन्नता का—उस उमङ्ग और उत्साह का ! चूँकि हम क्रान्ति के प्रतीक्षक हैं, इसलिए भूल जाते हैं इस बात को भी कि जिसपर हम और हमारे हृदय इतने उछल रहे हैं वस्तुतः वह ठीक भी है या नहीं ! क्रान्ति की उमङ्ग के मदमाते हम अधीर युवक इस बात के सोचने की फ़िक्र ही क्यों करें कि नदी का यह प्रवाह कूड़ा-कर्कट को ही बहा रहा है या कहीं हमारे (जीवन के लिए आवश्यक) आराम-आसायश के सामान को भी वह बहाये ले जा रहा है ? क्रान्ति, जिसपर हम हर्ष से उछले पड़ते हैं, हमारी बुराइयों को ही सफ़ाचट कर रही है या उनके साथ हमारी नामदार अच्छाइयों को भी नष्ट किये जा रही है—इस बात के निरीक्षण की हम उतावलों को फ़िक्र और परवा ही कहाँ है ?

[२]

'ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रङ्ग बदलता है'—यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। दुनिया की मौजूदा रविश में

जहाँ पुरुष आगे बढ़े, यह नामुमकिन था कि स्त्रियाँ भी न अग्रसर होतीं। उन्होंने स्वदेश-मुक्ति के लिए जहाँ पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाया, वहाँ स्वयं अपनी मुक्ति के लिए पुरुषों के ख़िलाफ़ 'जहाद' की घोषणा करने में भी वे पीछे न रहीं। 'कोई जाति किसी दूसरी जाति के अधीन नहीं रह सकती'—इस ध्वनि के स्वर में स्वर मिलाकर उन्होंने भी घोषणा की, 'कोई वर्ग (Sect) दूसरे किसी वर्ग के ऊपर निर्भर—परमुखापेक्षी—नहीं रह सकता।' बस, यही है स्त्री-स्वातंत्र्य का श्रीगणेश !

क्रम-विकास सृष्टि का नियम ठहरा। जो स्त्रियाँ एक समय सम्पत्ति समझी जाती थीं, पुरुषों ने जिन्हें अपनी ज़रख़रीद दासी और सन्तानोत्पत्ति की मशीन सचमुच चाहे न समझा हो, परन्तु अपनी आज्ञानुवर्ती जिन्हें मानने का वे अपना जन्मजात अधिकार मानते आये थे, होते-होते, वही उनकी समानता का दावा करने लग गईं ! उन्होंने केवल दावा ही नहीं किया, इसके लिए प्रयत्न भी किया—और, एक के बाद एक, कष्टों व आपदाओं का भी साहस के साथ आह्वान किया। परिणाम यह हुआ कि समाज में विचार-क्रान्ति हुई—और जो लोग शुरू-शुरू में उनकी इस बात

जो पसन्द न करते थे, वे भी, इच्छा या अनिच्छा से, अपने विरोध को पी गये। कुछ तो उनके ज़बरदस्त समर्थक भी बन गये। स्त्रियों को बल मिला; उनका साहस बढ़ा; वे और भी ज़ोरों से इस मार्ग पर अग्रसर हुईं। और, आज हम देखते हैं, यूरोप व अमेरिका में ही नहीं, जड़ता कहे जानेवाले स्थिरता और प्राचीनता के अन्यतम पक्षपाती हमारे एशिया में भी उनकी स्थिति कुछ से कुछ हो गई है!

इंग्लैण्ड में तो पिछले चुनाव में पार्लमेंट के मत-दाताओं में अधिक संख्या स्त्रियों की होने से मानों देश के शासन पर उनका प्रभाव पुरुषों की अपेक्षा अधिक हो गया है। स्त्रियाँ वहाँ के मन्त्रि-मण्डल में भी पैठ गई हैं। अमेरिका में उनका काफ़ी ज़ोर है। सोवियट रूस में तो वे, सब क्षेत्रों में, पुरुषों के समकक्ष और उनकी प्रतिस्पर्धी हैं। अन्य पश्चिमी तथा उनसे प्रभावित देशों में भी उनकी तूती है। हमारे एशिया के चीन, जापान, फ़ारस आदि देशों में तो स्त्रियाँ जागृत और प्रगतिशील हैं ही; परन्तु भारतवर्ष भी इस लहर से अछूता बचा हो, सो बात नहीं। यह सम्भव भी न था।

पिछले कुछ वर्षों में भारत में महिला-जागृति की

काफ़ी लहर दृष्टिगोचर हुई है। अखिल-भारतीय महिला-परिषद् के दिनों में तो ख़ासी चहल-पहल रहती ही है; परन्तु विभिन्न प्रान्तों और ज़िलों की महिला-परिषदों तथा तद्विषयक सभा-समितियों की हलचलें भी आजकल अक्सर सुनाई पड़ती हैं। विभिन्न सभा-समितियाँ महिलाओं की स्थापित हो रही हैं। भारतीय महिला-संघ और अ० भा० महिला-परिषद् अच्छा काम कर रही हैं। बम्बई का सेवा-सदन और बङ्गाल की सरोजनलिनीदत्त-स्मारक संस्था बड़ी ठोस और वृद्धिंगत नींव पर चल रही हैं। दक्षिण में कर्वे-विद्यापीठ और उसकी शाखायें तथा उत्तर में जालन्धर का कन्या-महाविद्यालय और दिल्ली का कन्या-गुरुकुल आदि स्त्रियों में शिक्षा का अच्छा बीज-वपन कर रहे हैं। शिक्षा की दिशा में ये प्रशंसनीय कार्य कर ही रहे हैं; उधर मण्डी की महारानी आदि संभ्रान्त महिलाओं ने भी अपनी निजी हैसियत से तथा अ० भा० महिला-शिक्षा-परिषद् की ओर से स्त्री-सुधारों की आवाज़ बुलन्द की है। विभिन्न प्रान्तों में स्त्रियों को कौंसिलों के चुनाव में मत देने के हक़ ही नहीं मिले हैं, बल्कि कहीं-कहीं तो एक-दो महिला कौंसिल की सदस्य भी बन गई हैं। मद्रास की श्रीमती डा० म्युथ्यु-

लक्ष्मी का नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है, जो महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए बड़ा ठोस एवं अन-वरत कार्य कर रही हैं और अपनी योग्यता एवं कार्यपटुता से कौंसिल के उपाध्यक्ष-पद तक पहुँच चुकी हैं। सर्व-साधारण में श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, श्रीमती सुषमा सेन, मण्डी की महारानी साहबा, तपस्विनी पार्वतीदेवी आदि अच्छा काम कर रही हैं। श्रीमती सरो-जिनी नायडू तो सभी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर चुकी हैं—भारत की जनता उन्हें अपने अधिकार के सबसे बड़े राष्ट्रपति और राष्ट्रदूत के सम्माननीय पद प्रदान कर चुकी है। श्रीमती उमा नेहरू, कुमारी लज्जावती, श्रीमती अवन्तिकाबाई गोखले, डा० प्रभावतीदास गुप्त, श्रीमती चटर्जी आदि भी अपने-अपने प्रान्तों और क्षेत्रों में काफ़ी काम कर रही हैं। पत्र-पत्रिका भी कोई ऐसी नहीं, जिसमें स्त्रियों के सम्बन्ध की चर्चा ख़ास तौर पर न रहती हो। यहाँ तक कि आजकल पत्र-पत्रिकाओं में उनके चित्रों की भी भरमार है। इस प्रकार, हम देखते हैं, चारों ओर आज उनमें जागृति-ही-जागृति और प्रगति-ही-प्रगति दिखाई पड़ रही है।

यह बात नहीं कि स्त्री-स्वातंत्र्य के विरोधी हमारे यहाँ कोई न रहे हों। अब भी 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की पुकार मचानेवाला एक दल हमारे यहाँ मौजूद है। परन्तु नदी में बाढ़ आने पर जैसे कोई उसे रोकने का साहस नहीं कर सकता, इसी प्रकार—किसी भी कारण से क्यों न हो—आज वे भी इस लहर का अवरोध करने का साहस नहीं कर सक रहे हैं।

यही, संक्षेप में, आज की स्थिति है।

[३]

यह लहर कहाँ तक उपयोगी है और कहाँ तक नहीं, यह विवादास्पद बात है। श्रीमती जिना लोंब्रोसो फ़रेरो के समान विदुषी महिला (जो एक प्रसिद्ध इटालियन इतिहासज्ञ की स्त्री और स्वयं भी एक मशहूर अपराधशास्त्र-विज्ञ एवं सुविख्यात ग्रंथकार हैं) का तो कहना है कि 'इन विजयों से स्त्रियों के सुख में कुछ वृद्धि हुई, इस बारे में मुझे तो शक ही है।' परन्तु कई विदुषियाँ इसकी ज़बरदस्त समर्थक भी तो हैं !

अच्छाई और बुराई प्रत्येक बात में होती है। स्त्री-स्वातंत्र्य में भी अच्छाइयाँ हैं, इसे तो कोई अस्वीकार

कर ही नहीं सकता। आज़ादी एक ऐसी नियामत है कि इससे किसी का बिगाड़ नहीं होता। आज़ादी से मन और आत्मा का विकास होता है; ज़िम्मेदारी और दूरन्देशी आती है; अच्छे-बुरे, उन्नति-अवनति की कल्पना और तदनुसार कार्य करने की प्रेरणा होती है। उत्साह-उमङ्ग, आन और लगन होती है। परन्तु एक शर्त है। वह हो सच्ची आज़ादी; किसी का अनुकरण नहीं। आत्म-प्रेरित सच्ची आज़ादी की ज़रूरत है। ऐसा न होने पर वह उच्छृङ्खलता के रूप में पलट जाती है। और, यह सब जानते हैं, उच्छृङ्खलता कभी वांछनीय नहीं होती।

स्त्री-स्वातन्त्र्य की जो लहर हमारे यहाँ उठी है, उसमें कौनसी बात प्रधान है—यह एक टेढ़ा सवाल है। अभी इसका पूर्ण निश्चय हो भी नहीं सकता। यह तो तभी पता चलेगा, जब यह काल अतीत की बात हो जायगा और उस भविष्य के विचारक शान्त एवं तटस्थ चित्त से इस हो जाने-वाले भूत पर विचार करेंगे।

यह ज़रूर है कि स्वतन्त्रता होनी चाहिए और प्राचीन काल में—कहते हैं—हमारे यहाँ स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त भी थी। परन्तु तब और अब में एक फ़र्क़ है। जैसा

कि 'वेदान्त-केसरी' में इस विषय की समीक्षा करते हुए एक बार स्वामी ईश्वरानन्द ने लिखा था, पहले हमारे यहाँ ब्रह्मचर्य से उद्भूत संयम की भावना मुख्य थी। उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहें तो हम कह सकते हैं कि जहाँ यह बात न हो, अर्थात् ब्रह्मचर्य से उद्भूत संयम के भाव न हों, वहाँ स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द और अबाध हिलना-मिलना—उनकी स्वतन्त्रता—निश्चय ही ख़तरनाक है।

सुधार करना बुरा नहीं है, बशर्ते कि वह अन्तर की छिपी हुई वासना की पूर्ति के लिए बनाया हुआ बहाना न हो—वह हो सुधार की अन्तःप्रेरित सच्ची और उन्नत प्रेरणा से, संयम के साथ, और स्वयं कष्ट उठाने के रूप में। सुधारक का काम अपने लिए रियायतें या छूट चाहना नहीं है। स्वच्छन्दता को भी वह हर्गिज़ नहीं अपनाता। उसका काम तो है समष्टि की सुख-सुविधा के लिए यदि अपने पर कष्ट-आपदायें आती हों तो उनकी परवा न कर उनका स्वागत करना, विनम्रता-पूर्वक उनका मुक़ाबला करना और अपने लिए रियायतों व छूटों का मोह परित्याग करके उच्छृङ्खलता-हीन परन्तु स्वाभिमानी विनम्र जीवन-यापन करना। संक्षेप में, कठिनाइयों व पशोपेशों से रात-दिन मुक़ाबला करना

और कष्ट एवं संयम—अर्थात तपस्या—ही सुधारक का प्रसाद है। यही सुधारक का राजमार्ग है। और तभी सचमुच किसी भी सुधार में पूर्ण और वांछनीय सफलता प्राप्त हो सकती है।

आजकल यह बात कहाँ तक मिलती है, यह विचारणीय है। यह तो हर्गिज़ कहा ही नहीं जा सकता कि आज के सुधारक इसके बिलकुल विपरीत हैं; परन्तु इसके अनुरूप कहाँ तक हैं, यह भी सन्देहास्पद ही है। आज तो एक मत सदाचार को ढकोसला माननेवाला भी बढ़ रहा है, यद्यपि यह नहीं कह सकते कि हमारे यहाँ उसका असर कहाँ तक हुआ है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय? हम यह तो न कहेंगे कि सुधार ही न हों—सुधार हों और अवश्य हों, नहीं तो हम परिवर्तित जीवन के साथ कैसे चलेंगे? परन्तु यह हम ज़रूर कहना चाहते हैं कि पश्चिम के पीछे अन्धे होकर न चला जाय। कोई बात प्राचीन या पूर्वी होने से ही छोड़ी न जाय, और न अर्वाचीन या पश्चिमी होने ही से किसी बात को ग्रहण किया जाय। प्रत्येक बात को उपयोगिता और उपयुक्तता की तर्कसंगत कसौटी पर कसना आवश्यक है, संयम का मद्देनज़र रहना भी वैसा ही ज़रूरी है; और

तब, खूब सोच-समझकर, फिर पूर्ण निश्चय के साथ उसे छोड़ना या अपनाना उचित है।

भारतीय स्त्रियाँ चूँकि दीर्घकाल से बाहरी जीवन से विरक्त और पृथक् रही हैं—चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, पर रही ज़रूर हैं, शिक्षा और बाहरी जीवन का उनका अध्ययन और अभ्यास भी अभी कम ही है, साथ ही एक-मात्र पुरुष पर निर्भर रहना चाहे वे न चाहती हों, पर पुरुष की प्रधानता को वे अस्वीकार भी नहीं करतीं; अतएव उन्हें तो इन सब बातों पर बहुत काफ़ी और सतर्क ध्यान रखना आवश्यक है। नहीं तो, भय है, कहीं वह हिसाब न हो कि 'चौबेजी गये तो छब्बे बनने पर रह गए दुब्बे ही।'

आशा है, नई लहर पर अग्रसर होते हुए, वे इस बात पर पूरा-पूरा ध्यान रक्खेंगी और अपनेको महान् भारत की अतीत परम्परा के उपयुक्त ही सिद्ध करेंगी—वह परम्परा, जिसके लिए, आज भी, श्रीमती सरोजिनी नायडू तक को अभिमान है! उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहें तो आज भी भारतीय स्त्रियों का सर्वोत्तम आदर्श वह सावित्री ही है, जिसने अपने आत्मबल से यम तक को परास्त कर दिया था।

२

मातायें और बहनें

"जिस देश अथवा राष्ट्र में नारी-पूजा नहीं, वह देश या राष्ट्र कभी महान या उन्नत नहीं हो सकता। नारी-रूपी शक्ति की अवगणना करने से ही आज हमारा अधःपतन हुआ है। जहाँ स्त्रियों का आदर न हो, जहाँ स्त्रियाँ दुःख में समय बिता रही हों, उस समाज अथवा देश की उन्नति की आशा करना दुराशा-मात्र है। अतएव, स्त्रियों को जागृत करना चाहिए। स्त्रियाँ महामाया की प्रतिमा हैं। जबतक उनका उद्धार न होगा, हमारे देश का उद्धार होना असम्भव है।"

—स्वामी विवेकानन्द

स्वाधीनता की उपासना एक यज्ञ है—धर्म-कार्य है। वह माताओं और बहनों के बिना कैसे सफल हो सकता है? अज्ञानवश, कालगति के कारण, हमने अपनी माताओं और बहनों की स्वाधीनता की उपेक्षा की। उन्हें अवला समझ कर महत्वपूर्ण कार्यों में भाग लेने से वञ्चित रक्खा—और, उसका फल क्या हुआ? भारत के पुरुष-समाज ने अपने आपको 'स्त्रैण' बना लिया। हमने अपने सगे भाइयों को अछूत बनाया नहीं, और हम संसार में अछूत हुए नहीं। यह विश्व कल्पवृक्ष है। जिस भावना से हम दूसरे की सेवा करते हैं वैसा ही फल हमें अनिवार्य रूप से मिलता है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

तव हम स्वाधीनता के मन्दिर में किस तरह प्रवेश करना चाहते हैं? मलिन अंतःकरण को लेकर? अपने लिए स्वाधीनता चाहें और अपनी माताओं तथा बहनों को पराधीन ही बनाये रक्खें? यह असम्भव है। यह रास्ता स्वाधीनता का नहीं। पहले उनकी मुक्ति तब हमारी। जैसा वृक्ष होगा

वैसा फल होगा। जैसी माता होगी वैसे पुत्र होंगे। स्त्री-जाति केवल 'आधी दुनिया' ही नहीं बल्कि शेष अर्द्ध की विधात्री भी तो है! इसीलिए कहा है कि 'जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं।'

हम देखें कि हमारे देश में माताओं और बहनों की क्या हालत है।

संख्या

सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार, भारतवर्ष की कुल जन-संख्या ३१९०७५१३२ में स्त्रियों की संख्या १५५०१८९४१ है, जोकि विभिन्न प्रान्तों और ख़ास-ख़ास एजेन्सियों व रियासतों में इस प्रकार विभाजित है:—

अजमेर-मेरवाड़ा	२२६०३२
अन्दमान-निकोबार	६४४०
आसाम	३६४३१९६
बिलोचिस्थान	१६६११२
बङ्गाल	२२५२२५५६
बिहार-उड़ीसा	१७२३१६६६
बम्बई-प्रान्त	९१७३६५२
ब्रह्मा	६४५४७५३

मध्यप्रान्त	५४४७५६१
वरार	१५११९६८
कुर्ग	७४६०८
दिल्ली	२०६०३२
मद्रास-प्रान्त	२१४३८०३७
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	१०२०९०५
पञ्जाब	५८६९३१२
संयुक्तप्रान्त	२१६९६१९४
मणिपुर राज्य	१९५७२१
विलोचिस्थान की रियासतें	१७३०११
बड़ौदा राज्य	१०२२८२१
बङ्गाल की रियासतें	४१९५२९
बिहार-उड़ीसा की रियासतें	२०१७७६३
बम्बई की रियासतें	३६४११५५
मध्यभारत एजेन्सी	२९२१८१२
मध्यप्रान्त की रियासतें	१०२८९७५
ग्वालियर राज्य	१४८९६४६
हैदराबाद राज्य	६१२१६४२
काश्मीर राज्य	१५६४१२८

मद्रास की रियासतें	२७१४३६४
कोचीन राज्य	४९५१८५
त्रावणकोर राज्य	१९७३५४३
मैसोर राज्य	२९३०६६१
सीमाप्रान्त की रियासतें	१३०७३८३
पञ्जाब की रियासतें	१९९०२१०
राजपूताना एजेन्सी	४६६७२४७
शिकम राज्य	४०२१०
संयुक्तप्रान्त की रियासतें	५५४५११

साक्षरता

श्रीयुत टी० पी० चन्द्र के लेखानुसार ब्रिटिश भारत में प्रति १००० स्त्रियों में पढ़ी-लिखी स्त्रियों की संख्या केवल ११ है। सन् १९२१ की गणना से तो यह और भी कम अर्थात् सिर्फ १०॥ ही सिद्ध होती है। इसके अनुसार तो कुल १५५०१८९४१ स्त्रियों में पढ़ी-लिखी हैं सिर्फ़ १६००७६३; और अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी तो और भी कम—केवल १५२०२६। इनमें विभिन्न धर्मों के हिसाब से साक्षर और अशिक्षित स्त्रियों का जो परिमाण है वह इस प्रकार है—

	साक्षर	अशिक्षित
हिन्दू	८१४८१०	१०५१०५९०४
सिख	१७२८०	१२६२३८७
जैन	२४१२०	५८०५०९
बौद्ध	३१७३३८	५११७७४८
पारसी	३१२१८	१७७५५
मुसलमान	१३७८०७	३१७४६००५
ईसाई	२५२२९५	१६१३१७७
नास्तिक	२९८७	५१२६३१६
विविध	२९०८	२६३५५

अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी स्त्रियों की भी संख्या जानना चाहें तो, उक्त धर्मवाली शिक्षितों में, वह इस प्रकार हैं—हिन्दू २३६५९; सिख २३८; जैन २०९; बौद्ध १३८३; पारसी ८३४७; मुसलमान २९४०; ईसाई ११२६४३; नास्तिक ७४; विविध १५३३ = कुल १५२०२६।

स्वास्थ्य

भारतीय पुरुषों की भाँति भारतीय स्त्रियों का स्वास्थ्य भी अत्यन्त असन्तोषप्रद है। कुछ रोग तो उनके लिए 'पेटेण्ट' ही हैं, जिन्हें आम तौर पर 'स्त्री-रोग' कहा जाता है। कौन

नहीं जानता कि प्रायः सभी स्त्रियाँ उनमें से किसी एकाध की शिकार तो अवश्य और सदैव ही बनी रहती हैं? फिर कई कुप्रथाओं तथा स्वास्थ्य-सफ़ाई के नियमों की उपेक्षा के कारण तपेदिक, मन्दाग्नि आदि महामारियाँ भी आज भारतीय नारियों की चिरसङ्गिनी नहीं बन गईं? फलतः उनकी आयुर्मर्यादा भी अत्यन्त घट गई है। अन्य देशों की स्त्रियों की आयु देखिए—

इङ्गलैण्ड	४७.८	न्यूज़ीलैण्ड	५७.३	इटली	४३.१
फ्रांस	४९.१	बेलजियम	४८.८	ईरान	४५.८
डेनमार्क	५४.७	नारवे	५४.१	स्वीडन	५२.६

इसके विपरीत हमारे भारतवर्ष में तो कुल जन-संख्या की ही आयु का सत २३ वर्ष से अधिक नहीं। फिर, स्त्रियों का तो और भी क्या ठिकाना है! पुरुषों की बनिस्बत फ़ी हज़ार २३२ स्त्रियाँ तो १५ से ३० वर्ष तक ही आयु के बीच ही अधिक मरती हैं!

सामाजिक अवस्था

इसमें सबसे पहली बात है, उनके प्रति हमारे दृष्टिकोण की। जबतक पुरुषवर्ग स्त्रियों को अपने भोग की सामग्री समझता रहेगा तबतक स्त्रियों की उन्नति तो दूर की बात

है, उसकी अपनी स्थिति सुधरना भी असम्भव है। इस सम्बन्ध के ठीक होते ही हमारे सारे व्यवहार में कायापलट हो जायगी। स्त्री पुरुष का सच्चा मित्र है। श्रद्धा और धर्म की तिजोरी है। कुलाचार की सुदक्ष रक्षिका है। भावी नागरिकों का निर्माण करने वाली देवी है। वह उतनी ही आदरणीय है, जितना कि एक अभिन्न-हृदय संस्कारवान् मित्र। बल्कि, हम तो यह भी कहेंगे कि, स्त्री के प्रति कुछ अधिक दाक्षिण्य भी दिखाया जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि यहाँ तो ये दो हृदय एक ऐसे मृदुल पाश से बँधे हैं, जो अनिर्वचनीय है। दोनों एक दूसरे के प्रति आत्मार्पण करते हैं। एक दूसरे के सेवा-क्षेत्र को आलोकित करता रहता है। दोनों मानव-समाज की सेवा के लिए पैदा होते हैं; और सेवा के सनातन सन्देश को अपने पीछे छोड़ जाते हैं। यह है हमारे जीवन का संदेश। पर हमने उसे भुला दिया। शैतान के चक्कर में पड़ अपनी स्वाधीनता खोई और इन स्वर्गीय आत्माओं को भी इस घोरतर नरक की यातनाओं में ढकेला।

What man has made of man!

पर वे हमारी सच्ची सहधर्मचारिणियाँ हैं। इस घोर नरक में भी उन्होंने हमारा साथ दिया। सच्ची सहधर्मचारिणी?

कैसे ? गुलामी मनुष्य का धर्म नहीं, अधर्म है। यदि भारत की नारियाँ सच्ची सहधर्मचारिणियाँ होतीं, तो वे हमसे इस अधर्म में असहयोग करके अपनेको दबा लेतीं और हमें भी उबार लेतीं।

परन्तु 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की पुकार मचाने वाला पुरुष-समाज किस मुँह से यह कह सकता है ?

जो हो; अब तो स्त्री और पुरुष दोनों सचेत हो गये हैं और दोनों नवयुग के स्वागत की तैयारी में लग गये हैं।

परन्तु उनके सामने विशाल काम है। स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक व्यवहार का दृष्टिकोण बदलने के बाद, सबसे बड़ी ज़रूरत है वैवाहिक कुरीतियाँ मिटाने की। बाल-विवाह कितनी ही स्त्रियों और पुरुषों के भी जीवन को मटियामेट कर रहा है। बेमेल विवाह दूसरी बुराई है। विधवाओं का विवाह भी एक धर्म्यविधि है। परदे की समस्या भी है ही। अशिक्षा और उससे उद्भूत अन्य अनेक अन्धविश्वासों एवं अन्ध-परम्पराओं से मुक्त कर अपनेको आधुनिक वातावरण के उपयुक्त बनाना भी स्त्रियों के लिए आवश्यक है। वेश्यावृत्ति भारतीय स्त्री-समाज का कलङ्क है। शिशु-विज्ञान, स्वास्थ्य-सफ़ाई, नीति-सदाचार आदि के प्रारम्भिक नियमों की ज्ञान-

प्राप्ति और समाज में अपने उपयुक्त स्थान प्राप्त करना आदि की भी उन्हें पूर्त्ति करनी है। फिर आधुनिक सभ्यता के फलस्वरूप कोमल बच्चों और स्त्रियों से कठिन परिश्रम लेने आदि की जो समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं, उनका भी मुकाबला करना अत्यन्त आवश्यक है। और अन्त में, यद्यपि यहीं उनकी समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता—छोटी-मोटी और भी कई समस्यायें रह ही जाती हैं, स्त्रियों को आधुनिक युग की लहर स्त्री-स्वातंत्र्य में भी तो उप · योगदान करना है। नारी-मताधिकार का आजकल जो ज़ोरदार आन्दोलन चल रहा है, उससे भारतीय महिलायें क्या अछूती रह सकती हैं? साथ ही इसके उन्हें अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भी, जो कि कम से कम इस समय किसी भी स्वाभिमानी देश की नारियों के लिए कलङ्क-रूप है, अवश्य ध्यान देना होगा।

विविध

यह सचमुच भारत के लिए गौरव का विषय है कि उसकी पुत्रियाँ बुद्धि-सम्पत्ति में संसार के किसी देश की स्त्रियों से पीछे नहीं हैं। हाँ, शिक्षा का प्रसार यहाँ ज़रूर कम है। पर इसका दोष केवल उन्हें कदापि नहीं दिया जा सकता। हाँ, वर्तमान परिस्थिति में उस त्रुटि को दूर करने की ज़िम्मे-

दारी ज़रूर उनपर है। इस काम में उनकी सहायता करना पुरुषों का भी धर्म है। हर्ष है कि सभी विचारवान् पुरुष अब इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं और कई भारतीय नारियाँ उच्चशिक्षा प्राप्त करके विश्व-ख्याति तक लाभ कर रही हैं। परन्तु हमें ज़रूरत है अच्छे संस्कार देने वाली, उनके जीवन को गौरवमय बना देने वाली शिक्षा की। बाल-विधवा और बेमेल विवाह का अन्त करने के लिए हमें वर्षों तक अनवरत रूप से लड़ना होगा। सहवास की अवधि भी बहुत ही कम है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों ने पग तो बढ़ा दिया है, राजनैतिक मताधिकार भी कई प्रान्तों में प्राप्त हो गया है; पर सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति तो अब भी प्रायः वैसी ही है। जो थोड़ी-सी सुविधायें अबतक मिली हैं, वे स्त्रियों की बुद्धि तथा क्षमता को प्रकट करती हैं। परन्तु उनका सच्चा कल्याण तो इन इने-गिने स्थानों या सुविधाओं से नहीं, समस्त नारी-जाति की सांस्कारिक उन्नति में है। और यह तबतक नहीं हो सकता, जबतक भारत की मातायें और बहनें अपने भावी निर्माण में कटिबद्ध नहीं हो जातीं।

३

स्त्री-स्वातन्त्र्य

"स्त्रियों का प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है; क्योंकि, दोनों का एक-दूसरे पर असर पड़ता है। चाहे भूतकाल हो या भविष्य, पुरुषों की उन्नति बहुत-कुछ स्त्रियों की उन्नति पर निर्भर है। प्राचीन हिन्दू-धर्म नारियों से वास्तविक नर पैदा करने की आशा करता है······पर उन स्त्रियों से आप निश्चय ही वास्तविक नर पैदा करने की आशा नहीं कर सकते, जो कि गुलामी की जञ्जीरों से जकड़ी हुई हैं और प्रायः सभी बातों में पराश्रित हैं।···हम इसी-लिए नर नहीं हैं, क्योंकि स्त्रियाँ वास्तविक नारियाँ नहीं हैं। इसीलिए, पुरुषों से मैं कहता हूँ, तुम स्त्रियों को अपने दासत्व से पूर्णतः मुक्त होने दो। उन्हें अपने बराबर समझो।"

—लाला लाजपतराय

[१]

इस समय संसार में एक ज़बरदस्त लहर आ रही है। सुदूर पश्चिम से यह उठी है, और उत्तर-दक्षिण को व्याप्त करती हुई सुदूर पूर्व तक इसका प्रवाह पहुँच चुका है। कहने वाले इसे स्वाधीनता की लहर कहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अधीनता से बन्धन-मुक्त हो जाना चाहता है। प्रत्येक जाति दूसरी जाति की अधीनता या उच्चता को अन्तिम नमस्कार कर लेना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के दबाव को उखाड़ फेंकना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग (Sect) दूसरे वर्ग की श्रेष्ठता और आधिपत्य के दावे को नेस्तनाबूद कर देने का इच्छुक है। न्याय, स्वतन्त्रता और समता इस लहर की सर्वतोमुखी गूँज है। मानव-समाज परस्पर न्यायपूर्वक बर्त्ताव-बर्त्तावे, अपने सदुद्देश्यों के भलीभाँति पालन में कोई किसी का परतन्त्र न रहे, और छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच का कोई अस्वाभाविक भेदभाव उसमें न रहे। संक्षेप में, यही इस लहर का सन्देश है।

इसी दिव्य सन्देश से प्रेरित होकर आज तक संसार में कई राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियाँ हो गईं। न-जाने कितनों के रुधिर की आहुतियाँ इसकी भेंट चढ़ गईं। कितने निराशों ने इससे आशा का अमर सन्देश पाया। और कितने ही जन्म के पीड़ित, दलित और पतित इसके पुण्यस्पर्श से उद्धार पा गये। राष्ट्रों ने जहाँ इससे अन्य राष्ट्रों से बंधन-मुक्त होने का पुनीत उत्साह पाया तहाँ, अन्यों के साथ, स्त्रियों ने भी यह निश्चय किया कि हम भी अब—मात्र स्त्री होने के कारण—किसीके दबाव में नहीं रहेंगी। अपनी लुप्त शक्ति का उन्हें भान हुआ, सपुप्त स्वाभिमान सहसा जागृत हो उठा, और पुरुषों के अनौचित्य के विरुद्ध उन्होंने 'जहाद' की आवाज़ उठा दी। उन्होंने कह दिया, कोई पुरुष होने के ही कारण अब हमपर प्रभुत्व न कर सकेगा। इसीका नाम है उनका स्वातन्त्र्य-भान; और, आगे चल कर, यही स्त्री-स्वातन्त्र्य के नाम से प्रचलित हुआ।

प्रतिक्रिया एक स्वाभाविक नियम है। पुरुष-जाति ने सचमुच स्त्रियों पर बड़ा जुल्म किया। उन्हें न केवल अपनी दासी बनाया; बल्कि, अपने स्वार्थों की सिद्धि के अर्थ, उन्हें शिक्षादि जीवनोत्कर्ष एवं स्वावलम्बन के साधनों से भी

वंचित कर मात्र 'घर-धन्धे वाली' और 'पुत्रोत्पत्ति की मशीन' बना डाला। नतीजा यह हुआ कि स्त्रियाँ जब चेतीं तो ऐसी चौंक के साथ कि छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीने लगीं। पुरुषों के कुव्यवहार ने उनके इस विश्वास को ठेस पहुँचा दी कि अपने हितों की रक्षा के लिए वे पुरुषों के भरोसे निश्चिन्त रह सकती हैं। आश्चर्य नहीं, यदि कुछ के मन में पुरुष-मात्र के प्रति घृणा या द्वेष के भाव भी जड़ पकड़ गये हों। इसी-लिए न केवल अपने घरेलू और सामाजिक जीवन में उन्होंने स्वतन्त्रता की आवाज़ बुलन्द की; बल्कि राजनैतिक मताधिकार और निर्वाचनाधिकार तथा पुरुषों के समान सभी नौकरियों व धन्धों की अ-बाध्य स्वतन्त्रता की भी उन्होंने घोषणा करदी।

इसमें शक नहीं कि यह लहर सबसे पहले पश्चिम में उठी और वृद्धिंगत भी हुई उसी सभ्यता और वातावरण के पालन-पोषण में। पर पूरब में भी क्या पुरुषों ने स्त्रियों पर स्वेच्छाचार नहीं किया? और हमारे हिन्दुस्थान में ही 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' जैसी मनु की शास्त्राज्ञा होते हुए भी क्या हमारे भाइयों ने उनपर कुछ कम ज़्यादतियाँ कीं? तब हमारे यहाँ भी भला यह लहर क्यों न आती? नहीं, ऐसा सम्भव न था; और यही कारण है कि

हमारे यहाँ भी इसका न केवल प्रवेश बल्कि मूलारोप भी हो गया।

आज हमारे यहाँ भी स्त्री-स्वातन्त्र्य की पुकार ज़ोरों पर है। न केवल महिलायें बल्कि समझदार पुरुष भी इस पुकार में उनके साथ हैं। पुरानी रूढ़ियाँ और कुप्रथायें शनैःशनैः अपना रास्ता नापती जा रही हैं और नये-नये सिद्धान्त, नये-नये भाव, नयी-नयी प्रथायें, नये-नये दृष्टिकोण उनमें प्रवेश कर रहे हैं। पुरुषों का दबाव दिनोंदिन कम हो रहा है और घरेलू व सामाजिक तो क्या, राजनैतिक क्षेत्रों में भी वे पैठ रही हैं। यहाँ तक कि राजनैतिक मताधिकार और निर्वाचनाधिकार भी किसी हद तक उन्हें उपलब्ध हो गया है।

कितनी सुनहली और आशाप्रद हैं ये बातें!

[२]

स्वतन्त्रता! ओह, कितना मधुर शब्द है यह! कितना सुन्दर और प्रिय है यह शब्द! सचमुच स्वतन्त्रता ही जीवन है। डा० सण्डरलैण्ड का कथन है—"मनुष्य को स्वतन्त्रता दीजिए और फिर देखिए कि सारी अच्छाइयाँ अपने आप ही, एक के बाद एक, आती चली जायँगी।" स्त्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है, इसमें शक नहीं। परन्तु, यह

तो निश्चय होना चाहिए न, कि आख़िर उनकी स्वतन्त्रता का रूप हो क्या ? स्वतन्त्रता किससे—पुरुषों से, या उनके और अपने दुर्गुणों से ? और, फिर, वह हो किस रूप में ? यह ऐसा प्रश्न है कि स्त्री-स्वातंत्र्य के सभी, स्त्री-पुरुष, समर्थकों का ध्यान तुरन्त और सबसे पहले इसपर आकर्षित होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में वैसे तो जितने मुँह उतने ही मत हैं; पर मोटे तौर पर हम उन्हें निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अ-बाध्य स्वतंत्रता—जैसे पुरुष वैसे ही स्त्रियाँ भी भगवान् की स्वतंत्र सृष्टि हैं। जब पुरुषों को किसी बात की लगाम नहीं तो स्त्रियाँ ही क्यों किसी बन्धन में रहें? सार यह कि पुरुषों को जो-जो उचित-अनुचित अधिकार हैं वे सब ज्यों के त्यों, बिना किसी ननुनच के, स्त्रियों को भी उपलब्ध हों। पुरुष नौकरियाँ करें तो स्त्रियाँ भी कर सकें। पुरुष स्वेच्छाचारी हों तो स्त्रियाँ भी वैसा ही कर सकें। यहाँ तक कि व्यभिचार आदि की यदि पुरुषों को छूट रहे, वह क्षम्य माना जाय, तो स्त्रियाँ भी ऐसा करने पर पतित और परित्यक्त न मान ली जायँ।

(२) उचित स्वतंत्रता—स्त्रियाँ अपनी वर्तमान दशा

से ऊँची उठें और इतनी ऊँची उठें कि पुरुषों की सम-कक्ष बन जायँ। पुरुषों के माने जाने वाले क्षेत्रों में भी वे उनकी सम-कक्ष बनने का प्रयत्न करें। उनकी दासी हर्गिज़ न रहें, वास्तविक अर्द्धाङ्गिनी बनें। घरेलू और सामाजिक ही नहीं, राजनैतिक क्षेत्रों में भी वे पुरुषों का मुक़ाबला करें। मताधिकार और निर्वाचनाधिकार भी उन्हें मिले और ज़रूर मिले। ग़र्ज़ें कि उपर्युक्त, पूर्ण स्वतंत्रता वाले, सारे अधिकार स्त्रियों के लिए उपलब्ध रहें; पर सब उसी सीमा तक कि जहाँ तक वे अ-सदाचार के क्षेत्र में न पहुँचें, समाज-व्यवस्था में बाधक न हों, उच्छृंखलता का रूप धारण न करें। सार यह कि स्वतंत्रता का रूप पुरुषों के समान दर्जा और उनके गुणों की प्राप्ति हो, उनके दुर्गुणों की नक़ल और उच्छृंखलता नहीं।

(२) अल्प स्वतंत्रता—स्त्रियाँ अपनी उन्नति तो ज़रूर करें; पर पुरुषों की छत्रच्छाया न छोड़ें—रहें उनके अधीन ही। समाज में गौरव प्राप्त रहे, घरू और सामाजिक तथा औचित्य की सीमान्तर्गत राजकीय क्षेत्रों तक में वे बहिष्कृत न मानी जायँ; पर पति के तो सदा ही अधीन रहें। अर्थोपार्जन के धन्धों से उन्हें वास्ता नहीं; बस, ख़ुश रहें अपने चौके-चूल्हे आदि के धन्धों में। पुरुष औचित्य की सीमा का

भंग न करें तो अच्छा, कर डालें तो भी चल जाय, पर स्त्री तपा सोना रहे।

ये तो स्वातंत्र्य-वादियों के मत हुए, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों का समावेश है। इसके अलावा कुछ नर-नारी स्वतंत्रता के विरुद्ध भी हैं—इतने विरुद्ध कि यह कल्पना ही उनके लिए पतनोन्मुखी है। उनके लिए स्त्री की परतंत्रता पत्थर की अमिट लकीर है, और उसपर आक्षेप करना भी महापातक। इसके विपरीत कुछ ऐसे उग्र कि पुरुषों की ज़्यादती के प्रतिक्रिया-रूप में स्त्रियों को पुरुषों का मालिक बना देने पर कटिबद्ध। जापान राज्यान्तर्गत मार्शल टापू की नाईं वे चाहते हैं कि यहाँ भी स्त्रियाँ तो पुरुषों के काम करने लगें और पुरुष स्त्रियों के—सिवा उस एक स्वाभाविक कर्म के, जो कि ईश्वर ने ही भिन्न-भिन्न कर दिया है। कुछ विनोदी जीव तलाक और कोर्टशिप के उदाहरण पेश कर अमेरिका में कहीं प्रचलित एक विचित्र—झाड़ू से पति की पूजा करने की—प्रथा के प्रचलन का भी समर्थन करते हैं।

मतलब यह कि सभी 'अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग' अलापते हैं। कोई सर्वसम्मत निर्णय इस सम्बन्ध

में अभीतक नहीं हुआ है। अतः क्या यह ठीक न होगा कि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विचार तैयार किया जाय?

[२]

इसमें शक नहीं कि पश्चिम में यह स्वतंत्रता अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर गई है। स्वतंत्रता और अधिकारों की पुकार में पाश्चात्य नारियों ने मनुष्यगत गुणों को कहाँ तक अपनाया, यह तो निश्चित नहीं; पर पुरुषों के दुर्गुणों की तो उन्होंने ख़ूब ही नक़ल की है। एक अंग्रेज़ लेखक (Hoarce Newten) ने तो हाल में स्पष्ट लिखा है— Indeed, the only use that the women have made of their freedom is to immitate men in their petty vices, the vices that were so freely condemned by the suffragettes. सच तो यह है कि उनकी स्वतंत्रता एक अति को पहुँच गई है। वस्तुतः अब वह स्वतंत्रता नहीं रही, स्वतंत्रता के स्थान पर उच्छृंखलता ने प्रवेश कर लिया है।

अब वे क्या नहीं करतीं? सभी क्षेत्रों में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर थोड़ा-बहुत योगदान तो उन्होंने शुरू कर ही दिया है। यहाँ तक कि पुरुष जहाँ आज दिनोंदिन मद्य-

निषेधक होते जा रहे हैं, तहाँ वे दिन-दिन शराबिन बनने में प्रगति कर रही हैं। जिस नस्य-सेवन और धूम्र-पान के लिए बेचारे पुरुषों की खूब तीव्र निन्दा की जाती थी, उसीमें आज वे पुरुषों से भी बाज़ी ले जाना चाहती हैं। दुःसाहस-पूर्ण (Daring) घटनाओं से परिपूर्ण नाटक-उपन्यासों की अधिकांश खपत उन्हींमें होती है और नाटक-घर भी प्रायः उन्हींसे भरे रहते हैं। नित-नये वेशों और शृंगारों का आविष्कार और उपयोग सर्व-सामान्य बात है। फिर समव्यस्क पुरुषों से ख़ास तौर पर प्रेम-सम्बन्धी और काम-विषयक बातों में तो वे और भी अधिक रस लेती हैं। सार यह कि स्वतंत्रता को उन्होंने आत्मोत्कर्ष या आत्म-सुधार का साधन नहीं वरन् पुरुषों की नक़ल और दूसरे शब्दों में कहें तो अ-मर्याद भोग का साधन बनाया है। हमारा आर्य-आदर्श इससे मेल नहीं खाता; हमारे यहाँ तो भोग नहीं, त्याग वा संयम को श्रेष्ठ माना गया है।

पर इसके विपरीत हमारे यहाँ दूसरी अति है। हमारे यहाँ न केवल उपर्युक्त सभी अधिकार—अ-बाध्य स्वतंत्रता—अभी स्त्रियों के हस्तगत नहीं हुए हैं; बल्कि आज भी अधि-कांश स्त्रियाँ, कमसे कम मन से तो, पुरुषों के आधिपत्य से

उन्मुक्त नहीं होना चाहतीं। यह ठीक है कि दक़ियानूसी ख़यालातों का क्षेत्र अब बहुत सङ्कीर्ण हो गया है; पर विभिन्न क्षेत्रों में पुरुषों का मुक़ाबला करने की महत्वाकांक्षा अभी हमारे यहाँ कम ही है। कुछ शिक्षित देवियाँ ज़रूर मताधिकार और निर्वाचनाधिकार तक पहुँची हैं; पर स्वातंत्र्य के मुख्य साधन स्वावलम्बन पर तो अभी तक उनका भी पर्याप्त ध्यान नहीं गया है। अर्थोपार्जन को तो अभी वे भी प्रायः हेय ही समझती हैं। गार्हस्थ्य-जीवन को तो ज़रूर बुरा नहीं ही समझना चाहिए; पर सदा-सर्वदा पुरुष की पददलिता दासी और सब मामलों में पुरुष सदा निर्दोष और स्त्री ही सदा दोषी रहने की भावना भी अबतक अनेकों में बद्धमूल है। पुरुषों का अन्याय-अत्याचार आज भी बहुतांश में ज्यों का त्यों जारी है। आज भी हममें से अनेक उन्हें अपनी भोग्य वस्तु—रमणी—पुत्रोत्पत्ति की मशीन-मात्र समझे और बनाये हुए हैं। संयम ने गुप्त व्यभिचार का रूप धारण कर लिया है और त्याग एवं समर्पण की भावना ने उनके सर्व सुखों और आनन्दों का ही उनसे त्याग और समर्पण करा लिया! फलतः न तो आज हमारा गार्हस्थ्य-जीवन ही पहले जैसा शान्त और सुखी रहा, और न हममें

और उनमें पहले का वह बल ही रह गया। कुप्रथायें न केवल दूर ही नहीं हुईं; बल्कि नित-नयी समस्यायें और उठती जा रही हैं। तीतर-बटेर स्थिति है। न इस पार का ठीक, न उस पार का ठिकाना!

ऐसी दशा में क्या किया जाय? और क्या हो हमारी माताओं व बहनों की स्वतंत्रता का रूप? इसमें रंच-मात्र सन्देह नहीं कि उनकी और पुरुषों की जन्म-क्रिया में कोई भेद नहीं, एक ही तरह दोनों संसार की रंग-भूमि में उतरते, पलते और अन्त में लोप होते हैं। इसलिए कोई कारण नहीं कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी क्यों न बन्धन-हीन रहें? स्वेच्छाचार और अपने कर्मों का आत्म-निर्णय यदि पुरुषों के लिए अनुचित नहीं तो स्त्रियों के लिए भी वह क्यों न उचित हो? रंग-मंच पर दोनों समान खिलाड़ी हैं और दोनों ही के साथ एक व्यवहार होना चाहिए।

ये सब बातें सुन्दर हैं और तर्क-सम्मत भी, इसमें सन्देह नहीं। पर इसके साथ ही, जैसा कि आचार्य ध्रुव ने कहा था, हमें यह भी तो न भूल जाना चाहिए कि 'स्त्रीत्व' के रूप में उनके कोई बात ऐसी भी है कि जो पुरुषों से उन्हें भिन्न बनाये हुए है। साथ ही इसके स्वतंत्रता-

परतंत्रता का विचार करते समय समाज की व्यवस्था पर भी तो लक्ष्य रखना होगा। पुरुष हो या स्त्री, स्वतंत्रता और सम्बन्धों तथा कार्यों का फ़ैसला तो उनकी विशेष परिस्थितियों का ख़याल रखते हुए इसी दृष्टि से न होगा कि समाज की व्यवस्था कैसे दृढ़ और सुन्दर रह सकती है, मनुष्य-सृष्टि कैसे सुखी और सन्तुष्ट हो सकती है, सांसारिक लक्ष्यों ही नहीं प्रत्युत् आध्यात्मिक और अपने अंतिम लक्ष्य—मोक्ष तक नर-नारी कैसे पहुँच सकते हैं ?

इन सब बातों पर विचार करने पर पश्चिम के स्त्री-स्वातंत्र्य का अंध-अनुकरण तो कम से कम हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं जँचता, और न हमारे यहाँ प्रचलित वर्त्तमान दशा पर ही सन्तोष किया जा सकता है। इन दोनों अतियों के बीच हम अपना कोई नया और श्रेष्ठ मध्य-मार्ग खोज निकालें, वही ठीक है। इसके लिए स्त्री-पुरुषों के वर्त्तमान दृष्टिकोण—ग़ुलाम-मालिक की भावना में तो अवश्य ही ज़बरदस्त परिवर्त्तन होना चाहिए। स्त्री पुरुष के अन्तर्गत तो रहे, क्योंकि बिना किसी एक वर्ग के दूसरे वर्ग के अन्तर्गत रहे उच्छृंखलता फैलने का भय है, पर उसकी दासी होकर नहीं—उसकी अर्द्धांङ्गिनी बनकर रहे। हाँ, अर्थो-

पार्जन की योग्यता उसमें ज़रूर आनी चाहिए; यह उसमें आई नहीं कि फिर पुरुप-जाति अपने आप उसपर कोई अन्याय-अत्याचार करने का साहस नहीं कर सकेगी। स्त्री-जाति पर पुरुप जो अन्याय करते हैं उसका एक ज़बरदस्त कारण उनकी स्वयं अर्थोपार्जन करने की उपयुक्तता और स्त्रियों का उससे हीन होना भी है। यह ठीक है कि यह क्रम जब आरम्भ हुआ होगा उस समय समाज-व्यवस्था के सुचारुत्व के लिए ही ऐसा किया गया होगा, और यह भी ग़लत नहीं कि स्त्रियों का काम भी पुरुषों के काम से कम महत्वपूर्ण नहीं, परन्तु सांसारिक दृष्टिकोण में अर्थोपार्जन की ही प्रधानता है; और इसलिए पुरुषों के अनुचित दबाव से बचने के लिए स्त्रियों में यह योग्यता भी आनी ही चाहिए—फिर चाहे वे उसका उपयोग न करें और आड़े वक़्त के लिए ही उसे सुरक्षित रक्खें। संयम बड़ी अच्छी चीज़ है, स्त्रियों को भूल कर भी इसका परित्याग न करना चाहिए; पर यह भी उनके स्वावलम्बन—अर्थोपार्जन—की योग्यता पर ही बहुत कुछ निर्भर करता है। नहीं तो, कौन नहीं जानता कि अनेक बहनों को असहायावस्था में पड़ जाने पर संयम की इच्छा होने पर भी, अर्थोपार्जन की

असमर्थतावश, अ-संयम का आश्रय लेने पर बाध्य होना पड़ता है? पुरुषों के समान अ-बाध्यता भी सभी क्षेत्रों में उन्हें मिले—पर उसी हद तक, जहाँ तक कि उससे सदाचार के नियमों का भंग न होता हो और उनमें उच्छृंखलता उत्पन्न होकर समाज-व्यवस्था को कोई हानि न पहुँचती हो। इस विषय में स्त्रियों का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि वे पुरुषों के दुर्गुणों को नहीं, सद्गुणों को अपनावें।

हाँ, एक भय है। स्वतंत्रता की वर्त्तमान भावना इसके कहाँ तक उपयुक्त है, यह प्रश्न है। स्वतंत्रता तो अच्छी; पर पश्चिम के अनुकरण से इसके लिए अधिकारों की जो पुकार उठाई जाती है, वह हमारी समझ में ठीक नहीं। अधिकारों की भूख तो उच्छृंखलता की प्रेरक है; उसका कहीं अंत नहीं, और न सीमा ही है। आर्य-आदर्शानुसार तो वास्तविक स्वतंत्रता स्व-कर्त्तव्यों के पालन में है। गीता के उपदेश का यही सार है। यही ठीक है। इसकी सीमा भी है; और यही विधायक और श्रेयस्कर भी है। अतएव भारतीय स्त्रियाँ अधिकारों की पुकार के बजाय कर्त्तव्यों के पालन की महत्वाकांक्षा रक्खें तभी उन्हें वास्तविक स्वतंत्रता का सुख मिलेगा, उनका गार्हस्थ्य-जीवन सुखमय होगा, और

हमारी समाज-व्यवस्था सुचारु एवं सुदृढ़ होगी।

पर, ये तो हुईं बड़ी-बड़ी बातें। इनकी पूर्ति में तो काफ़ी समय और प्रयत्न अपेक्षित है। निम्न छोटी-मोटी बातों पर तो हमें तुरन्त और शीघ्र निश्चय करना चाहिए—

बाल्य और बेमेल विवाह एकदम और बिलकुल रोका जाय।

विधवा-विवाह को आदर्श चाहे न बनाया जाय; पर जो विधवा वैधव्य के बजाय गार्हस्थ्य की आकांक्षा रक्खे, उसको विवाह करने की पूरी और अपमान-रहित छूट दी जाय।

विधवाओं को अमङ्गल-रूप न माना जाय।

जाति-बन्धन की मर्यादा तोड़ना आदर्श नहीं, पर अपमान की बात न रहे।

वर्ण-सङ्कर बालकों के दोष का दण्ड बालकों के बजाय उन्हें उत्पन्न करने वालों को दिया जाय।

सास-ननदों के झगड़े आदि गार्हस्थ्य अशान्ति की बातों का सुशिक्षा एवं प्रेम के द्वारा निवारण किया जाय।

गार्हस्थ्य, आर्थिक और पारमार्थिक लक्ष्यों की सिद्धि की दृष्टि से—सम्पूर्ण बनने के लिए—शिक्षा का उचित और पूर्ण प्रबन्ध किया जाय।

परदे आदि प्रथाओं का संशोधन हो। लज्जा ज़रूर

प्रधान गुण रहे, पर विकृत रूप में और दिखावटी नहीं।
क़ानून आदि में जो अपमानपूर्ण विधान हैं, उनका संशोधन किया जाय।
मताधिकार की छूट रहे।
देवदासी जैसी प्रथाओं का उन्मूलन किया जाय।
दिखावटी धार्मिकता के बजाय वास्तविक धार्मिकता—शुद्ध-सात्विक प्रेम और सेवा के भावों का प्रसार हो।
बाल-पालन आदि की उत्तम और व्यावहारिक शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाय।
पुरुषों पर निर्भरता दिन-दिन कम कर स्वावलम्बन की वृत्ति का दिन-दिन ग्रहण किया जाय।
मजूर स्त्रियों की सुविधाओं की व्यवस्था की जाय।
क्षुद्र स्वार्थ नहीं, मानव-हित हमारा लक्ष्य हो।
इन बातों पर ध्यान दिया गया तो कौन कह सकता है कि भारतीय स्त्रियों की दशा आज से कहीं अच्छी न हो जायगी? फिर किसकी ताक़त जो उनका अपमान तो दूर, उनकी तरफ़ आँख उठा कर भी देख सके?

४

प्रकाश की ओर

"विवाह और उससे उत्पन्न जिम्मेदारियाँ स्त्रियों का सर्वोच्च कार्य है। जैसा कि एक अवसर पर मेरे मित्र बा० भगवानदास ने कहा, 'स्त्रियों की बहु-संख्या स्वभावतः अविवाहित कुमारियाँ बनने के बजाय घर की लक्ष्मियाँ, सरस्वतियाँ और अन्नपूर्णायें बनने के अधिक उपयुक्त है, जहाँ उनकी उपस्थिति ही घर के लोगों के जीवन में प्रसन्नता और शक्ति लाती और अपने कार्यों को सफलता-पूर्वक करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करती है।' यह ठीक ही कहा गया है कि 'मातृत्व सारी पुरोहिताइयों में सर्वोत्तम है'।"

—आचार्य ध्रुव

[१]

विवाह

विवाह क्या है ? जीवन का एक स्वाभाविक नियम, संयम और साधना । दो-चार दिन गा-बजाकर, हा-हू करके, लीक पीटकर, प्रचलित रस्मों को अदा कर देना विवाह थोड़े ही है; ये तो ऊपरी बातें हैं—लोकाचार है । विवाह तो, वस्तुतः, दो आत्माओं के—पुरुष और स्त्री के—परस्पर आकर्षणों का एकीकरण है, दो अर्द्धांगों का समीकरण है, और है उनकी अपूर्णताओं का परस्पर-पूरण । शरीररूपी मन्दिर में बैठी हुई दो आत्मायें जब एक-दूसरे का आह्वान करती हैं, तब विवाह दौड़कर उन्हें मिला देता है ।

यह ठीक है कि 'विवाह एक विचित्र प्रथा है । इसके होते ही अपने बेगाने और ग़ैर अपने हो जाते हैं । दूसरों की मुहब्बत अपनों से अधिक हो जाती है और विवाह अगर सुखमय सिद्ध हुआ है, तो दूसरों के लिए कभी-कभी

अपने सुख ताक पर रख दिये जाये हैं।'* परन्तु, 'और जो चाहे हो, यह सत्य है कि संसार-यात्रा के लिए मानव-मस्तिष्क ने विवाह की प्रथा-रूपी नौका का निर्माण किया है। पति और पत्नी यात्री हैं और नैया के नाविक भी।' 'संसार एक समुद्र है। संसार-यात्रा सुख-मय हो, सत्य-नारायण के व्रत के समान थोड़े-से-थोड़े परिश्रम और कष्ट में अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसके लिए मानव-समाज के मस्तिष्क ने विवाह-सी प्रथा को जन्म दिया है।'†

विवाह का एक उद्देश्य आनन्द कहा गया है—न केवल शारीरिक अपितु आध्यात्मिक भी।‡ विवाह उत्थानकारक भी है। यह हमें नीचे से ऊपर उठाता है, पतित न होने देकर पावन बनाता है, अनुदार से उदार बनाता है, स्वार्थ

---

* सोहागरात; पृष्ठ २।

† वही; पृष्ठ ६–७।

‡ वेदमन्त्रों का हवाला देते हुए स्व० लाला लाजपतराय ने अपनी 'दुखी भारत' पुस्तक में लिखा है—"ये मन्त्र एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें × × विवाह का उद्देश्य यह होता था कि विवाह करनेवालों को एक-दूसरे से आनन्द प्राप्त हो, सन्तानोत्पत्ति हो, देवताओं की सेवा और सब प्रकार की सम्पत्ति का उपार्जन किया जाय।" (पृष्ठ १७८)

से परमार्थ पर ले जाता है, इकाई के संकुचित दायरे से निकालकर विश्व-प्रेम के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर करता है, द्वैत से अद्वैत पर ले जाता है, संक्षिप्ततः क्षुद्र से हमें महान् बनाता है। संसार में संसार-यात्रा को सफल बनाने के लिए यह हमें दूसरों के भावों को समझने के उपयुक्त बनाता है, दूसरों को सुखी करके उनकी प्रसन्नता में सुखी होना सिखाता है, और सिखाता है दूसरों के हित त्याग करने की भावना। महामना एण्डरूज़ का तो कहना है कि "भारतवर्ष में विवाह त्याग की एक धार्मिक विधि ही बन गया है।" ॐ वह लिखते हैं—"भारतवर्ष की महानता का सच्चा रहस्य तो हमें कुटुम्ब के अन्दर ही मिलता है, जहाँ कि हम आध्यात्मिक भाव का सबसे ज़्यादा असर पाते हैं। उनका जीवनादर्श कैसा ऊँचा है! उसमें तो पद-पद पर धर्म का साक्षात्कार होता है। एक ओर पुरुष मातृशक्ति के रूप में स्त्री की पूजा करता है, दूसरी ओर स्त्री का आदर्श वह अनुपम पातिव्रत-धर्म है। ये दोनों भारतीय स्त्री-पुरुषों को एक कोमलतम अदृष्ट स्नेह-सूत्र में बाँध देते हैं।"† यही

ॐ विश्वभारती; जनवरी, १९२५।

† वही; ,, ।

नहीं, विवाह हमें प्रकृति-माता के निकट पहुँचाता और मितव्ययी भी बनाता है। ‡ "अब भी भारत में यह

---

‡ 'सोहागरात' के लेखक पं० कृष्णकान्त मालवीय जीवन को सुखमय बनाने के सम्बन्ध में कहते हैं—"पति और पत्नी को अधिकतर प्रकृति के निकट होने की चेष्टा करनी चाहिए। उनको अधिकतर प्रकृति की सहायता पर ही निर्भर रहना चाहिए और यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि सीधा-सादा प्राकृतिक किन्तु आध्यात्मिक जीवन (Plain living और high thinking) सदा हितकर सिद्ध होगा।" (सोहागरात; मेरा निवेदन, पृष्ठ ११)। और 'कमिंग रिनेसां' के लेखक श्री वर्मा के लेखानुसार हमारे यहाँ विवाह इसकी पूर्ति करता है। वह लिखते हैं—"पूर्वीय परम्पराओं के अनुसार विवाहित जीवन स्त्री को त्याग की प्रेरणा करता है। उसकी प्रेरणा है कि × × विवाहोपरान्त स्त्री का ख़ास काम यह होगा कि वह जीवन को यथाशक्य प्रकृति के अनुकूल बनावे और खान-पान तथा पहनने-ओढ़ने की चीज़ों का सदुपयोग सीखे, साथ ही उसमें उत्तरोत्तर सुधार का भी प्रयत्न करे। कारण कि प्राकृतिक जीवन ही शारीरिक और नैतिक दृष्टि से हमारे लिए अत्यन्त हितकर है; जितने भी हम प्राकृतिक जीवन की ओर अग्रसर होंगे, हम सादगी और मितव्ययता की ओर बढ़ेंगे और तब हम देखेंगे कि 'बचत ही कमाई' है।"

(कमिंग रिनेसां; पृष्ठ १२७-२८)

लोकोक्ति है कि विवाहित जीवन-यापन करने की अपेक्षा कुँआरेपन का जीवन ज़्यादा ख़र्चीला होता है। यह बात पश्चिम की स्थितियों के सर्वथा विपरीत है। हिन्दू स्त्री को लक्ष्मी, सरस्वती और अन्नपूर्णा कहा जाता है, सचमुच, उसका यही कारण है।" * डा० राधाकमल मुकर्जी के लेखानुसार, "भारतवर्ष में वन-रानी और गृह-स्वामिनी के रूप में कार्य-संचालन और उनके फलों के उपभोग का जो कार्य स्त्री करती है, वह सभ्यता का निर्माण और पोषण करता है। पत्नी और सहधर्मिणी के रूप में वह सभ्यता को मधुर, सुन्दर और आनन्दप्रद बनाती है; और जाति की माता के रूप में सुन्दरतर फलों को वह प्रदान करती है; बच्चे के रूप में और उसके द्वारा वह मानवता के लिए अपने-आपको बलिदान कर देती है।" †

सचमुच विवाह परस्पर के आदान-प्रदान का सुन्दर और सर्वोच्च उदाहरण है ‡—ऐसा शुभ्र, ऐसा पवित्र, ऐसा

---

* कमिंग रिनेसां; पृष्ठ १३२।

† 'कमिंग रिनेसां' में उद्धृत।

‡ इंग्लैण्ड के क़ानून के अनुसार, 'विवाह का अर्थ है, एक पुरुष और एक स्त्री का दूसरों से स्वतन्त्र स्वेच्छया आजीवन-

उत्साहप्रद, जो न जाने कबसे संसार को और उसकी सारी अच्छाइयों को क़ायम रखता चला आ रहा है! विवाह न होता तो, कौन जानता है, आज हम भी पशुओं की भाँति संयम-हीन और परस्पर की सहानुभूति-सद्भावनाओं से शून्य अथवा उनके प्रति उदासीन न होते? अस्तु।

विवाह जीवन का सर्वोच्च आदर्श चाहे न हो, परन्तु विवाहित स्थिति जीवन का स्वाभाविक नियम है—इसमें सन्देह नहीं। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि सृष्टि-कर्ता ब्रह्म ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया। एक भाग पुरुष बन गया और दूसरा स्त्री। इसलिए विभक्त पुरुष और स्त्री एक पूर्ण पुरुष तभी बनते हैं, जब दोनों पारस्परिक विवाह-संबंध से फिर एक में मिल जायँ। और, इस प्रकार, एक पूर्ण पुरुष बनने पर ही वे धार्मिक कृत्यों का सफलता-पूर्वक सम्पादन कर सकते हैं। समाज-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् बा० भगवानदास के मतानुसार, हमारे यहाँ, कतिपय

सम्बन्ध।' इसलिए, क़ानून की दृष्टि में, यह एक 'सिविल कण्ट्राक्ट' है; परन्तु धार्मिक होने के कारण दूसरे समझौतों (Contracts) से इसमें भिन्नता है।

('न्यू एज साइक्लोपीडिया; जिल्द ७, पृ० ८५।)

अवस्थाओं में स्त्री को प्रधानता दी गई है और कतिपय अवस्थाओं में पुरुष को। दोनों समान-रूप से महत्वपूर्ण, अनिवार्य और अभिन्न हैं। दोनों में कुछ ऐसी मानसिक और शारीरिक विशेषतायें हैं कि वे परस्पर एक-दूसरे की कमी को पूरा करती हैं। प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन में दोनों विद्यमान रहते हैं; परन्तु कतिपय अवसरों पर एक अपने स्वरूप में और दूसरा अपने विशेष और समुन्नत स्वरूप में प्रकट होता है। 'विष्णु-पुराण' में बड़ी सुन्दरता के साथ कहा गया है—

"पुरुष विष्णु है, स्त्री लक्ष्मी। पुरुष विचार है, स्त्री भाषा। पुरुष धर्म है, स्त्री बुद्धि। पुरुष तर्क है, स्त्री भावना। पुरुष अधिकार है, स्त्री कर्तव्य। पुरुष रचयिता है, स्त्री रचना। पुरुष धैर्य है, स्त्री शान्ति। पुरुष हठ है, स्त्री इच्छा। पुरुष दया , स्त्री दान। पुरुष मंत्र है, स्त्री उच्चारण। पुरुष अग्नि है, स्त्री ईंधन। पुरुष सूर्य है, स्त्री आभा। पुरुष विस्तार है, स्त्री सीमा। पुरुष आँधी है, स्त्री गति। पुरुष समुद्र है, स्त्री किनारा। पुरुष धनी है, स्त्री धन। पुरुष युद्ध है, स्त्री शक्ति। पुरुष दीपक है, स्त्री प्रकाश। पुरुष दिन है, स्त्री रात्रि। पुरुष वृक्ष है , स्त्री फल। पुरुष संगीत

है, स्त्री स्वर। पुरुष न्याय है, स्त्री सत्य। पुरुष सागर है, स्त्री नदी। पुरुष स्तम्भ है, स्त्री पताका। पुरुष शक्ति है, स्त्री सौंदर्य। पुरुष आत्मा है, स्त्री शरीर।" *

पश्चिम में महाकवि मिल्टन ने गाया है—

"For contemplation he and valour formed
For softness she and sweet attractive grace
He for God only, she for God in him."

और सुप्रसिद्ध विचारक रस्किन ने दाद दी है—"The one completes the other."

सृष्टि की सारी रचना में हमें यही बात मिलती है। पाँच तत्त्वों से मिलकर सृष्टि की रचना हुई है; प्रत्येक प्राणी पाँच तत्त्वों का सम्मिश्रण है। नर-आयण = नारायण है। पुरुष और प्रकृति का सामञ्जस्य ही तो भगवान् है। राधा-कृष्ण की युगलमूर्त्ति में हमें यह बात बड़ी अच्छी तरह दृष्टि-गोचर होती है। राधा प्रकृति है, और कृष्ण पुरुष; यही दोनों—राधा-कृष्ण—मिलकर पूर्ण पुरुष—भगवान् हो जाते हैं। अकेले कृष्ण भगवान् नहीं, न अकेली राधा; दोनों का

* 'दुखी भारत' से।

सम्मिलन—राधा-कृष्ण—ही भगवत् स्वरूप है। लक्ष्मी के बिना लक्ष्मी-कान्त कहाँ? विवाह में, पुरुष और स्त्री के रूप में, तेज और बुद्धि का सम्मिलन है, शरीर और आत्मा का सम्मिलन है, वीर्य और रज का सम्मिलन है। यही जीवन की पूर्णता है। राधा-कृष्ण को देखिए। कृष्ण श्याम हैं, तो राधा गौरवर्ण। कृष्ण पीले वस्त्र पहने हैं, तो राधा नीले पहने हुए। कृष्ण नटखट हैं, तो राधा भोली-भाली। दोनों का संयोग ही पूर्णता है; और उसीका नाम है विवाह!

यही कारण है, हम देखते हैं, दुनिया में विवाहितों से अविवाहित ज़्यादा मरते हैं। कुछ अंक देखिए—

आयु (वर्ष)	मृत्यु-संख्या (प्रति हज़ार का)	
	विवाहित	अविवाहित
२०-२५	६.२६	१२.२१
२५-३०	८.२३	१४.१४
३०-३५	८.६५	१५.१४
३५-४०	११.६७	१६.०२

४०-४५	१४.०७	१८.३५
४५-५०	१७.०४	२१.१८
५०-५५	१९.५४	२५.३४
५५-६०	२६.१४	२८.५४
६०-६५	३५.६३	४४.५४
६५-७०	५२.९३	६०.२१
७०-७५	८१.५६	१०२.७१
७५-८०	११७.८५	१४३.९४
८०-८५	१७३.८८	१९५.४०

ये अंक स्काटलैण्ड के हैं। इन्हें देते हुए, वहाँ के रजिस्ट्रार-जनरल ने कहा था, "संसार के अत्यन्त अपवित्र धन्धों से भी दीर्घायु के लिए कुँआरापन कहीं ज़्यादा नाशक है।" क्रिस्तोफरवॉन रूफ़लैण्ढ ने तो (अपनी The Art of Prolonging life पुस्तक में) यहाँ तक कहा है कि "किसी कुँआरे के दीर्घायु प्राप्त करने का कोई एक उदाहरण भी नहीं है।" उसने तो अपनी जाँच के फल-स्वरूप यह भी कह डाला है कि "जिन लोगों ने बड़ी उम्र पाई वे सब एक से अधिक बार ब्याहे थे।" और पुरुष-स्त्री दोनों ही पर उसने इसे लागू किया है।

प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी हर्बर्ट स्पेंसर ने इसपर से यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रायः जो बलवान् और उपयुक्त हैं उनके तो विवाह हो ही जाते हैं, कुँआरापन इससे विपरीत व्यक्तियों के ही ऊपर आता है; और उस दशा में विवाहितों से उनका ज़्यादा मरना स्वाभाविक ही है।

[२]

विवाह का क्रम-विकास

विवाह का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, इसकी कथा बहुत पुरानी है। कहते हैं, सृष्टि आदि में विवाह की प्रथा न थी। पुरुष-स्त्री वैसे ही रहते थे, जैसे कि प्रकृति ने उन्हें सृजा था। उस समय न कपड़ों का रिवाज था, न लाज-शरम; न आज के से गगनचुम्बी भवन थे, न खान-पान की नज़ाकत; शिष्टाचार की नियमितताओं का तो ज़िक्र ही क्या! बाइबल की बात मानें तो, आदम के फल खाने से पहले तक पुरुष-स्त्री किसी विकार को क्या, यह तक न समझते थे कि हममें परस्पर कोई भेद, छिपाव या शर्म की भी बात है! विकासवाद के सिद्धान्त पर चलें तो, हमें मानना चाहिए कि, उस समय के लोगों में सभ्यता का प्रादुर्भाव

न हुआ था और वे जंगली दशा में थे। आख़िर उनमें सभ्यता का बीज-वपन हुआ। उन्हें अपनी नग्नता और विश्रृंखलता का भान ही नहीं हुआ, उनमें सकुचाहट का भाव भी जागृत हुआ। फलतः उन्होंने राज और राजा की नींव डाली, तथा पत्तों से—वलकलवसन-द्वारा—अपने शरीरों को ढाँपना आरम्भ किया। शुरू-शुरू में गुह्य अंगों को ढका गया; फिर क्रमशः अन्य भागों को भी। बहुत समय बाद कपड़े का आविष्कार और व्यवहार भी होही गया। सभ्यता के इस क्रम-विकास के साथ ही उनमें विभिन्न वर्गों के जमाव (Adjustment) का भी प्रयत्न हुआ। प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री के निर्बाध सहवास की पशु-प्रवृत्ति पर शुरू में चाहे ध्यान न गया हो; पर जैसे-जैसे सन्तति बढ़ती गई, 'मैं' और 'मेरा' का भाव उठे बिना न रह सका। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए कामवृत्ति के अन्धाधुन्धपन पर नियंत्रण करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। फलतः कुछ पुरुषों के कुछ स्त्रियों के साथ काम-सम्बन्ध की सीमायें निर्धारित हुईं, हालांकि आज हम उन्हें निर्दोष नहीं मान सकते। यह विवाह का प्रथम रूप था।

'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सदा ही प्राबल्य रहा

है। स्त्री चूँकि पुरुष से कमज़ोर है,* इसलिए पुरुष का उसपर अपनी सत्ता जमाना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि शुरू-शुरू में विवाह प्रायः ज़ोर-ज़बरदस्ती से होते थे। कुछ व्यक्ति अपना एक दल बना लेते थे और फिर उसकी कामवासना-पूर्ति के लिए कहीं-न-कहीं से कुछ स्त्रियों को लाते थे। स्त्रियाँ प्रायः दो तरह से लाई जाती थीं— ऐसे ही दूसरे दल या व्यक्ति को धन देकर, अथवा लड़ाई या आक्रमण-द्वारा विजय प्राप्त करके। इन्हें दलगत-विवाह (Clan marriage) कहा जाता था और इसमें उस दल (Clan) की स्त्रियाँ उस दल के सभी पुरुषों की स्त्री समझी जाती थीं—उनके सदाचार की सीमा वहीं तक सीमित थी; हाँ, बाहर का कोई व्यक्ति उनके साथ सम्भोग न कर सकता था, जबतक कि उस दल को हराकर उन्हें जीत न ले जाता। इस सम्बन्ध से होनेवाली

---

* शारीरिक शक्ति में स्त्री स्वभावतः पुरुष की अपेक्षा कम शक्ति-सम्पन्न है, यह जीव-विज्ञान और शरीर-विज्ञान के विशेषज्ञों ने पारस्परिक तुलना द्वारा भलीभांति सिद्ध किया है। 'फ़ेमिनिज़्म' (Feminism) पुस्तक में इसका विस्तृत विवेचन है।

सन्तति के पिता दल के सब पुरुष माने जाते थे—क्योंकि, किसके औरस से सन्तति हुई, इसका पता लगना सरल न था; हाँ, जिस स्त्री के सन्तति हो माता के रूप में उसकी पहचान हो ही जाती थी। यही कारण है कि शुरू-शुरू में वंश माता के ही नाम पर चलता था। इसे मातृ-वंश (Motherkin) कहा जाता था—और, आज भी इसका बिलकुल खात्मा नहीं हो गया है। ※ इसके बाद 'पेट्रियार्ची'

※ श्री एम० एस० कामठ भारत की सन् १६०१ की मर्दुमशुमारी की अपनी आलोचना में लिखते हैं—"भारत में ऐसी कई जातियाँ हैं, जिनमें वंश और सम्पत्ति स्त्रियों के नाम पर चलती है। यह पद्धति मातृ-वंश (Motherkin) कही जाती है और यद्यपि क़ानून में स्वीकृत है, परन्तु ऐसा समझा जाता है कि यह समाज की उस आदम अवस्था की निशानी है, जब कि कामुकता और बहुपातित्व आम बातें थीं, और इसके कारण पितृत्व पर ध्यान न दिया जाता था। × × निस्सन्देह कुछ उदाहरणों को छोड़कर अब मातृ-वंश (Motherkin) की यह प्रथा सिर्फ़ कुछ जंगली और खानाबदोश जातियों में ही रह गई है, जो अपनी स्त्रियों की पवित्रता की विशेष पर्वा नहीं करते; परन्तु जहाँ ऐसी जातियाँ पहले की अपनी अर्ध-सभ्यावस्था से ऊँची उठी हैं, यह प्रथा सिर्फ़ सम्पत्ति तक ही परिमित रह गई है।" (सेन्सस आफ़

(Patriarchi) का उदय हुआ—दल-पति पुरुष (Patriarch) के नाम पर वंश चलने लगा।

परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री-पुरुषों की मनोवृत्तियों, भावनाओं और रीति-नीतियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। सभ्यता को चाहे हम 'महारोग' मानें, परन्तु उसका असर हुआ, इसमें सन्देह नहीं। कालान्तर में उन्हें इसमें लज्जा का अनुभव होने लगा। साथ ही, जैसे-जैसे सन्तति बढ़ती गई, 'मैं' और 'मेरा' की भावना भी विशद हुई। मेरा लड़का, मेरा बाप, मेरी माँ आदि के भाव ज़ोर पकड़ने लगे। महाभारत में एक कथा बताते हैं। एक कोई ऋषि थे; उनकी एक विवाहिता स्त्री थी, और एक बालक। कहते हैं, एक दिन वे लोग बैठे हुए थे; इतने में एक दूसरे ऋषि पधारे और उनकी स्त्री को बुलाकर ले गये। पुत्र को यह न रुचा। अपने पिता से उसने पूछा—'पिता! मेरी माता को वह अलग क्यों ले गये हैं?' पिता के कारण बताने पर पुत्र को बड़ी शर्म आई; उसे

इण्डिया; पृ० ६७-६८)। उन्हींके लेखानुसार, अब यह प्रथा (Motherkin) प्रायः सिर्फ़ आसाम में तथा मलाबार के किनारे ही अवशेष है। (पृ० ६८)

महसूस हुआ, यह तो बड़ी बुरी बात है। फलतः वह कटिबद्ध हुआ, इस प्रथा को मिटाने के लिए; और, आखिर, उसने एक स्त्री के एक पुरुष की पत्नी होने की प्रथा डालकर ही छोड़ी। नहीं कह सकते, यह कथा कहाँ तक सत्य है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं, 'मेरी माँ' और 'मेरा पुत्र' के भावों की वृद्धि का दल-गत-विवाह की प्रथा मिटने में ज़रूर बहुत भाग रहा होगा। 'मेरे पुत्र-पुत्री' में मातृत्व की जो ऊँची भावना आ जाती है, वह ऐसे कृत्यों के लिए शर्म को भी सृज ही देती है। अस्तु, होते-होते, एक स्त्री के एक ही पुरुष से विवाह-सम्बन्ध होने की प्रथा पड़ गई और पहली धीरे-धीरे नष्टप्राय ही हो गई। हाँ, पुरुषों के बहु-विवाह की प्रथा फिर भी जारी रही। इसका कारण क्या हो सकता है, सिवा इसके कि पुरुष, चूँकि अधिक बल-शाली है और दूसरे शरीर-रचना की दृष्टि से सन्तति की शुद्धता पर उसके कृत्यों का अपेक्षाकृत स्त्री से कम असर पड़ता है इसलिए उसने, जहाँ स्त्री के साथ बाध्यता का प्रयोग किया वहाँ अपने लिए स्वेच्छया ही ठीक समझी ? एक बात और है। विवाह की समस्या पर विचार करते हुए हम केवल सामाजिक दृष्टि ही नहीं रख सकते, आर्थिक

पहलू पर भी ध्यान देना होगा। कारण, सही या ग़लत, पुराने ज़माने से स्त्री को जो कुछ माना गया है उसमें एक भाव यह भी है कि वह सम्पत्ति है। * उसको युद्ध-द्वारा विजय करने अथवा धन-द्वारा प्राप्त करने में तो यह भाव समाविष्ट है ही, कन्या-दान की प्रथा में भी क्या यह आभास नहीं मिलता? ईसाई विवाह में पुरुष के अँगूठी प्रदान करने में तो यह भाव है ही। ऐसी हालत में पुरुषों ने जो-कुछ किया, वह चाहे ग़लत हो, उचित न हो, परन्तु एकदम अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता, विकासवाद पर चलें तो, अब वह समय आ पहुँचा है, जब मनुष्य इस बात की भी अनुचितता को महसूस करने लगे

---

* टालसटाय ने भी अपने 'स्त्री और पुरुष' ग्रन्थ में कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं—"× × पहले विवाह के ये मानी थे—पत्नी को अपनी सम्पत्ति के तौर पर प्राप्त करना। युद्ध या डाके डालकर भी स्त्री प्राप्त की जाती थी। मनुष्य ने स्त्री के विषय में किसी प्रकार का विचार नहीं किया। उसे केवल अपनी विषय-वासना को तृप्त करने का एक साधन-मात्र समझा। बादशाहों के ज़नानखाने क्या हैं? इसीके जीते-जागते उदाहरण!" (पृ० ६७)

हैं। आज की सन्तति की यह धारणा है कि जहाँ एक स्त्री के लिए कई पति रखना ठीक नहीं, वहाँ एक पुरुष के लिए कई पत्नियाँ रखना भी अनुचित और पतन-कारक है। इसीलिए आज की पुकार है—बहुपतित्व की प्रथा तो फिर शुरू न ही हो, बहुपत्नीत्व की प्रथा का भी अब अन्त हो जाना चाहिए।

यही विवाह के क्रम-विकास की संक्षिप्त कहानी है।

[३]

विवाह की आवश्यकता

विवाह की ज़रूरत ?

विवाह की आवश्यकता द्विमुखी है—भौतिक और आध्यात्मिक। दूसरे शब्दों में कहें तो, शरीर, मन, आत्मा और परमात्मा की साधना में विवाह सहायक होता है।

प्रथम तो मनुष्य-शरीर की प्राकृतिक रचना ही कुछ ऐसी है कि पुरुष-स्त्री दोनों के सम्मिलन पर ही उसमें सम्पूर्णता आती है। इस विशिष्ट शरीर-रचना का ही प्रभाव है कि दोनों वर्गों में एक-दूसरे के प्रति कुछ ऐसा रागात्मक या वैषयिक (Sexual) आकर्षण होता है कि वह एक-दूसरे को एक-दूसरे की ओर आकर्षित करता है। टाल्स-

राय के शब्दों में कहें तो, "प्रेम—वैषयिक प्रेम—एक ज़बरदस्त शक्ति है। यह दो भिन्न या असमान लिंग के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, जो सम्मिलित (विवाहित) नहीं हुए हैं। यह विवाह की ओर उन्हें ले जाता है।" ❀

दूसरे मनुष्य-जीवन एक साथी की अपेक्षा करता है। कैसा ही मनुष्य हो, संसार में एकमात्र अपने ही ऊपर वह निर्भर नहीं रह सकता। जहाँतक वैषयिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध न हो, माता किसी भी व्यक्ति की इस कमी को बड़ी अच्छी तरह पूर्ण कर सकती है—'माँ' की मधुर और स्नेहमय छत्रच्छाया से बढ़कर सुख-शान्ति-प्रद दुनिया में और है ही क्या! परन्तु एक तो माँ-बाप समवयस्क नहीं होते; दूसरे उनका पहले अवसान निश्चितप्राय होता है। बहन-भाई का सम्बन्ध भी सचमुच बड़ा प्रेमल और स्फूर्ति-दायक है; परन्तु यह भी लागू नहीं हो सकता। कारण, इन सम्बन्धों में पूर्णता नहीं; क्योंकि वैषयिक प्रवृत्ति को इनमें स्थान नहीं—और, बक़ौल ला० लाजतपराय, "कामुकता (Sex stimulus) दुनिया में ले उस समय तक दूर नहीं

❀ स्त्री और पुरुष; पृ० ८७।

हो सकती, जबतक मनुष्य मनुष्य हैं और स्त्रियाँ स्त्रियाँ हैं।" * फलतः इनके उपरान्त भी एक ऐसे साथी की आवश्यकता रह ही जाती है, जो माता-पिता-भाई-बहन के समान निःस्वार्थ और असीम स्नेह-सम्बन्ध भी रखता हो, सच्चा हितैषी भी हो, अपने हित के लिए हर तरह के त्याग और कष्ट-सहन के लिए तैयार हो, परन्तु साथ ही रागात्मक प्रवृत्ति (Sexuality) को भी वह तृप्त कर सके। विवाह के द्वारा, पति-पत्नी के रूप में, मनुष्य-समाज ने परस्पर ऐसे ही साथी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि "विवाह का उद्देश्य और अर्थ ही दो जीवों में अधिक-से-अधिक समता, तादृश्य और स्वरैक्य पैदा करना है; दो हस्तियों के तारों को मिलाना है।' † यही कारण है कि विवाह एक सामाजिक समझौता होते हुए भी अन्य दुनयावी समझौतों से भिन्न माना गया है; और इसे धार्मिकता का पुट दिया गया है। हमारे यहाँ ही नहीं, संसार की सब सभ्यताओं में इसे अटूट सम्बन्ध माना जाता है—यह दूसरी बात है कि

---

* सोहागरात की भूमिका; पृ० ६।

† सोहागरात; पृ० ९।

स्थान और परिस्थितिवश कहीं इसपर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है, कहीं कम। ‡

तीसरे इससे आनन्द की प्राप्ति होती है। मनुष्य को जब सब प्रकार से पूर्ण एक साथी मिल जाय, तब उसके आनन्द का क्या ठिकाना! दोनों अर्द्धांगों के पूर्ण सहयोग से उसमें एक अपूर्व शक्ति आती है, लोक और परलोक के सब कामों को उत्साह-पूर्वक सम्पादन करने की। यही कारण है, हम देखते हैं, गृहस्थाश्रम दूसरे तीनों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—का आश्रय-दाता और संरक्षक हो रहा है। संसार में गृहस्थ न हों, तो और आश्रमों की गुञ्जायश ही कहाँ?

चौथे एक-दूसरे के लिए निःस्वार्थ काम करने, दूसरे के लिए त्याग और कष्ट-सहन करने में जो मज़ा आता है, जो आनन्दानुभव होता है, उसकी तुलना कहाँ? इसका महत्व या तो कोई गृहस्थ जान सकता है, अथवा कोई निःस्वार्थ लोक-सेवक। विवाह हमें मानव-जीवन में इसकी प्रथम दीक्षा देता है—और, हम देखते हैं, पत्नी के रूप में स्त्री

‡ इंगलण्ड के कानून के अनुसार भी विवाह एक अटूट सम्बन्ध है। (न्यू एज साइक्लोपीडिया; जिल्द ७, पृ० ८५)

इसका मूर्त्त-रूप है। नाना कष्ट सहकर सन्तति के रूप में संसार को अपनी देन दे जाना विवाह का ही तो शुभ-फल है!

पाँचवें विवाह से हममें संयम और लगन आती है—दुनिया में कुछ कर गुज़रने का भाव आता है। विवाहित पुरुष-स्त्री जैसे अपने जीवन-संगी का पतन नहीं बर्दाश्त कर सकते, आशा की जाती है, इसी प्रकार वे अपने से भिन्न जीवन-संगियों का पतन करने में भी भागीदार न बनेंगे। यही कारण है, आज दिन भी कुँआरों से विवाहितों के चरित्र पर ज़्यादा विश्वास किया जाता है। रही कर गुज़रने की बात। सो जबतक सन्तति नहीं होती, मनुष्य प्रायः अक्खड़, स्नेहहीन और लापरवाह से रहते हैं; परन्तु विवाह-द्वारा सन्तानोत्पत्ति होते ही उन्हें यह ख़याल सताने लगता है—"हम न सही, हमारी औलाद को तो इससे फ़ायदा पहुँचेगा!" और, बस, वे उसे करने पर भिड़ जाते हैं। और, काव्य-कल्पना से काम लें तो, अपनी सन्तति भी तो मानों वे इसीलिए छोड़ जाते हैं कि हमारे अधूरे काम को हमारा यह अंश पूर्ण करे!

यही विश्व-निर्माण की भावना है। इसी भावना पर

संसार चला जा रहा है। नहीं तो किसे तो सन्तति-उत्पत्ति की पड़ी है, और कैसे बिना सन्तति के विश्व क़ायम रहने वाला है ?

यह कहा जा सकता है कि यह काम तो विवाह-बन्धन न होने पर भी हो सकता है, और पहले शायद होता भी था। इसमें कुछ सचाई भी है, और 'सदाचार कोरा ढकोसला' (Chastity is a fuss) वाली बात किसी क़दर सत्य भी प्रतीत होती है; परन्तु वैषयिक सम्बन्ध ही तो जीवन की इतिश्री नहीं न है ? यह तो एक साधन है, अपने साध्य को—सन्तानोत्पत्ति को—साधने का। फिर साध्य को ऊँचे-से-ऊँचा और विशुद्ध-अक्षुण्ण रखना भी क्या आवश्यक नहीं ? यही कारण है, शुरू में शायद इसपर बन्धन न रहा हो, आगे चल कर इसपर प्रतिबन्ध लगाना अनिवार्य प्रतीत हुआ। सन्तति की शुद्धता की दृष्टि से फिर क्रमशः उसमें प्रतिबन्ध बढ़ता ही गया। और पहले किसी समय जहाँ स्वच्छन्द सम्भोग रहा होगा, आज हम देखते हैं, बहुपतित्व ही नहीं, बहुपत्नीत्व की प्रथा भी हमें अखरने लग गई है। विवाह का एक नाम 'प्रतिबन्ध' भी शायद इसीलिए दिया गया है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव-जीवन के

आदर्शों की भी उत्क्रान्ति जारी है। किसी समय कामुकता में पड़ा हुआ मनुष्य धीरे-धीरे उससे ऊपर उठ रहा है और विवाह को कामुकता का ही नहीं, आध्यात्मिकता का साधन मान रहा है। टाल्सटाय, गाँधी जैसे महानात्मा विवाहित जीवन में भी ब्रह्मचर्य के पूर्ण पालन पर ज़ोर दे रहे हैं। हमारे हिन्दूशास्त्रों में तो पहले भी इसका ध्यान रहा है। उनमें प्रायः ज़िक्र आया है कि एकमात्र सन्तति-उत्पत्ति के लिए ही विवाहित दम्पती सहवास करें, तीन वर्ष के पहले दुबारा सहवास न हो, और कुल सात से ज्यादा सन्तति पैदा न करें। इस कार विवाह का उद्देश्य एकमात्र संसार-यात्रा ही नहीं है, बल्कि संसार-यात्रा को सफलता-पूर्वक तय करते हुए परब्रह्म-परमात्मा की प्राप्ति—जीवन-मुक्ति ही इसका वास्तविक लक्ष्य है। इसीलिए, आदर्श में चाहे ब्रह्मचर्य ऊँचा हो, व्यवहार में—साधारण मनुष्यों के लिए—विवाह एक स्वाभाविकता है और आवश्यकता है।

इसीलिए, टाल्सटाय ने भी एक जगह कह ही डाला है, "बेशक प्रत्येक चतुर व्यक्ति, जिसे अच्छी तरह जीने की इच्छा है, ज़रूर शादी करे।" ❀

❀ स्त्री और पुरुष, पृ० ७८।

[४]

विवाह की विधि

विवाह की विधि भिन्न भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न है। हमारे यहाँ, हिन्दुओं में, आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस पैशाच। याज्ञवल्क्य ने इन आठों का उल्लेख कर सिर्फ चार को करने योग्य बतलाया है। विष्णु और शंख-स्मृतियों में भी पहले चार को ही ग्राह्य बतलाया है। हारीत-स्मृति में तो केवल ब्राह्म विवाह को ही उचित कहा है।* स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने इसका सुन्दर विवेचन किया है—"इनमें से चार स्वीकार किये जाते हैं। एक क्षम्य समझा जाता है। और शेष तीन के लिए आज्ञा नहीं है, परन्तु नकी गणना विवाहों में की जाती है।"† "विवाह के स्वीकृत रूप," उनके शब्दों में, वे हैं, "जिनमें कुल-रीति के अनुसार कन्या-दान किया जाता है। क्षम्य विवाह वह है, जिसमें संरक्षक की अनुमति के विरुद्ध पारस्परिक प्रेम के द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। और

---

* 'मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति'; पृष्ठ ६७।

† दुखी भारत; पृष्ठ १८६।

जिन तीन विवाहों के लिए आज्ञा नहीं है, वे इस प्रकार हैं—(क) जिसमें पिता कन्या के लिए मूल्य माँगता और लेता है; (ख) जिसमें कन्या अपनी इच्छा के विरुद्ध हरण कर ली जाती है; (ग) जिसमें कोई पुरुष किसी ऐसी स्त्री के साथ सम्भोग करता है, जो सुप्तावस्था में होती है या किसी अन्य प्रकार से बेसुध हो जाती है। यह सबसे नीच कर्म समझा जाता था, परन्तु जब यह हो ही जाता था तब सम्बन्धी-जनों के हित के लिए नियमानुकूल मान लिया जाता था।"‡

लालाजी लिखते हैं—"आरम्भिक साहित्य में हम समस्त स्थायी (विवाह जैसे) सम्बन्धों को धर्मानुकूल समझने की उत्कण्ठा पाते हैं—चाहे वे सम्बन्ध प्रेम के कारण हों, चाहे दैवयोग से हो गये हों, चाहे अविचार द्वारा हो गये हों। इसका उद्देश्य यह था कि इस प्रकार जो सन्तति उत्पन्न हो वह धर्मानुकूल समझी जाय। यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया था कि जाति के बाहर जो विवाह होंगे उनसे उत्पन्न सन्तति की जाति वही समझी जायगी, जो पिता

‡ दुखी भारत पृष्ठ १८६।

की जाति होगी। कुमारियों के पुत्र अपने पिता के धर्मानुकूल पुत्र समझे जाते थे। और जो पुरुष अपनी स्त्री को उसके निर्दोष होने पर भी त्याग देता था, नपुंसक होता था, या क्षयी का रोगी होता था, उसकी स्त्री की दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति भी धर्मानुकूल ही समझी जाती थी।"*

इन बातों को हम उचित मानें चाहे न मानें, एक बात स्पष्ट है। हमारे यहाँ विवाह के रूप में विषय-भोग को नियंत्रित करने पर दृष्टि रही है। बन्धन-हीन मनुष्य का कोई ठिकाना नहीं। इसीलिए, हम देखते हैं, जहाँ उसमें विकार का आरम्भ हुआ नहीं कि विवाह के बन्धन में जकड़ने का प्रयत्न हुआ। अविवाहित दशा का हमारे यहाँ तभी तक समर्थन है, जबतक कि मनुष्य विकारों के वशीभूत न होने लगे—ब्रह्मचर्य का वह मनसा-वाचा-कर्मणा परिपालन करता हो। जैसे ही वह इससे च्युत हो, इन नियमों के द्वारा, वह विवाह के बन्धन में बँध जाता है। इस प्रकार, जैसी कि कइयों की धारणा है, विवाह विषय-भोग की स्वच्छ-

---

* 'दुखी भारत'; पृष्ठ १८५।

न्दता का आज्ञापत्र नहीं, विरुद्ध इसके, वह तो अपने में उद्भूत विषय-प्रवृत्ति को संयत करने का ज़ाती मुचलका (Personal Bond) है। पति और पत्नी बनने का यह तो मतलब है ही कि अब वे अपने इस मर्यादित क्षेत्र से बाहर विषय-दृष्टि का विचार भी न करेंगे; परन्तु यदि कोई इससे यह अ नकाले कि उन दोनों को अब एकमात्र वषय-भोग में ही लिप्त हो जानी चाहिए, तो वह ठीक नहीं। यह उन्हें परस्पर विषय-सम्बन्ध की अनुमति देता ज़रूर है, परन्तु विषय-भोग को आवश्यक नहीं करता। विषय-भोग के अलावा भी दुनिया में अनेक ऐसे काम हैं, जिन्हें एक-दूसरे के सहयोग से पति-पत्नी बड़ी सुन्दरता के साथ सम्पादन कर सकते और उनमें आनन्दोपभोग भी कर सकते हैं। अस्तु।

विवाह की पद्धति भी, हमारे यहाँ की, पहले आज से कहीं अच्छी थी। उस समय—

"(क) विवाह करनेवालों की आयु कम नहीं होती थी। पुरुष में प्रेम प्रकाश करने और स्त्री में उसका उत्तर देने की योग्यता होती थी। वे अनुमति दे सकते थे और अपनी इच्छानुसार विवाह कर सकते थे।

(ख) वर के सम्बन्ध में यह मान लिया जाता था कि उसके एक गृह है, जहाँ उसकी वधू गृहिणी का पद प्राप्त कर सकती है।...वधू को गृह में एक उच्च पद दिया जाता था।

(ग) विवाह का उद्देश्य यह होता था कि विवाह करनेवालों को एक-दूसरे से आनन्द प्राप्त हो, सन्तानोत्पत्ति हो, देवताओं की सेवा और सब प्रकार की सम्पत्ति का उपार्जन किया जाय।" *

लालाजी के लेखानुसार, "वेदों में विवाह के पूर्व कुमारों और कुमारियों के किसी-न-किसी प्रकार के प्रेमाभिनय का वर्णन मिलता है।" † यही नहीं बल्कि, "समाज में एक विवाह का ही नियम था। बहुविवाह था अवश्य, पर वह केवल अपवाद-रूप में था और बहुत उच्च श्रेणियों में था। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के बहुपति करने की प्रथा वेदों में नहीं मिलती।" ‡ उनके वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि व्यभिचार की उस समय भी हमारे यहाँ घोर

---

* दुखी भारत; पृ० १७८।

† वही; पृ० १७६।

‡ वही; पृ० १७६।

निन्दा की जाती थी। गृहस्थी का काव्यमय आदर्श निश्चय ही बहुत ऊँचा था, और मैक्डोनल तथा कैथ का कहना है कि 'इस बात पर सन्देह करने का हमारे पास कोई कारण नहीं है कि लोग इस आदर्श को प्रायः और पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेते थे।' +

विवाह के अवसर पर वर वधू से कहता है—"सुख के लिए मैं तुझे अपने दाहिने हाथ से स्वीकार करता हूँ, जिससे कि तू मेरे (अपने पति के) साथ-साथ वृद्धावस्था को प्राप्त हो। 'सवितर', 'परमोदी' (वैदिक देवता) ने तुझे मेरे हाथों सौंपा है, जिससे कि हम दोनों मिलकर अपने गृह का शासन करें।" वधू भी यही बातें वर से कहती है। इसके बाद पति के घर आने पर, वधू का स्वागत किया जाता है—"यहाँ तू धन-धान्य और सन्तति से सम्पन्न होकर प्रसन्नता के साथ रह। इस गृह की सावधानी के साथ देख-भाल कर। अपने पति के साथ निवास कर और वृद्धावस्था तक तेरा इस गृह पर शासन बना रहे। अब तू यहीं रह। कभी पृथक् न हो। अपने जीवन के सम्पूर्ण वर्षों

+ दुखी भारत; पृ० १७६।

का सुख-भोग कर। पुत्रों और पौत्रों की क्रीड़ा देखकर गृह के भीतर प्रसन्न-चित्त बनी रह।" और अन्त में पति ईश्वर से मनाता है, जिसे सब एकत्र जन दुहराते हैं, कि "प्रजापति हमें पुत्र और पौत्र प्रदान करें। आर्यमन् हमें वृद्धावस्था तक टिकनेवाली सम्पत्ति देवें। अब तुम (वधू से) अपने पति-गृह में प्रवेश करो। गृह के भीतर मनुष्यों और पशुओं की वृद्धि हो और वे सुख से रहें। तेरे कारण पशुओं तक का भाग्य जागे। तेरा हृदय कोमल हो, मुख-मण्डल प्रसन्न हो, तू वीरों को जन्म देने वाली हो, तू देवताओं का आदर करने वाली हो, तू आनन्दमय हो।" ❀

कितना सुन्दर आदर्श है इनमें! परन्तु, आज? लकीर तो आज भी यही पीटी जाती है, विवाह के समय आज भी इन्हीं मंत्रों का उच्चारण होता है; परन्तु आज इसमें वास्तविकता कहाँ? कोरी बातें हैं, उनके अनुसार आचरण नहीं। सच तो यह है, हममें से अधिकांश इनका अर्थ भी पूरा नहीं समझते; आचरण का तो ज़िक्र ही कहाँ!

आज तो हमारे यहाँ रूढ़ियाँ पुजती हैं; वास्तविकता

❀ दुखी भारत; पृ० १७७-१७८।

पर ध्यान नहीं दिया जाता। यही कारण है, आज हमारे विवाहों में काफ़ी कृत्रिमता आ गई है; और, उसके फल-स्वरूप, आधुनिक सन्तति दिन-ब-दिन ह्रास पर ही अग्रसर हो रही है। जहाँ किसी समय स्वयंवर तक की प्रथा थी, वहाँ आज जिन युवक-युवती का विवाह होने को होता है उनकी इच्छा-अनिच्छा को जानकर काम करने का किञ्चिन्मात्र प्रयत्न भी कहाँ होता है? कोई समझदार युवक-युवती यदि ऐसी कुछ प्रवृत्ति प्रकट भी करते हैं, तो उच्छृंखल और बेशर्म, खुदग़र्ज़ और विषयी तक कहकर उनकी निन्दा और उनका तिरस्कार किया जाता है! यही कारण है, आज हमारे यहाँ न तो पहले की सी गार्हस्थ्य शान्ति है, और न पहले का सा गार्हस्थ्य सुख। बाल और बेमेल विवाह का हमारे यहाँ प्राबल्य है, जो न केवल हमारे जीवन को नीरस ही बना रहे बल्कि हमें सब प्रकार से दीन और दुनिया के अनुपयुक्त बना रहे हैं। वैधव्य और व्यभिचार की जो वृद्धि आज हमारे समाज में देखी जाती है, उसका भी यही कारण है। और यह निश्चित है कि जबतक विवाह के ढंग में ही सुधार न होगा, ये सब उपद्रव बीच-बीच में थोड़े-बहुत दब भले ही जायँ, इनका अन्त नहीं होगा—

मौक़ा पा-पा कर ये फिर-फिर बढ़ते ही रहेंगे। जबतक जड़ को ही न सुधारा जाय, वृक्ष और उसके फल-फूल-पत्तों का न सुधरना स्वाभाविक ही है।

पश्चिमी समाज इस विषय में हमसे आगे बढ़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है। वहाँ पर 'कोर्टशिप' के रूप में विवाहेच्छु युवक-युवती न केवल विवाह के पहले एक-दूसरे से परिचित ही हो जाते हैं, वरन् प्रायः अपना सम्बन्ध ही वे स्वयं निश्चित करते हैं। स्त्री-पुरुष को माना भी वहाँ समान जाता है। जीवन के हर क्षेत्र में आज वहाँ स्त्रियाँ पुरुषों की समानता कर रही हैं—सिवा एक उस काम के, जिसके लिए कि स्वयं प्रकृति ने ही उन्हें अनुपयुक्त बना दिया है। वहाँ आज प्रेम-विवाहों का भी ख़ूब ज़ोर है। ग़र्ज़ कि सभी बातें ऐसी हैं कि हम युवक-युवतियों का मन सहसा पश्चिम के अनुकरण की ओर झुकता है—काश हम भी ऐसा ही कर सकते!

परन्तु, महात्माजी का कहना है, 'चमकने वाली सभी चीज़ें स्वर्ण नहीं हैं।'* और, लालाजी ने कहा है, "ऊपर से

---

* " × × We would do well not to be carried away by the glamour of the

देखा जाय तो पश्चिम में विवाह की जो प्रथा है, वह एक आनन्दमय और पूर्ण-विकसित प्रेम-विवाह की प्रथा प्रतीत होगी। परन्तु मैक्स-नार-डौ के समान विद्वान् ने इसे 'विवाह का ढकोसला'-मात्र कहा है। नार-डौ का ख़याल है कि ऐसे विवाहों की संख्या ७५ प्रतिशत से कम नहीं है, जो 'सुविधा के लिए विवाह' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वे वास्तव में प्रेम-विवाह नहीं हैं।" † इसीका परिणाम है, आज वहाँ घर और उसके स्नेह का भाव नष्ट-सा होता जा रहा है, जीवन में नीरसता आती जा रही है, और विवाह ऐसी अस्थिर संस्था बन गया है कि क़ानून के अनुसार वह 'एक अटूट सम्बन्ध' होते हुए भी नित्य तलाक़ों का होहल्ला मच रहा है। ❀ फिर यह दशा

---

material splendour that comes to us from over the Indian Ocean. 'All is not gold that glitters.'" (Mahatma Gandhi, in 'Young India', February 14, 1929.)

† दुखी भारत; पृ० २२६।

❀ आज़ादी की नई भावनाओं ने विवाह-विषयक बातों पर गहरा असर किया है। हाल में एक सुन्दर पुस्तक (Social Problem of the Family) निकली है, उसका वर्णन

भी सारे पश्चिम की हो, सो बात नहीं। इंग्लैण्ड और अमेरिका में तो विवाहेच्छुओं को ऐसी आज़ादी ज़रूर है, परन्तु और सभी जगह नहीं। 'लैटिन' और 'स्लाव' जातियों में तथा जर्मन लोगों में आज भी विवाह का निर्णय अभिभावकों

करते हुए 'सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया' में श्री जी० एस० घुर्ये ने इसपर अच्छा प्रकाश डाला है। अमेरिका की नई रोशनी वाले लोग अब विवाह के बन्धन से घबरा गये हैं और ऐसी प्रथा डालने पर जोर दे रहे हैं कि जिसमें ऐश-आराम तो उड़ाये जा सकें, पर घर-गृहस्थी के पचड़ों में न पड़ना पड़े। 'साथी-विवाह' (Companionate) वहाँ खूब चल पड़े हैं। इन्हें रजिस्टर कराने की जरूरत नहीं होती। प्रतिकूल वर्गों के दो व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) अपनी पसन्द से मिलते हैं और जबतक मन लगा रहे, पति-पत्नी बने रहते हैं; मनमुटाव होते ही, तलाक़ की ऊपरी रस्म अदा किये बग़ैर ही, अलग हो जाते हैं। विषय-सुख तो प्राप्त करते हैं; पर घर-गृहस्थी के झंझट से बचने के मारे सन्तति-निरोध के कृत्रिम साधनों का सहारा लेते हैं। रहते भी प्रायः घरों में नहीं—गृह-प्रबन्ध के झंझट में कौन पड़े ? बस, होटलों में ही अधिकांश दम्पतियों का निवास होता है। इसीका नतीजा है कि घर और उसका स्नेह तो कहाँ, गर्भपातों की संख्या भी वहाँ खूब बढ़ रही है। ('सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया'; १ अगस्त, १९२९।)

द्वारा ही होता है !* यही नहीं बल्कि वहाँ स्त्री दासी भी समझी जाती है—न केवल अपने पति की, बल्कि घर के सारे पुरुषों की; और पुरुषों के सारे दोषों की ज़िम्मेदार भी वही मानी जाती है ! और विवाह के समय सारे पश्चिम में स्त्री को आज भी जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती है, उसमें वह पुरुष की दासता स्वीकार करती है—उसकी आज्ञाकारिणी बनने का वचन देती है, जैसा विधान हमारे यहाँ कोई नहीं बतलाया जाता । हमारे यहाँ तो स्त्री-पुरुष दोनों को समान-प्रतिज्ञायें ही करनी पड़ती हैं ।

---

* (१) Among the Latins and Slave, marriage is still arranged by the parents......" (The West—A Study—By K. Kunhi Kannan, M. A., Ph. D.; Pp. 99–100.)

(२) "सभ्य स्लाव और जर्मन-जाति में यह प्रथा है कि पुत्र-वधू अपने श्वसुरालय में स्पष्ट रूप से दासी बनकर प्रवेश करती है और अपने पति के पिता, माता और बहन की क्रीत दासी के समान रहती है। कुटुम्ब में अपराध कोई भी करे-आता उसीके मत्थे है।" (दुखी भारत; पृ० १७८)

अतः पश्चिम के अन्ध-अनुकरण की तो हमें ज़रूरत नहीं; परन्तु यह आवश्यक है कि हम अपने यहाँ की विवाह-विधि में समयोचित सुधार करें। इसके लिए सबसे पहले तो हमें यह आवश्यक है कि बाल और बेमेल विवाह का एकदम ख़ात्मा कर दें। प्रेम-विवाह की प्रथा तो हम नहीं कह सकते कहाँ तक उपयोगी हो सकती है—क्योंकि, हमारी नम्र-सम्मति में, सच्चा प्रेम वैषयिक नहीं होता, उसमें वासना को स्थान नहीं; और अगर उसे वासना की पूर्ति का साधन बनाया जायगा, तो फिर शुद्ध और असीम विश्व-प्रेम ज़रा मुश्किल ही हो जायगा। हाँ, आकस्मिक (Romantic) विवाह की बात कुछ समझ में आती है। किसी अनोखे मौक़े पर किन्हीं दो युवक-युवतियों का किसी आकस्मिक घटना-वश आकर्षित हो जाना, उन दोनों के विवाह-सम्बन्ध का बुरा चुनाव नहीं कहा जा सकता। परन्तु चूँकि ऐसे मौक़े सर्व-सामान्य बात नहीं, इसलिए इसे साधारण स्थिति नहीं मानी जा सकती। साधारण स्थिति में तो फ़िलहाल वही विवाह ठीक हो सकते हैं, जिनमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम की अपेक्षा भी कर्तव्य का भाव विद्यमान रहे। विवाह का निर्णय अभिभावकों पर ही रहे तो हर्ज नहीं; परन्तु यह

आवश्यक है कि इसमें वे अपने संरक्षित युवक-युवती की रुचि-अरुचि, भाव-भावना, इच्छा-अनिच्छा आदि का पूरा-पूरा ख़याल रक्खें। यह याद रहे कि आदर्श विवाह वही है, जिसमें स्त्री-पुरुष कोई भी अपने को दूसरे का गुलाम न महसूस करें; दोनों का समान-दर्जा रहना आवश्यक है; और यह भी ज़रूरी है कि दोनों एक-दूसरे के प्रति सच्चे, विश्वस्त और अभिन्न-हृदय प्रेमी रहें। यह भी स्मरण रहे कि कर्तव्य भी नीरस हो जाता है, यदि उसमें प्रेम की भी पुट न मिले; और प्रेम मन-मिलन पर बहुत-कुछ अपना आधार रखता है। अतएव, यदि अभिभावक अपने संरक्षितों के विवाह का अन्तिम निर्णय अपने हाथ में रक्खें, तो उनके लिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उन युवक-युवतियों की इच्छा और सम्मति जान लेने की उपेक्षा न करना आवश्यक है। यही नहीं, उन्हें इसके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है; और यदि युवक-युवती में से किसी की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष इच्छा न देखें, तो उन्हें अपने इरादे को बदल देना चाहिए; यदि युवक-युवती में से कोई स्पष्ट इनकार करे, तब तो उनका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि उस विवाह को हर्गिज़ न करें। इसमें बुराई नहीं भलाई ही है। क्योंकि पति-पत्नी के

आपस के मन-मिलन और प्रेम से ही तो घर में सुख-शान्ति रह सकती है; और ऐसी ही परिस्थिति में उत्पन्न सन्तति ही सबल-सुन्दर भी हो सकती है।

रहीं विवाह की रस्में। सो ये तो ऊपरी बातें हैं और कई तो ऐसी हैं कि अब बिल्कुल व्यर्थ हैं। बारात सजाकर ले जाना और तोरण मारना इत्यादि बातें सब उस समय की विवाह-प्रथा की सूचक जान पड़ती हैं, जब स्त्रियों को जीत-कर (विवाह के लिए) लाया जाता था; अब इनको छोड़ दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दहेज़ की प्रथा का तो ख़ात्मा हो ही जाना चाहिए; 'कन्या-दान' भी 'कुमार-कन्या-मिलन' के रूप में परिवर्त्तित हो जांय तो कोई बुराई नहीं। यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि इस स्थिति के लिए कन्या और कुमार की आयुर्मर्यादा अवश्य बढ़ी रहेगी—कन्या की कम-से-कम १६ और कुमार की २५ वर्ष तो ज़रूर ही हो। आतिशबाज़ी, बाजे-गाजे, नाच-गान इत्यादि में जो ख़र्च किया जाता है, यदि विवेक से काम लें तो, उनके बजाय उससे आज के निर्धन भारत के न-जाने कितने भाइयों का उदर भरा जा सकता है।

[५]

प्रकाश की ओर—

ये कुछ बातें हैं, जिनपर देश के विचारशील महापुरुषों का ध्यान देना चाहिए। अगर इनपर अमल हो तो, हमारा ख़याल है, न केवल हमारी सामाजिक स्थिति ही कहीं उन्नत हो जायगी; बल्कि उसके द्वारा हमारे शरीर, हमारे मन और हमारी आत्मा का सुधार होकर हमारे देश के पुनरुत्थान में भी उससे बड़ी मदद मिलेगी। परन्तु, अभी तो हम अन्धकार ही में हैं। अतः, भगवान् से हमारी यही प्रार्थना है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
प्रभो, अन्धकार से हमें प्रकाश की ओर ले जा!

५

सच्चा मार्ग

"Let the husband render unto the wife due benevolences and likewise also the wife unto the husband."

—Holy Bible.

× × ×

"जो पिता, भाई, पति और देवर अपना कल्याण चाहें, उन्हें अपनी पुत्री, बहन, स्त्री और भावज का अपमान नहीं करना चाहिए।"

—मनुस्मृति

× × ×

"जिस घर में स्नेह और प्रेम का निवास है, जिसमें धर्म का साम्राज्य है, वह सम्पूर्णतः सन्तुष्ट रहता है—उसके सब उद्देश्य सफल होते हैं।"

—तामिलवेद

हमारे समाज में घुन लग रहा है। फलस्वरूप निर-निराली अनेक समस्यायें मुँह-बाये मौजूद हैं। हम पुरुषों का झूठा पौरुषाभिमान भी ख़ास तौर पर समाज के एक अंग--स्त्री-जाति---और दूरस्थ परिणाम-रूप में सारे जन-समूह के लिए 'आफ़त' हो रहा है। अत्याचारी का अत्याचार, अन्यायी का अन्याय, ज़बरदस्त की ज़बरदस्ती, पीड़क की पीड़ा, शैतान की शैतानियत---इन सबके विरुद्ध, इनका प्रतिरोध करने के लिए, हमारा पौरुषाभिमान जागृत न होगा; विदेशी शासन के अनैसर्गिक और ज़ुल्मी बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए हमारा पौरुषाभिमान हमारे मन में असह्य बेचैनी पैदा न करेगा; दुर्बल पर निर्दयता होते हम देख लेंगे, सत्ताधारी को सत्ता के मद में चाहे जो करते हम देख लेंगे, ग़रीब पर दुनिया की सब मार हम खुली-आँखों सहन कर लेंगे, दुस्तर से दुस्तर और असह्य से असह्य बातों को देख कर भी

हमें उनके प्रतिरोध की बेचैनी न होगी—इन सब बातों के सामने भी हमारा पौरुषाभिमान न जागृत होगा; परन्तु स्त्री की बात आते ही हमारा रोम-रोम झनझना उठेगा—"हैं! मैं तो पुरुष हूँ, स्त्री पर मुझे एकछत्र सत्ता रखनी ही चाहिए।" कैसी विचित्र बात है!

आज हमारे यहाँ जिधर देखिए उधर स्त्रियों पर पुरुषों के अत्याचारों की करुण-छटा दृष्टिगोचर होती है। आम तौर पर तो घर की सभी स्त्रियों को प्रत्येक पुरुष अपने से तुच्छ, हीन और इसलिए शास्य समझता है; परन्तु स्व-पत्नी पर तो उसके अधिकार की और इसलिए उसके कठोर शासन की कोई मर्यादा ही नहीं है। मानों ब्रह्मा ने स्त्री को बनाया ही इसलिए है कि वह पुरुष की गुलामी करे और उसके कठोर से कठोर और निर्दय से निर्दय—यहाँ तक कि अनुचित से अनुचित—शासन को भी बिना न-नु-नच किये चुपचाप बर्दाश्त करती रहे। इसीमें उसका मोक्ष है; इसीमें उसे स्वर्ग-प्राप्ति है; और इसीमें उसकी शोभा-गौरव है। धार्मिक ग्रन्थ ऐसे आदर्शों से पूर्ण हैं, और प्राचीन दन्तकथायें ऐसे गौरव की हामी हैं।

बाधा न पड़ने और प्रोत्साहन मिलने से बुराई के लिए

भी अच्छाई की आत्म-प्रतीति हो जाती है। यह स्वाभाविक नियम है। पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध के विषय में भी यही बात हुई है। प्रारम्भ में अवश्य ही पुरुष ने स्त्री पर इतने अत्याचार न किये होंगे। पर जब उनका विरोध न हुआ, किसीने उसमें बाधा न डाली, चाहे अच्छा न बताया हो पर बुरा भी शायद नहीं बताया, तो स्वभावतः इसका यह परिणाम हुआ कि पुरुषों को प्रोत्साहन मिला—प्रत्यक्ष रूप से चाहे न हो पर अप्रत्यक्ष रूप से ज़रूर—और उनके साहस की मात्रा बढ़ते-बढ़ते कालान्तर में यह उनका 'हक़' ही हो गया। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के अनुसार फिर तो यह सर्वमान्य भाव ही हो गया और जितने भी ग्रंथ और शास्त्र निर्माण हुए उन सभी में इसी भाव का प्राधान्य दृष्टिगोचर होने लग गया। पुरुषों का स्त्रियों पर प्रभुत्व एक जन्मसिद्ध अधिकार हो गया और स्त्रियों का धर्म ही नहीं बल्कि महाधर्म हो गया पुरुषों की गुलामी, उनके सब प्रकार के प्रहारों और अत्याचारों का चुपचाप सहन और फिर भी उनके प्रति अनन्य निष्ठा। स्त्रियों को 'पैर की जूती' 'चीड़ी की राख' 'आँख की किरकिरी' आदि इस प्रकार के उपनाम मिलने के मूल में यही स्थिति है और इसीके कारण आज चारों ओर

स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दुर्भाव-दुर्व्यवहार, अन्याय-अत्याचार का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ रहा है !

❀ ❀ ❀

कुछ दृष्टान्त लें ?—

१५ सितम्बर (सन् १९२८) के 'आज' में कलकत्ता के एक मुक़द्दमे का विवरण है—"रेणुवालादासी ललितमोहन की स्त्री है। उसकी उम्र १४ वर्ष की है। डेढ़ वर्ष हुए रेणुवाला से ललित का व्याह हुआ। तबसे वह पति के घर रहती। कहा जाता है कि गत ५ अगस्त को स्त्री के भोजन तैयार करने में कुछ देर हो गई। वस इसीपर उसका पति ललित उसे पीटने लगा। कहा जाता है कि उसकी माँ भी आकर अपनी पतोहू को पीटने लगी और दोनों ने बड़ी बेरहमी से उसको मारा। उसकी रुलाई सुनकर पड़ौस वाले दौड़े आये तो अभियुक्तों ने स्त्री को एक कोठरी में वन्द कर दिया। रात को अभियुक्त फिर उसे पीटने लगे और वह चिल्लाने लगी। ललित ने छड़ी और घूँसे से मारा और उसकी माँ ने थप्पड़ और घूँसे से मारा। अन्त को मकान-मालिक ने थाने में ख़बर भेज दी।......लड़की अस्पताल भेजी गई। उसके वदन पर चोटों के १५ अलग-अलग निशान थे।"

समाचारपत्रों में इस क़िस्म की ख़बरें प्रायः निकलती रहती हैं। बम्बई के अख़बारों में तो कोई ही दिन शायद ऐसी ख़बरों से ख़ाली जाता होगा। न्यायाधीशों के निर्णय भी प्रायः पुरुष की कठोरता के ही हामी होते हैं। प्रयाग-हाइकोर्ट के विद्वान् जजों ने तो कुछ दिन पूर्व बालिका-पत्नी के ऊपर उसके पति के बलात्कार पर समाज-सुधारकों से भी कड़े 'रिमार्क' पास किये थे। फिर, अख़बारों पर ही क्यों निर्भर रहें, हमारे रात-दिन के जीवन-व्यवहार में क्या हमें ऐसे दृष्टान्त नहीं दृष्टिगोचर होते ?

अभी हाल में एक बहन की दुःख-गाथा मेरे सामने आई। उस बहन के पितृ-गृह की स्थिति अच्छी है; पर पति जो उसे प्राप्त हुआ है, वह दुर्व्यसनी और दुर्विकारी है। पढ़ा-लिखा तो नहीं ही है, पर काम-धन्धा भी कुछ नहीं करता है। ऐसी हालत में उसके इन कृत्यों के लिए उसके पास द्रव्य कहाँ से आवे ? इसके लिए वह अपनी पत्नी पर सख़्ती करता है। कहता है—'मुझे रुपया लाकर दो; अपनी माँ से लाओ, या किसीसे उसके यहाँ काम-धन्धा करके चुकाने की शर्त पर क़र्ज़ लेकर लाओ।' बेचारी प्रयत्न करती है; थोड़ा-बहुत लाकर भी देती है। लेकिन, पति की यह

प्यास बढ़ती ही जाती है और उसके लिए यह दिन-दिन असम्भव होते जाना बिलकुल स्वाभाविक है। पति अपनी प्यास शान्त न होती देख खीझता है; और परिणाम होता है उस बहन पर कठोर और निर्दय मार और अत्याचार! मैं इस बहन को अच्छी तरह जानता हूँ। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, चरित्र की यह अत्यन्त शुद्ध और हृदय की सरल है। इसकी जाति में 'नातरे' की प्रथा है, पर इसका सती-भाव इतने अत्याचार होते हुए भी इसे उस रास्ते पर नहीं जाने देता है। इसकी करुण-स्थिति देख-देख कई बार मैं कर्त्तव्य-विमूढ़ हो चुका हूँ, कई बार इस स्थिति के निवारण के विचार-तरंगों में डूबा हूँ; पर कुछ नहीं—पति के प्रति झुंझलाहट और तिरस्कार के भाव उठकर, बहन के ख़ामोश अत्याचार-सहन के सती-भाव के आगे सिर झुका कर, गम्भीर आह के साथ निस्तब्ध हो जाना पड़ा है! यह बहन आज भी इसी दशा में है।

इसी क़िस्म की दो-एक आँखों-देखी घटनायें और भी मेरे स्मृति-पटल पर मण्डरा रही हैं। हाल में, मध्यभारत की ओर जाने पर, दो-तीन ऐसी बातें अपने सम्माननीय मित्रों से भी सुनी हैं। उन सबके वर्णन के लिए न तो

स्थान है, न आवश्यकता। यह तो हमारे जीवन में आज रात-दिन की बातें हो रही हैं। अगर हम गहराई के साथ ध्यान दें तो हममें से हरएक के आस-पास ऐसी एकाध घटना ज़रूर प्रकट होगी, ऐसा मेरा ख़याल है। इसलिए अब प्रश्न ऐसी घटनाओं के अस्तित्व का नहीं रहा, आज तो प्रश्न यह है—क्या ऐसी स्थिति वाञ्छनीय है? क्या यह सदा क़ायम रह सकती है? और क्या हमें इसे और भी चालू रखना चाहिए?

❀ ❀ ❀

आह! कौन ऐसा 'मनुष्य' होगा, जो इस स्थिति को अच्छा समझे और इसे क़ायम रखना चाहेगा? अगर सच-मुच ऐसा कोई हो तो, हमारी नम्र-सम्मति में, वह मनुष्य नहीं, नर-देह में शैतान का रूपान्तर ही हो सकता है। मनुष्य का गुण है मानवता; और मानवता किसीपर अन्याय-अत्याचार करने में, किसीपर ज़ोर-ज़बरदस्ती करने में अथवा किसीको अपनी ग़ुलामी में रख कर सताने में नहीं बल्कि दया, ममता, प्रेम, आदर और सहानुभूति में है। जीवन का ध्येय सत्य-प्रेम-अहिंसा में है, असत्य-निर्दयता-हिंसा में नहीं। अतः कोई भी समझदार व्यक्ति इस स्थिति को

वाञ्छनीय तो कह ही नहीं सकता। यह चिरस्थायी भी नहीं हो सकती; क्योंकि, जो वस्तु वाञ्छनीय नहीं उसका किसी-न किसी दिन मिटना अवश्यम्भावी है। फिर भी अगर कोई उसे चालू रखना चाहे, तो उसे सिवा बेवक़ूफ़ के और क्या कहा जा सकता है? जो चीज़ या बात अवाञ्छनीय है, किसी-न-किसी दिन जो मिटने ही वाली है, उसके लिए फिर मोह या हिचकिचाहट क्यों?

फिर प्रतिक्रिया के नियम को भी तो हमें न भूल जाना चाहिए। पुरुषों के अत्याचार की मात्रा अब चरमसीमा पर आ पहुँची है—नहीं, कहीं-कहीं तो सीमोल्लंघन की भी नौबत आ पहुँची है, ऐसा कह सकते हैं। अगर हमने अब भी इसको मर्यादित करने का द्रुत-प्रयत्न न किया, हम अब भी झूठे पौरुषाभिमान के मद में झूमते रहे, तो वह समय दूर नहीं—और उसके पूर्व-चिन्ह अब दृष्टिगोचर होने लगे हैं—जब ज़ोरों से इसकी प्रतिक्रिया होगी। स्त्रियाँ पुरुषों के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करेंगी, जैसे दास-प्रथा से तङ्ग आकर अमेरिका के ग़ुलामों ने अपने 'कहे जाने वाले' मालिकों के ख़िलाफ़ की थी; और ताज्जुब नहीं कि उस क्रान्ति के उद्वेग में पति-निष्ठा का भाव ही बिलकुल लोप होजाय!

क्या हम उस स्थिति को पसन्द करते हैं? क्या वह स्थिति हमारे लिए सुख-प्रद होगी? क्या वह स्थिति वाञ्छनीय होगी?—हम समझते हैं, और ज़ोर देकर इस बात को कहने का साहस करते हैं, कि हममें से शायद कोई भी उस स्थिति का स्वेच्छया तो हर्गिज़ आह्वान न करेंगे।

इस प्रकार न तो आज की स्थिति वाञ्छनीय है, और न उसकी प्रतिक्रिया ही वाञ्छनीय होगी। तब इसका एक ही उपाय है—इन दोनों के बीच किसी मध्यमार्ग की खोज। और वह हो सकता है स्त्री-पुरुषों का एकमात्र प्रेम और सहानुभूति का सम्बन्ध, न कि दास-दासी और सेव्य-सेवक के रूप में ज़ोर-ज़बरदस्ती का बन्धन।

यही स्वाभाविक और परम-वाञ्छनीय है। ऐसा होने पर ही वास्तविक सुखी गृहस्थ की आशा की जा सकती है। प्रेम और सहानुभूति की भित्ति पर स्थापित गार्हस्थ्य-जीवन इतना सुन्दर, इतना शान्त, इतना शृंखलापूर्ण, इतना सुखी और इतना सम्पूर्ण होगा कि स्वर्ग के देवताओं को भी स्पर्धा होगी। ऐसे गृहस्थ-जीवन से सुख-शान्ति की पवित्र रश्मियाँ प्रस्फुटित होंगी, जो अपने पवित्र आवरण से घर वालों ही को नहीं बल्कि उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक

प्राणी को आच्छादित कर देंगी। और तब प्रेम और सहानुभूति से उद्भूत इस वातावरण से हमारा सारा जीवन अनन्य शान्तिमय हो जायगा।

६

जड़ में घुन

"मैं बालक हूँ—पृथ्वी को जैसा मैंने पाया है उससे अच्छा छोड़ना मेरा उद्देश्य है।

मैं जीवन, हास्य, प्रेम, कार्य और खेल चाहता हूँ।

शुद्ध दूध और ताजा हवा मुझे चाहिए।

अगर इस समय तुम मेरा मार्ग सरल कर दोगे, तो बड़ा होने पर मैं तुम्हारा मददगार होऊँगा।

मैं तुम्हारी आशा हूँ—मैं बालक हूँ।"

[१]

भारतीय युवकों के स्फूर्तिदाता साधु वास्वानी की पुकार है—'शक्ति! और शक्ति!!' संगठन के रूप में हिन्दू और तबलीग़ के नाम पर मुसलमान शक्ति-संग्रह का ही प्रयत्न कर रहे हैं। आर्यसमाज की तो यह पुरानी पुकार है। स्वराज्येच्छु देश-सेवक भी सेवा-दल और स्वयंसेवक-मंडल आदि के रूप में इसीकी उपासना कर रहे हैं। बूढ़े गाँधी बाबा अहिंसावादी हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर वह भी शक्ति-संचय से पराङ्मुख नहीं—चाहे वह आत्मिक ही क्यों न हो। ग़र्ज़ कि चारों ओर शक्ति ही शक्ति की पुकार और आकांक्षा है। इतने पर भी हममें शक्ति उद्भूत नहीं हो रही। हम आज भी वैसे ही हैं, जैसे विदेशियों की गुलामी स्वीकार करने की कायरता दिखाते समय थे—आश्चर्य नहीं कि उससे भी और कम ही शक्ति रह गई हो। इसका कारण?

सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० रजनीकान्तदास का कहना है— "अमली तौर पर भारतीयों की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का अधिकांश भाग अविकसित ही रहता है और उसकी जन-शक्ति के लगभग दो-तिहाई भाग का कोई उपयोग नहीं हो पाता। साथ ही इसके, यहाँ के स्त्री-पुरुषों के जीवन-काल का औसत संसार के दूसरे उन्नत देशों का सिर्फ़ ३० प्रतिशतक है। और इसकी मानुषी शक्तियों का यह अपव्यय ही इसे नैतिक, मानसिक एवं भौतिक दृष्टि से पतित कर रहा है।"*

निस्सन्देह आज हमारी यही हालत है। पौदा कैसे लहलहाये, जब कि उसकी जड़ ही मरी जा रही है! हम बीज बोते हैं ज़रूर, परन्तु जब कि ज़मीन को काफ़ी उर्वरा नहीं बना पाते और उसकी जड़ों को मज़बूत करने पर ध्यान नहीं देते, तब अच्छे फलों की आशा कैसी? बबूल बोने पर कहीं आम पैदा होते हैं! ठीक यही दशा आज हमारी है। बड़ों से तो हम आशा तब करें, जब कि उन्हें छुटपन से उस योग्य बनाया गया हो। परन्तु

* 'माडर्न रिव्यू', अप्रैल, १९२७।

यहाँ तो जड़ में ही घुन है। बाल्यावस्था तो मानों हमारी दुर्दशा का मूर्त्त रूप है!

जैसा कि हमने अपने एक लेख में लिखा था, "बाल-मृत्युओं की तो बात ही न पूछिए। जितना कोप हमारे बाल-समाज पर पड़ रहा है, उतना शायद ही और किसी देश में हो। २० लाख से अधिक बालक तो हमारे यहाँ हर साल इस संसार में प्रवेश करते ही चल बसते हैं! भारत-सरकार की अर्द्ध-सरकारी रिपोर्ट ('१९२२-२३ में भारत' के ही अनुसार, 'यह हिसाब लगाया गया है कि हर साल कम-से-कम २० लाख भारतीय बालक मृत्यु का शिकार होते हैं; फिर जो ज़िन्दा बचते हैं, उनमें भी अनेक बाल्यावस्था के अपने आस-पास के अस्वास्थ्य-कर वातावरण से कमज़ोर और दुबले-पतले (रोगी) बने रहते हैं। सच तो यह है कि यद्यपि पैदायश को शुमार करने का तरीक़ा यहाँ पर अद्यापि दोष-पूर्ण है, जिससे विश्वास के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी पूर्ण विश्वास के साथ हम यह कह सकते हैं कि भारत में पैदा होनेवाले प्रत्येक पाँच या कदाचित् चार ही बच्चों में एक तो अपनी पैदायश के पहले ही वर्ष में

काल का ग्रास बन जाता है। घनी आबादीवाले और औद्योगिक शहरों में तो यह संख्या और भी अधिक है।" *

सन् १९२४-२५ की रिपोर्ट ('१९२४-२५ में भारत') भी यही कहती है—"बाल-मृत्यु भारत के जन-साधारण के स्वास्थ्य की एक बड़ी ज़बरदस्त समस्या है। यह हिसाब लगाया गया है कि हर साल लगभग २० लाख भारतीय बालक मृत्यु का शिकार होते हैं। उत्पत्ति-गणना अभी अपूर्ण है, जिससे बिलकुल सही अंक नहीं मिल सकते, परन्तु यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत में पैदा होनेवाले प्रत्येक छः या कदाचित् पाँच ही बच्चों में एक तो अपनी पैदायश के पहले ही वर्ष में काल का ग्रास बन जाता है। घनी आबादीवाले और औद्योगिक शहरों में तो यह संख्या और भी खेद-पूर्ण है। विश्वास किया जाता है कि कई स्थानों में तो यह मृत्यु-संख्या प्रतिसहस्र २०० से ६०० तक से भी बढ़ जाती है, जब कि इंग्लैण्ड में इसका औसत प्रति सहस्र ८० तक ही पहुँचता है।" †

---

* 'त्यागभूमि'; विजयादशमी, १९८४।

† 'माडर्न इंडिया'; पृष्ठ १९४।

इन अंकों को अपनी पुस्तक में उद्धृत करते हुए ब्रिटिश पार्लमेण्ट के एक प्रसिद्ध मजूर-सदस्य डा० रुदरफ़ोर्ड लिखते हैं—"मैं चाहता हूँ कि लार्ड वर्कनहेड (तत्कालीन भारत-मंत्री) और ब्रिटिश जनता इस बात को महसूस करें कि भारतीय बालकों के हम कितने 'अयोग्य संरक्षक' हो रहे हैं। श्री विंस्टन चर्चिल (तत्कालीन ब्रिटिश कोषाध्यक्ष) चाहें तो अपने विशेष ढंग पर, इसके लिए, भारतीय सरकार को भारत की बाल-नाशक सरकार कह सकते हैं, जो उन्हें लाखों की तादाद में और अक्सर वेदनापूर्ण ढिलाई के साथ यमपुर पठा रही है।" *

परन्तु, इतने पर भी, 'वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी' आज भी जारी है। कई वर्ष पूर्व श्री कंचनलाल-मगनलाल-खाँडवाला नामक किसी सज्जन ने महात्माजी के पास कुछ अंक भेजे थे ‡, उनसे संसार के भिन्न-भिन्न देशों और भारत के मुख्य-मुख्य प्रान्तों के एक वर्षान्तर्गत आयु के प्रति सहस्र बालकों की मृत्यु पर प्रकाश पड़ता है—

---

* 'माडर्न इंडिया'; पृष्ठ १९४-५।

‡ 'त्यागमूर्त्ति'; पृष्ठ ४६।

देश	सन्	मृत्यु प्रति सहस्र
न्यूज़ीलैण्ड	१९१२	५१
नारवे	१९१२	६८
स्वीडन	१९११	७२
आस्ट्रेलिया	१९१३	७२
फ्रांस	१९१२	७८
नेदरलैण्ड्स	१९१३	९१
स्विट्ज़रलैंड	१९१२	९४
डेन्मार्क	१९१३	९४
आयरलैंड	१९१३	९७
इंग्लैण्ड और वेल्स	१९१६	९८
स्काटलैण्ड	१९१३	११०
मदरास	१९०२-११	१९१
बंगाल	,,	२७०
बिहार-उड़ीसा	,,	३०४
पंजाब	,,	३०६
ब्रह्मा	,,	३२२
बंबई	,,	३२०
संयुक्तप्रान्त	,,	३५२

इन्हें भेजते हुए उन्होंने गांधीजी को लिखा था—

"ये अंक बम्बई, मद्रास, बंगाल इत्यादि प्रान्तों की लगभग सारी मृत्यु-संख्या के औसत हैं। यदि प्रत्येक शहर की गिनती हो, तो संख्यायें और भी बढ़ेंगी। १९१७ में बम्बई में प्रतिसहस्त्र ४०१.६ और कलकत्ते में प्रतिसहस्त्र २४९ बाल-मृत्युओं का औसत-अनुमान था। मद्रास शहर में इसी वर्ष प्रतिसहस्त्र २७७.२ का औसत था, जब कि लन्दन में १९१६ में प्रतिसहस्त्र सिर्फ़ ८७ ही बालक मरे थे।" ❀

कुछ देशों के ज़िन्दा पैदा होनेवाले प्रति सौ बच्चों में मरनेवाले बालकों का औसत इस प्रकार है—

देश	मृत्यु प्रतिसैकड़ा	देश	मृत्यु प्रतिसैकड़ा
इंग्लैंड और वेलस	७.५	स्पेन	१४.५
फ्रांस	८.५	इटली	१६.१
बेल्जियम	९.७	जापान	१६.६
जर्मनी	१०.८	भारतवर्ष	१९.४

❀ 'त्यागमूर्ति'; पृष्ठ ४७।

आज भी इस दशा में कोई कमी हुई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इंग्लैण्ड में सफलता-पूर्वक चिकित्सा-कार्य किये हुए सुयोग्य डाक्टर एन्० आर० धर्मवीर डी०पी० एच्० ने हाल ही लाहौर के 'पीपुल' में इस सम्बन्ध के ताज़ा अंक दिये हैं। ※ सन् १९२८ में इंग्लैण्ड और वेल्स में बाल-मृत्युओं का औसत प्रतिसहस्र ६५ था; नारवे, हालैण्ड, स्वीडन, अमेरिका और न्यूज़ीलैण्ड में क्रमशः ४८, ५८, ६३, ७१ और ३८ था। परन्तु डा० चेंटली ने कलकत्ते की बाल-मृत्युओं का अनुमान लगाया—पैदायश के प्रतिसहस्र का २४०! डा० धर्मवीर के शब्दों में, "इसका अर्थ यह है कि कलकत्ता शहर में पैदा होनेवाले प्रत्येक १००० बच्चों में २४० अपनी आयु का एक वर्ष भी पूरा न कर सके—उससे पहले ही चलते बने, जब कि न्यूज़ीलैण्ड के १००० बच्चों में से सिर्फ़ ३८ और १००० अंग्रेज़ बच्चों में से सिर्फ़ ६५ की मृत्यु हुई।" † उन्होंने भारत के बच्चों के जन्म-मरण का रोचक हिसाब लगाया है—२६ प्रतिसहस्र पैदायश के औसत

※ 'पीपुल'; १८ जुलाई, १९२९।

† 'पीपुल'; १८ जुलाई, १९२९।

से हमारे यहाँ हर साल लगभग १ करोड़ बच्चे पैदा होते हैं, और भारतीय बाल-मृत्यु का कम-से-कम औसत अर्थात् प्रतिसहस्र २०० लें, तो २० लाख बच्चे एक साल के होने से पहले ही मर जाते हैं ! उनका कहना है—

"यह हानि बड़ी भयावह है। इससे प्रकट होता है कि आबहवा की बात एक ओर, यदि हमारा देश अपने निवासियों को शिक्षा, चिकित्सा और अर्थ-संबंधी वैसी ही सुविधायें दे सका होता, जैसी कि इङ्गलैण्ड अपने निवासियों को दे रहा है, तो सन् १९२७ में हमारे यहाँ २४,५०,००० बालक मृत्यु से बच गये होते।" †

परन्तु यहाँ तो बात ही और है। १९२६-२७ की अर्द्ध-सरकारी रिपोर्ट के ही अनुसार, इस वर्ष भी, "भारत की बाल-मृत्यु के ऊँचे प्रमाण को यहाँ के स्वास्थ्य-विभाग के शासन पर गहरा धब्बा समझा गया; लेकिन 'धनाभाव' सरकारी बहाना था, जिससे इस प्रश्न को उठाने से टाल दिया गया !" ‡

---

† 'पीपुल'; १८ जुलाई १९२९।

‡ '१९२६-२७ में भारत' (India in 1926-27); पृष्ठ १५३।

फिर यह तो रोग आदि के कारणों से प्रत्यक्ष होने वाली बाल-मृत्युओं का ही हाल है। इनके अलावा भी तो हमारे देश में बाल-ह्रास हो रहा है। उन बालकों की मृत्युओं का किसे पता, जो हमारे पापों के फल-स्वरूप, समाज के डर से, लुके-छिपे होती रहती हैं! ऐसे बालक या तो चुपचाप नदी-कुएँ-तालाबों में डुबोये जाते हैं, या विष देकर अथवा गला घोंटकर झाड़-झंखाड़ों में डाले जाते हैं, अन्यथा बिना विशेष सार-सम्हाल के दूसरों द्वारा लापर्वाही से केवल जीने-भर की परवरिश पाते हैं, अथवा पैदा होने से पहले ही दवाइयों के ज़रिये गर्भपात के रूप में यमपुर पठाये जाते हैं। इनकी संख्या का अनुमान कौन लगा सकता है? अलावा इसके, चाहे बहुत कम ही क्यों न रह गया हो, कहा जाता है, हमारे यहाँ कई जातियों में लड़की पैदा होने पर उसे चुपचाप ख़त्म कर देने का भी तो रिवाज है! यह सब, एक अथवा दूसरे रूप में, हमारे यहाँ का बाल-ह्रास ही तो है!

[२]

भारत के बाल-ह्रास की समस्या बड़ी भयावह है, इसमें सन्देह नहीं। हमारा, और हमारे रूप में हमारे देश का,

इससे कुछ कम नुक़सान नहीं हो रहा; क्योंकि, डा० धर्म-वीर के शब्दों में, "जो अपनी बाल्यावस्था में अच्छी पर-वरिश नहीं पाते, उनके सशक्त और पुरुषार्थी होने की आशा नहीं की जा सकती। उनका यौवन अल्पकालिक होता है और जल्दी ही बुढ़ापा उन्हें घेर लेता है।"* सचमुच यही कारण है, जिससे आज हम शक्तिहीन हो रहे हैं—न केवल स्वदेश-रक्षा के लिए बल्कि स्व-रक्षा में भी।

ऐसा क्यों है ?

अवश्य ही इसके कारण हैं और पर्याप्त कारण हैं। इङ्गलैंड में स्त्रियाँ बच्चों को अपना दूध नहीं पिलातीं, ऊपर की पौष्टिक ख़ूराक (Arti ficial Feeding) का प्रयोग होता है, वहाँ की बाल-मृत्युओं का यह मुख्य कारण है। परन्तु भारत में तो स्त्रियाँ अपना ही दूध बच्चों को पिलाती हैं, फिर भी यहाँ बदर्जहा इंग्लैंड से ज़्यादा बच्चे क्यों मरते हैं ? इसके कारण हैं, और कई कारण हैं, परन्तु उन सबका मूल कारण है—हमारी दरिद्रता।

महात्माजी ने इसके छः कारण बताये हैं—(१) हवा, (२) ख़ूराक, (३) बाल और बेमेल विवाह, (४) स्व-

---

* 'पीपुल'; १८ जुलाई, १६२६।

च्छन्दता, (५) आरोग्य-विषयक अज्ञान और (६) असह्य महँगाई। † उनका कहना है—

(१) हमारे यहाँ की हवा दुर्बल करनेवाली मानी जाती है। ज्यादा गर्मी में शरीर का यथोचित निर्माण कठिन है। फिर गर्मी से भी गन्दगी ज्यादा हानिकारक है, यह सार्वजनिक अनुभव है।

(२) बालकों की ख़ूराक सदा ही जैसी चाहिए वैसी नहीं होती। बालक का पोषण माता के दूध पर और वह बन्द होजाय तो गाय के दूध पर ही होना चाहिए। परन्तु हमारे यहाँ दाँत भी नहीं निकलने पाते कि उससे पहले ही उन्हें रँधा हुआ अन्न दिया जाने लगता है। बालक का मेदा अन्न पचाने के उपयुक्त नहीं होता, इसके पहले ही अन्न मिलने से बालक को कई बीमारियाँ हो जाती हैं। वह कमज़ोर हो जाता है और अनेक वार ऐसे ही बेमौत मरता है।

(३) बाल और बेमेल विवाह इनसे भी बढ़कर नाशक हैं। १५ वर्ष की लड़की प्रसव के योग्य होती ही नहीं। ऐसी लड़कियों की सन्तति बेढंगी और जीवनशक्ति-

† 'त्यागमूर्ति'; पृष्ठ ४६, ४७, ४८, ४९, ५०।

विहीन होगी ही। यही कारण है कि हमारे अनेक बालक ऐसे निर्जीव होते हैं कि उनकी परवरिश करना बड़ी मुश्किल का काम होता है। इससे अनेक बालक अपने प्रथम वर्ष में ही समाप्त हो जाते हैं। यही परिणाम बेमेल विवाहों का है। योग्य अवस्था में पहुँचे बिना जो लोग विवाह करें, उनकी औलाद न जी सके, इसमें नई बात क्या !

(४) हमारी स्वच्छन्दता भी बाल-मृत्युओं की संख्या ज़रूर बढ़ाती है। पश्चिमवाले धर्म के लिए न सही पर अपने शरीर-सुख के लिए—अधिक सन्तति हो तो उसकी परवरिश करने में मुश्किल होगी, इस ख़याल से—सन्तानोत्पत्ति पर नियंत्रण रखते हैं। हमारे लिए स्वच्छन्दता रोकने का यह हेतु पूर्ण नहीं। परतु पश्चिम के देशों की अपेक्षा अधिक धार्मिक जीवन बिताने का दावा करते हुए भी धर्म ने इस सम्बन्ध में जो अंकुश लगाये हैं, उनकी हम पर्वा नहीं करते। इससे अनेक माता-पिता धर्म या अर्थ का विचार किये बग़ैर विषयासक्त होकर समय-असमय सन्तानोत्पत्ति किया ही करते हैं। फलस्वरूप, जाने-अनजाने, रोगी बालकों का जन्म होता है, और वे बाल्यावस्था में ही मृत्यु के शिकार होते हैं।

(५) आरोग्य-विषयक नियमों का पूरा ज्ञान माता-पिता में से किसी को भी नहीं होता। जहाँ ज्ञान है भी, वहाँ उसे व्यवहार में लाने का आलस्य है; और जहाँ आलस्य भी नहीं, वहाँ साधनों का अभाव है। नतीजा यह का यही होता है कि देश में बाल-मृत्युयें बढ़ती जाती हैं। अनेक बार सिर्फ़ अज्ञान दाई ही बाल-हत्या का कारण होती है। उसे प्रसव-विषयक पूरी जानकारी नहीं होती, जिससे सामान्य नियमों का भी वह माता से पालन नहीं करवाती। इससे जन्म से ही बालक प्रतिकूल परिस्थिति में परवरिश पाते हैं और फिर मृत्यु के शिकार हो पड़ते हैं। पहले के दो महीनों में बालक बच भी जाय, तो दाई की ही तरह माता के अज्ञान का शिकार होता है; वह चाहे जैसे उसकी परवरिश करके उसे मार नहीं डालती तो भी रोगी तो ज़रूर बना देती है।

(६) महँगाई के कारण दूध-घी आदि पौष्टिक पदार्थों के लाले पड़ते हैं। गेहूँ की ख़ूराक की ज़रूरत है, वहाँ गेहूँ भी नहीं मिलते। और माता का दूध बन्द होने पर, माता को जानकारी होने पर भी, बच्चे को पूरा और अच्छा दूध नहीं मिलता। सर्दी में काफ़ी कपड़े नहीं मिलते। सुविधापूर्ण

घर भी कहाँ? इस प्रकार संयोगों की इतनी प्रतिकूलता है कि बाल-मृत्युओं की इस भयावह मृत्यु-संख्या से छुटकारा मुश्किल हो पड़ा है।

डा० धर्मवीर ने मुख्यतः अज्ञान और दरिद्रता के पहलू पर विचार किया है। * इङ्गलैण्ड की स्थिति के तो आप विशेषज्ञ हैं ही, अतः आपने मुख्यतः उसीसे यहाँ की स्थिति की तुलना की है। वहाँ की मजूर-स्त्रियों के बालक जन्म के समय लगभग ७½ पौण्ड भारी होते हैं, अक्सर १० पौण्ड तक भी होते हुए उन्होंने देखा है, जब कि भारत की ऐसी स्त्रियों के बालक लगभग ६ पौण्ड और अक्सर इससे भी कम ही होते हैं। इसके कारणों में और जो चाहे हो, पर माता को मिलने वाला भोजन और रहन-सहन की स्थिति अवश्य प्रधान हैं। इंग्लैण्ड की स्त्रियों की ख़ूराक पौष्टिक है, रहन-सहन का ढङ्ग उत्तम है, खाने-पीने की उतनी फ़िक्र नहीं करनी पड़ती। विरुद्ध इसके हमारे यहाँ रहन-सहन की तो असुविधायें हैं ही, खान-पान भी अधिकांश भारतीय माताओं का महा निकम्मा होता है। जो दूध सबसे पौष्टिक और

* 'पीपुल'; १८ जुलाई, १९२९।

आवश्यक चीज़ है, वह हमारी कितनी माताओं को मिलता है? दूध ही नहीं, अन्य पौष्टिक पदार्थ भी क्या उन्हें मिलते हैं? घी नहीं, मेवा नहीं, फल नहीं, हमारे यहाँ की माताओं को तो आम तौर पर मिलती हैं सूखी दाल-रोटियाँ और थोड़ी-बहुत सब्ज़ी! ग़रीब भारत के पास और रहा भी क्या है? हाँ, आश्चर्य नहीं, यदि यह भी पेट-भर न मिलता हो! ऐसी दशा में पहले तो खुद माताओं में ही पूर्ण जीवनी-शक्ति नहीं होती, फिर बेचारे बच्चों को वे कहाँसे जीवन दें? बच्चों के ऊपरी पौष्टिक भोजन के लिए तो ऐसी दशा में धरा ही क्या है? फलतः बच्चा माँ के स्तन चूसता रहता है—तबतक, जबतक कि उनमें थोड़ा-बहुत भी दूध निकलता रहे! यह दूध पौष्टिक भी पर्याप्त कहाँ से हो, अतः तृप्ति न होने से ज़रा-ज़रा-सी देर में वह उसे झँझोड़ता है और फिर भी भूखा का भूखा ही रहता है! नतीजा इसका यही होता है कि बीमारी कब्ज़ा कर लेती है। हाज़मे की ख़राबी, निमोनिया, पीलिया इत्यादि पोषण के अभाव में होनेवाले उन नाना रोगों का वह शिकार हो पड़ता है, जिनके पूरे नाम तक निश्चित नहीं हुए हैं! पतले और लम्बे हाथ-पैरों वाले और उनके परिमाण

में भारी सिर के तथा बढ़े हुए पेट के अनेक भारतीय बालक हम देखते हैं, वे सब इसी दुःस्थिति के कुफल हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी कारण हमारे यहाँ मौजूद हैं और काफ़ी परिमाण में हमारी छाती पर मूँग दल रहे हैं। परन्तु इनके सिवा भी एक कारण है; और वह है बाइस उन बालकों की मृत्यु का, जिन्हें आम तौर पर हम 'पाप की सन्तान' कहते हैं। यह है हमारी वैषयिक कमज़ोरी और उसे छिपाने की हमारी कायरता। हम पाप तो करते हैं, पर उसके परिणाम से मुँह छिपाते हैं। बलात् वैधव्य आदि के रूप में चाहे इसमें समाज की लापर्वाही भी थोड़ी-बहुत प्रोत्साहक हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह स्थिति भी न-जाने कितनों के जीवन बिगाड़ने का कारण बन रही है। और लड़की पैदा होने पर उसे मार डालने की प्रथा का तो, चाहे वह कितनी ही न्यून क्यों न हो, निश्चय ही एकमात्र कारण हो सकता है—लड़कियों के विवाह में दिक्कततलब दहेज आदि की ख़र्चीली प्रथायें तथा लड़की के बाप की लड़के के बाप से होने वाली ज़िल्लत!

इन्हीं सब बातों का परिणाम है, जो आज हमारे यहाँ के अतुलनीय भयावह बाल-ह्रास के रूप में प्रकट हो

रहा है और हमें हीन से हीनतर बनाता चला जा रहा है।

[३]

क्या यह स्थिति वाञ्छनीय है? प्रत्येक समझदार यही कहेगा—'हर्गिज़ नहीं।' परन्तु कितने हैं, जिन्होंने इसपर गम्भीरता से विचार कर कभी इसे दूर करने का इरादा किया हो? उसपर अमल करना तो फिर उसके बाद की बात है। यही सबसे ज़बरदस्त कारण है, जो यह स्थिति मिटने के बजाय दिनोंदिन ज़ोर ही पकड़ती जा रही है। परन्तु अमुक व्यक्ति ने अभी तक कोई अच्छा काम नहीं किया तो आगे भी वह अच्छा काम नहीं करेगा, यह सोचना सहज भले ही हो, पर सत्य नहीं। 'Saint has a past, Sinner a future'—प्रायः प्रत्येक सन्त-पुरुष अपने बीते हुए दिनों में कुछ-न-कुछ गिरा हुआ रहा होता है, और प्रत्येक पापी के लिए भविष्य में अपनेको सुधार लेना सम्भव होता है। बाल-ह्रास के प्रति भी हम कितने ही उदासीन क्यों न रहे हों, पर यह सोचना नामुनासिब होगा कि आगे भी हम इसपर ध्यान न देंगे। अग्नि तो प्रज्वलित हो ही चुकी है, किसी-न-किसी दिन यह इस पाप को भस्मसात् करके ही दम लेगी—इसमें रञ्चमात्र सन्देह नहीं। परन्तु यह आव-

श्यक है कि हम सच्चे दिल से इसके लिए प्रयत्नशील हों—जी-जान से इसे दूर करने के लिए भिड़ जायँ।

इसके लिए उन कारणों का दूर किया जाना अत्यावश्यक है, जो इसे जीवित और वृद्धिंगत बनाये हुए हैं। इस सम्बन्ध के अज्ञान को मिटाना सबसे ज़रूरी है और वह सार्वजनिक शिक्षा की दिशा में उपयुक्त परिवर्तन करने से भलीभांति हो सकता है। वायु-शुद्धि के लिए उपाय खोजने और अमल में लाने चाहिएँ, जो सुशिक्षा से सहज ही सम्भव हो सकते हैं। बाल-बेमेल विवाह तथा स्वच्छन्दता पर भी सुशिक्षा अपना अच्छा असर डाले बिना न रहेगी। खूराक और महँगाई पर शिक्षा का सीधा असर नहीं, पर परोक्ष रूप से इस दिशा में भी सुशिक्षा कुछ सहायता ही पहुँचायगी। और 'पाप की सन्तान' तथा कन्या-वध की प्रथा पर भी सुशिक्षा का कोई असर न पड़े, यह असम्भव है। परन्तु प्रश्न यह है, इसे करे कौन ?

किसी भी सभ्य देश में यह उसकी सरकार का कर्तव्य होता है। इंग्लैण्ड आदि देशों की सरकारें अपनी इस ज़िम्मेदारी को समझती ही नहीं बल्कि अमली रूप भी दे रही हैं, परन्तु हमारी सरकार तो विदेशी है। कहने

को वह हमारी कितना ही हितकांक्षी बने, पर व्यवहार तो दूसरा ही चित्र सामने रखता है। डा० रुदरफ़ोर्ड ने ठीक ही कहा है—"ब्रिटिश अधिकारियों को फ़ौज के लिए तो हमेशा धन मिल जाता है, जो उनकी शक्ति का सहारा है। अपनी तनख़्वाह तथा भत्ते बढ़ाने को कभी धन की कमी नहीं पड़ती। लेकिन जब भारतीयों के घर और बाहर की सफ़ाई के रूप में भारतीयों के हित के लिए धन ख़र्च करने की ज़रूरत पड़ती है, तब विदेशी प्रभु 'रुको' चिल्ला पड़ते हैं और नौकरशाही-किफ़ायत की कुल्हाड़ी अपनी पैनी धार के साथ उसपर गिर पड़ती है।" * और स्वयं सरकारी प्रकाशन-विभाग के अध्यक्ष कोटमेन साहब के स्वर में स्वर मिलाकर कहें, तो 'धनाभाव' ही तो वह बहाना है, जिसके नाम पर सरकार इस प्रश्न को टाल देती है!

यही कारण है कि, हम देखते हैं, लेडी डफ़रन, लेडी कर्ज़न और लेडी चेम्सफ़ोर्ड के द्वारा इन कामों को उठाया गया है; स्वयं सरकार की तरफ़ से नहीं। † दाई तैयार करने

---

* 'माडर्न इंडिया'; पृष्ठ १६४।

† '१९२६-२७ में भारत'; स्त्रियों को इलाज की मदद, शिशु-सप्ताह आदि प्रकरण।

व शिशु-सप्ताह मनाने आदि के कुछ काम इनकी तरफ़ से हो भी रहे हैं और उनके लिए हमें इन वाइसराय-पत्नियों की अवश्य प्रशंसा करनी चाहिए। परन्तु यह मानना होगा कि ये काम न तो पूरे सरकारी हैं और न पूरे ग़ैर-सरकारी। ऐसी तीतर-बटेर-स्थिति सरकार और उसके पृष्ठ-पोषकों के प्रोत्साहन से चली भले ही जाय, पर उससे कुछ विशेष लाभ शायद ही हो सकेगा। उचित तो यही है कि सरकार सीधे भारत की इस महत्वपूर्ण समस्या की ज़िम्मेदारी ग्रहण करे और भारतीयों के सहयोग से भारतीय रूप में सच्चाई के साथ इसे दूर करने का प्रयत्न करे। परन्तु शायद यह सम्भव नहीं, जबतक भारत की सरकार भारत के निवासियों के प्रति ज़िम्मेदार न हो—जबतक भारत में स्वराज्य न हो।

ऐसी हालत में क्या किया जाय? यह तो हो नहीं सकता कि स्वराज्य मिलने तक हम इस प्रश्न को टाले रहें। यह तो उलटे उसके मिलने में देर करने का ही कारण बनेगा। फिर स्वराज्य मिलने पर भी विना हमारे प्रयत्न के ही यह सब एकदम मिट जाय, सो बात भी नहीं। अतः सरकार करे चाहे न करे, हमें तो अपने इस कलंक और अपनी इस भयावह दुरवस्था को मिटाने के लिए तुरन्त

प्रयत्नशील हो ही जाना चाहिए। इसके लिए हमें चाहिए कि—

(१) बाल और बेमेल विवाह को बन्द कर दें।

(२) बलात् वैधव्य को मिटाकर जो बहन-भाई संयम से न रह सकते हों, उन्हें बजाय गुप्त-रूपेण 'पाप-सन्तान' पैदा करने के विधवा-विवाह-रूपी 'प्रतिबन्ध' की इजाज़त देकर वैध सन्तति पैदा करने दें।

(३) अपनी विषयासक्ति को नियंत्रित करें। सन्तति पैदा करते समय यह भलीभाँति विचार कर लिया करें कि हम उपयुक्त रूप से इसकी परवरिश कर सकेंगे या नहीं। बक़ौल महात्मा गाँधी—"विषम काल में सन्तानोत्पत्ति करना एक महान् हिंसा है—यह समझकर भी विषयासक्ति को रोकने की ज़रूरत है।" ❀

(४) घर और बाहर की, अपने आसपास की सफ़ाई पर ध्यान दें। आबहवा बिगड़ती हो, ऐसी किसी गन्दी चीज़ को घर और उसके आसपास न रहने दें। सड़कों पर कूड़ा-कर्कट, मलमूत्र, रँधा हुआ नाज-दाल डालने की हमारी

❀ 'त्यागमूर्ति' पृष्ठ ५१।

आदतें छूटनी चाहिएँ। सरकारी महकमे पर इसके लिए बहुत निर्भर न रहें। युवक-सप्ताह में अहमदाबाद के युवकों ने महात्माजी के नेतृत्त्व में इस विषय में अच्छा आदर्श हमारे सामने रक्खा था। मतलब यह कि हमें इसके लिए स्वयं ही कुछ परिश्रम और प्रयत्न करना चाहिए।

(५) आहार पर ध्यान रक्खें। बालक और माता को शुद्ध और यथासम्भव पर्याप्त दूध पहुँचाने के लिए हमें अपनी कुछ फ़ज़ूलखर्चियों, शौकीनियों, यहाँ तक कि कम आवश्यक ज़रूरियात पर भी कुछ अंकुश रखना पड़े तो उसे भी खुशी के साथ बर्दाश्त करें; पर उन्हें दूध ज़रूर पहुचायें, क्योंकि हमारी सारी शक्ति की जड़ तो वही न हैं।

(६) बच्चे की सार-सम्हाल, गर्भिणी के रहन-सहन आदि की विस्तृत और सम्पूर्ण शिक्षा की व्यवस्था हम न भी कर सकें, तो भी इस सम्बन्ध की छोटी-छोटी और सरल एवं खुलासेवार लिखी हुई सचित्र, सुन्दर पुस्तिकायें समय-समय पर निकालने और उन्हें स्त्रियों तक पहुँचाने की व्यवस्था ज़रूर की जाय। समय-समय मैजिक लैण्टर्न के प्रदर्शन द्वारा तथा वैसे भी कुछ विशेषज्ञ स्त्रियों के द्वारा सर्वसाधारण स्त्रियों को स्त्री-सभाओं तथा घरेलू बात-चीतों

में इसे समझाया जाय। और भी जो सम्भव उपाय मौके-मौके पर मिलें, उनका भी इस दिशा में उपयोग किया जाय।

(७) दाइयों की तालीम और सफ़ाई पर ध्यान ही न दिया जाय, इस दिशा में प्रयत्न भी हो।

(८) आरोग्य-संबंधी ज्ञान सर्वसाधारण में फैलाना चाहिए। इसके लिए भी उपर्युक्त प्रकार से पुस्तिकाओं का प्रकाशन और व्याख्यानों की योजना करना ठीक होगा। साथ ही साथ बीमार बच्चों की अच्छी चिकित्सा की भी उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(९) गर्भावस्था में गर्भिणी के स्वास्थ्य का और बाल्यावस्था में बालक के स्वास्थ्य का सतत-ध्यान रक्खा जाय। समय-समय किसी उपयुक्त चिकित्सक से उनके स्वास्थ्य-विषयक जाँच कराते रहना हितकर है, कम-से-कम अस्वास्थ्य का ज़रा भी लक्षण प्रकट होने पर तो तुरन्त ही ऐसा करना चाहिए।

(१०) कन्या-वध को रोकने के लिए उसके कारणों—विवाह आदि के समय वर-पिता से कन्या-पिता की होने-वाली ज़िल्लत तथा दहेज आदि ख़र्चीली प्रथाओं का मिटना,

नहीं तो कम-से-कम उनको उसके लिए वाध्य न किया जाना आवश्यक है ।

(११) महँगाई की समस्या ऐसी है कि सरकार के प्रयत्न ही इस दिशा में सम्पूर्ण कारगर हो सकते हैं। परन्तु महात्माजी का कहना है—"महँगाई एक ऐसी पीड़ा है कि किसी-न-किसी तरह इसका इलाज हो ही कर रहेगा, ऐसी हमारी धारणा है। महँगाई तभी सही जा सकती है, जब प्रजा की कमाई बढ़े। इसलिए या तो कमाई बढ़ेगी अथवा महँगाई दूर होगी, इसमें हमें शक नहीं।" परन्तु उन्हींके शब्दों में, "इतने पर भी हमारा धर्म तो यही है कि महँगाई दूर करने के उपाय अख्यार करें।"

(१२) और अन्त में हम कहें, हममें इसके लिए यह भावना—यह लगन—होनी चाहिए कि जैसे भी हो, अपने वस चलते हम एक भी वालक को नष्ट न होने देंगे; क्योंकि वही तो हमारी भावी और आशामय सम्पत्ति है !

उपाय और भी हो सकते हैं और होंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनपर भी अगर सचाई से अमल किया जाय,

---

* 'त्यागमूर्ति पृष्ठ ५१ ।

हम बालकों के ह्रास को बन्द करने पर तुल पड़ें, तो कोई कारण नहीं कि निकट-भविष्य में ही यह कम-से-कम आज से तो बहुत कम क्यों न हो जायगा! यह तो कहने की ज़रूरत ही नहीं कि हमारे भविष्य की जड़ हमारे बालक ही हैं; जिस प्रकार हम उन्हें बढ़ायेंगे, उसी प्रकार हमारे राष्ट्र का भविष्य निर्मित होगा। अतएव उनपर लग रहे घुन को नष्ट करने का प्रयत्न करना हमारा परम-पवित्र और आवश्यक कर्तव्य है!

७

बुराई का मूल

"बाल-विवाह वास्तव में सब दृष्टियों से उन सब अनिष्टों का मूल कारण है, जिनके कारण हमारा देश पीड़ित हो रहा है।...... जबतक इसको पूरी तौर से और जल्दी ही न मिटाया जायगा, तबतक हमारी स्त्रियों की उन्नति अथवा हमारे देश के पुनरुद्धार की कोई आशा नहीं की जा सकती।"

—श्रीमती पार्वती चन्द्रशेखर अय्यर

[१]

"इस देश का सबसे बड़ा मर्ज़ क्या है?" सर चिमन-लाल सीतलवाड़ के कथनानुसार, "उत्साहपूर्ण मौलिकता, साहस और अध्यवसाय का अभाव।"

ऐसा क्यों है? हममें बल-वीर्य, उत्साह उमङ्ग का अभाव क्यों है? देश, जाति और धर्म के लिए आगे बढ़-बढ़ कर कठिन से कठिन आपदाओं का हँसते-हँसते स्वागत करने की उमङ्ग क्यों नहीं है? किसी साहसपूर्ण कार्य का आरम्भ करते हुए हम क्यों हिचकते हैं? नये-नये आविष्कारों, नये-नये साहसों, नयी-नयी जिज्ञासाओं में हम क्यों नहीं प्रवृत्त होते? अज्ञानता, निर्धनता अल्पायुता और भयावह मृत्यु-संख्या में हम क्यों संसार में सबसे बढ़े हुए हैं? रोटी, प्रकाश और जीवन ने हमें क्यों वञ्चित कर रक्खा है?

हमारे ऊपर विदेशियों का शासन होना—हमारी गुलामी—इसका ज़बरदस्त कारण है, इसमें शक नहीं; और,

महात्मा गाँधी के शब्दों में, " अपने साहस तथा मौलिकता के अभाव और अपनी असहायावस्था के लिए अंग्रेज़ शासकों को हम जो दोष देते हैं वह ठीक ही है।" परन्तु क्या हमारा अपना भी कोई दोष नहीं है ? 'पर को अवगुण देखिए, अपनो दृष्टि न होय' की ही कहावत को हम चरितार्थ करेंगे, यदि अपने दोषों पर हम ध्यान न दें। और, हम तो समझते हैं, विदेशी शासन से भी हमारा अपना दोष ही इसमें मुख्य है।

"उपयुक्त बनने के लिए आवश्यक है कि हम दीर्घजीवी हों;" पर, सरदारबहादुर कप्तान हीरासिंह का कहना है, "ऐसा हो नहीं सकता, जबतक कि बाल-विवाह को न बन्द कर दिया जाय। आज तो 'जल्दी ब्याहना और जल्दी मरना' ही भारतवासियों का लक्ष्य हो रहा है।" और जालन्धर के रायबहादुर बख्शी सोहनलाल के कथनानुसार, "कन्या के शरीर का पूर्ण विकास भी नहीं हो पाता कि (बाल-विवाह के कारण) पति के साथ उसका सहवास शुरू होकर वह गर्भवती भी हो जाती है ! इसीसे आज हमारे देश के उच्च वर्गों में नवजात शिशुओं और विवाहिता तरुण पत्नियों की मृत्यु-संख्या खूब बढ़ी हुई है। क्योंकि शारीरिक विकास के पहले ही सहवास से कन्या का स्वास्थ्य ही नहीं बिगड़ता,

बल्कि उसके जो बच्चे होते हैं वे भी अक्सर दुर्बल और रोगी होते हैं और उनमें से ज्यादातर किसी मामूली-सी बीमारी अथवा मौसमी या आब-हवा की किसी भी सख्ती के सामने ज़रा भी नहीं टिक सकते। इस प्रकार उनमें से कुछ तो पैदा होने के साथ अथवा अपनी बाल्यावस्था में ही मर जाते हैं। किसी क़दर अगर वे ज़िन्दा भी बचते हैं तो अपने जीवन को खदेड़ने के लिए डाक्टरी सार-सम्हाल, डाक्टरी सलाह या डाक्टरी इलाज की हमेशा उन्हें ज़रूरत रहती है; अथवा, दूसरे शब्दों में कहें तो, अपनी और अपने कुटम्बियों या अपने देश की सेवा की अपेक्षा डाक्टरी धन्धे की चाकरी करने ही के लिए वे पैदा होते हैं। ऐसे लोग न तो अच्छे सैनिक हो सकते हैं, न अच्छे शासक; न बाहरी काम करने के लिए अच्छे हो सकते हैं, न भीतरी काम करने के लिए; न तो वे दुश्मन पर हमला करने के योग्य हो सकते हैं, न किसी शत्रु के आक्रमणों अथवा चोर-डाकुओं से ही अपनी रक्षा कर सकते हैं। थोड़े शब्दों में कहें तो, ऐसे बच्चों का जन्म अधिकतर उनके माता-पिताओं के स्वास्थ्य, शक्ति और समृद्धि का नाशक ही होता है; और समाज को उनसे कोई लाभ नहीं होता।"

महात्मा गाँधी भी कहते हैं—"हिन्दू युवकों में जो बहुत-से निःसत्त्व, अंगहीन और डरपोक हैं उसका एक ज़बरदस्त कारण यह बाल-विवाह ही है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।"

१९२१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार, "अमली तौर पर यह माना जा सकता है कि ऋतुमती होने पर या उसके बाद तुरन्त ही प्रत्येक स्त्री ब्याही हुई है और इसलिए हर हालत में ऋतुमती होने के साथ ही सम्भोग शुरू हो जाता है।"

और इसीका यह परिणाम है कि प्रत्येक पीढ़ी में ३२,००,००० मातायें बच्चा पैदा होने के कष्टों से पीड़ित होकर इस संसार से ही त्राण पा जाती हैं! ब्रिटिश साम्राज्य और फ्रांस, बेलजियम, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के कुल जितने आदमी गत संसार-व्यापी महासमर में मारे गये थे, कहते हैं, उनकी इकट्ठी संख्या से भी यह संख्या कहीं ज्यादा है। फिर बालकों की मौतों का तो कहना ही क्या! जैसा कि एक बार पहले लिखा जा चुका है, "हर साल कम-से-कम २० लाख भारतीय बालक मृत्यु का शिकार होते हैं; फिर जो ज़िन्दा बचते हैं उनमें से भी अनेक कमज़ोर और दुबले-पतले (रोगी) बने रहते हैं। ...प्रत्येक पाँच या कदाचित् चार ही

बच्चों में एक तो अपनी पैदायश के पहले ही वर्ष में काल का ग्रास बन जाता है।" पहले वर्ष में, पैदा होने के एक साल के अन्दर, मरने वाले हमारे बालकों के अंक देखना चाहें तो विभिन्न प्रान्तों में, हज़ार पीछे, सन् १९०२–११ में वे इस प्रकार थे—मद्रास १९०; बंगाल २७०; बिहार-उड़ीसा २०४; पंजाब २०६; बबई ३२०; ब्रह्मा ३२२, संयुक्तप्रान्त २५२। विदेशों में यही अंक इस प्रकार हैं—न्यूज़ीलैण्ड (१९१२) ५१; नारवे (१९१२) ६८; स्वीडन (१९११) ७२; आस्ट्रेलिया (१९१२) ७२; फ्रांस (१९१२) ७८; नेदरलैंड्स (१९१२) ९१; स्विट्ज़रलैंण्ड (१९१२) ९४; डेनमार्क (१९१२) ९४; आयर्लैण्ड (१९१२) ९७; इंग्लैण्ड और वेल्स (१९१६) ९८; स्काटलैण्ड (१९१२) ११०।

फिर, माननीय मालवीयजी के कथनानुसार, "इस विषय में दुर्भाग्यवश जो सबसे अधिक पीड़ित हैं वे तो ग़रीब लोग ही हैं। उच्च श्रेणियों की अपेक्षा ग़रीब लोगों में कहीं ज़्यादा बाल-विवाह होते हैं।"

[२]

बाल-विवाह! ओह, कितना नाशक और भयानक है यह कर्म! सरदारबहादुर कप्तान हीरासिंह के शब्दों में कहें

तो, "क्या यह पाप नहीं है कि किसी ९–१० वर्ष की बच्ची अथवा १० साल के बच्चे को हम पति-पत्नी के नाम से सम्बोधन करें ? यह तो शर्म की बात है।...वर्त्तमान और भावी पीढ़ी के लिए एक दुर्भाग्य है...९–१० वर्ष की कन्यायें, जो स्वयं बच्ची हैं और पत्नियाँ बनने के बजाय जिन्हें अपनी गुड़ियों से खेलना चाहिए था, बच्चे-बच्चियों की माँ हैं; और जिन लड़कों को स्कूल के विद्यार्थी होना चाहिए था, वे आधे दर्जन बाल-बच्चों के बड़े कुटुम्ब को सम्हाल रहे हैं !"

इस प्रकार, महात्माजी के शब्दों में—

"हमारे जिन होनहार लड़के-लड़कियों पर पूरे तौर पर हमारे समाज का भविष्य निर्भर है, उनमें से हज़ारों की जीवनी शक्ति को यह नष्ट कर रहा है।

"हर साल हज़ारों ऐसे दुर्बल लड़के-लड़कियाँ इसके कारण अस्तित्व में आ रहे हैं, जो अपरिपक्व माता-पिताओं से पैदा हुए हैं।

"इस समय हमारे समाज में मरे बच्चे पैदा होने और बाल-मृत्युओं का जो आधिक्य है, उसका यह एक बड़ा ज़बर-दस्त कारण है।

"(१) संख्या, (२) शारीरिक शक्ति और साहस, तथा

(३) सदाचार में हिन्दू-समाज का जो क्रमिक एवं सतत ह्रास हो रहा है उसका भी यह एक ज़बरदस्त कारण है।"

क्योंकि, जैसा इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान और इस विषयक एक सुन्दर ग्रन्थ के लेखक अध्यापक एन० एस० फड़के ने बताया है,—

"(१) बाल-विवाह शारीरिक शक्ति को नष्ट करता है। प्रजा की पौरुष-शक्ति को धीरे-धीरे कम ही नहीं करता, बल्कि सारी शक्ति और साहस, समस्त मानसिक और नैतिक बल से ही अन्त में उन्हें वंचित कर देता है।

"(२) लोगों की बढ़ती हुई शारीरिक दुर्बलता तथा मानसिक और नैतिक कायरता के फल-स्वरूप, विदेशी आक्रमणकारी सहज ही उन्हें जीत लेते हैं और अपनी राजनैतिक परतंत्रता में रखते हैं।

"(३) इसके कारण समय से पहले ही युवती कुमारियों पर मातृत्व का भार पड़ जाता है; और, बच्चों के पालन-पोषण तथा शुश्रूषा का काम भी इन्हीं अनुभवहीन और दुर्बल बालमाताओं पर होने के कारण, सन्तान को बाल्यावस्था में ही घुन लग जाता है।

"(४) लड़के-लड़कियों की शिक्षा इसके कारण शीघ्र ही

बन्द हो जाती है, नहीं तो कम-से-कम उसमें कुछ बाधा तो पड़ती ही है।

"(५) इससे बालविधवाओं की संख्या बढ़ती है और उसके कारण समस्त समाज में अल्पायुता उत्पन्न होती है।

"(६) जब कि माता-पितादि अभिभावकों के द्वारा लड़के-लड़कियों के विवाह निश्चित किये जाते हैं, तब, ऐसी दशा में, उनमें सच्चा प्रेम मुश्किल से ही पाया जाता है। इससे समाज को वीरतापूर्ण घटनाओं को अंकित करने का कोई मौक़ा नहीं मिलता; क्योंकि वह तो तभी सम्भव है, जब मनुष्यों के हृदय प्रेम के द्वारा ऐसे गहन रूप से उद्वेलित हों कि उसके सामने वे मौत की भी परवा न करें।

"(७) बाल-विवाह से मनुष्य युवावस्था में ही अपनी शक्ति भर परिश्रम करके रोटी कमाने के भारभूत धन्धे में पड़ जाते हैं और उसके दबाव में पड़ कर किसी साहसी विचार या कार्य का उत्साह उनमें कभी पैदा नहीं होता। ऐसे लोगों का कोई राष्ट्र साहित्य, उद्योग, विज्ञान अथवा मानुषी प्रगति के किसी अन्य विभाग में कोई प्रमुख स्थान भी कभी प्राप्त नहीं कर सकता।"

यही कारण है कि आज हम बल-वीर्य और उत्साह-उमंग

से ही हीन नहीं है, बल्कि हमारी परमायु का औसत भी संसार के दूसरे देशों के मुक़ाबले कहीं कम है। और सात समुद्र पार के एक ज़रा-से देश के लोग अपने सिर्फ़ '६७४३२' मुल्की व फ़ौजी व्यक्तियों की शक्ति से २१,९०,००,००० व्यक्तियों के हमारे देश पर उद्दण्डता के साथ जो हुकूमत कर रहे हैं, उसमें भी इस कुप्रथा से उद्भूत दुष्फल ही न उनके मुख्य सहायक हैं?

[३]

बाल-विवाह का दुष्परिणाम यों तो, समष्टि-रूप से, समस्त राष्ट्र के लिए दुःखदायी है; पर इसका सबसे कड़वा फल तो बेचारे महिला-वर्ग को ही भुगतना पड़ता है। इस विषय में तो वे सचमुच अपने 'अबला' नाम को ही सार्थक करती हैं।

आह! कल्पना कीजिए ज़रा उस कन्या की, जिसने अभीतक सिवाय गुड़ियों के खेल अथवा माता-पितादि सम्बन्धियों के लाड़-प्यार के और कुछ जाना ही नहीं। शिक्षा तो कहाँ, घर-गृहस्थी के काम-धन्धों से भी जो पूरी वाक़िफ़ नहीं हुई—दुनिया में क्या-क्या होता है, कैसे-कैसे छल-प्रपञ्च चलते हैं, पति-पत्नी का सम्बन्ध कैसा होता है,

मातृत्व क्या और कैसा भार है, इन सब बातों की तो उस बेचारी को गन्ध भी कहाँ? वही कन्या उसके माता-पितादि अभिभावकों द्वारा, नहीं कह सकते कि समाज के भय से अथवा उस 'बला' को अपने सिर से जल्दी से जल्दी टाल कर शान्ति का साँस लेने के उद्देश्य से, उसकी इसी अबोधावस्था में, ब्याह दी जाती है—यह भी परवा नहीं कि जिससे यह ब्याही जा रही है वह उसका समवयस्क भी है या नहीं! कभी समवयस्क भी होता है, तो अधिकतर उससे कहीं बड़ा और कभी-कभी छोटा भी! जब 'कन्या-ऋण' से मुक्त होना ही सर्वप्रधान बात है, तो फिर इस बात के जानने की ज़रूरत भी क्या कि वर महाशय ५० वर्ष के 'दुहेजू' हैं या क़ब्र में पैर लटकाये हुए 'तिहेजू-चुहेजू' हैं? फिर एक-दो विवाहिता पत्नियाँ और दो-चार रखेलियाँ भी उनके मौजूद हों, तो कौन हर्ज की बात है?

ऐसी स्थिति में वह अनजान बालिका ससुराल पहुँचती है, जहाँ सभी नये और बिलकुल अपरिचित व्यक्तियों से उसका पाला पड़ता है। बेचारी को शिक्षण तो कुछ मिला होता नहीं, पर अनेक भार सिर पर आ पड़ते हैं। पति को अनुकूल बनाये रखने के लिए उसे प्रयत्नशील

होना चाहिए; सास-ससुर-ननद-देवर-जेठ से लेकर देवर-भतीजा-भतीजी जैसे बड़े-छोटे सभी लोगों के ताने-तिसने-झिड़की-मज़ाक़ माथे पर ज़रा भी बल न लाते हुए चुपचाप सहना और उन्हें खुश रखने का प्रयत्न करना चाहिए; घर-गृहस्थी के कामों में तो यथावश्यक योग देना ही चाहिए, पर स्वास्थ्य के लिए नाशक रूप से परदा और दिखावटी लज्जा का पालन करके अपने 'बहूपने' की भी लाज निबाहनी ही चाहिए।

इन सब बातों से उसका स्वास्थ्य तो विवाह के दूसरे ही दिन से बिगड़ना शुरू हो जाता है। फिर विवाह का एक ख़ास उद्देश्य आम तौर पर पुत्रोत्पत्ति माना जाने के कारण, इच्छा हो या न हो, उन्हें तुरन्त ही सम्भोग में भी प्रवृत्त होना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि वे गर्भवती होती हैं—उस अवस्था में, जब कि उसके कष्टों और ज़िम्मेदारियों को उन्हें न तो अनुभव होता है, न ज्ञान ही। और ऐसे, समय से पूर्व, अपरिपक्वावस्था के, तथा अस्वाभाविक गर्भ-धारण का जो परिणाम होता है, वह आज हमारे सामने है ही। बालक होने से पहले ही वे नाना प्रकार के रोगों में ग्रसित हो जाती हैं; इससे न तो उनका स्वास्थ्य क़ायम

रहता है, न बालक को ही पर्याप्त पोषण मिलता है। ऐसी दशा में या तो गर्भस्राव ही हो जाता है; अथवा बालक होते हैं तो मरे या कच्चे, दुर्बल, रोगी, निकम्मे। ऐसी माताओं को बाल-पालन की शिक्षा भी नहीं होती, जिससे अधिकांश बालक तो साल भर के अन्दर ही चल बसते हैं; और जो बचते हैं वे बिलकुल निकम्मे, आजन्म दवा आदि कृत्रिम साधनों के आधार पर बमुश्किल तमाम बसर करने वाले होते हैं। सन्तान के भूखे माता-पिता फिर-फिर सन्तानोत्पत्ति का प्रयत्न करते हैं; और इस प्रयत्न में बेचारी माताओं का मानों ख़ात्मा ही हो जाता है। पहले गर्भ से ही वे बहुत-कुछ सत्त्वहीन हो जाती हैं; फिर तो किसी काम की ही नहीं रहतीं। नाना प्रकार की भयङ्कर बीमारियों में ग्रसित हो जाती हैं और पतियों की काम-वासना की पूर्ति के अनुपयुक्त होकर, उनकी और उनके साथ अन्य घरवालों की भी अप्रियपात्री बनकर, दुःखमय जीवन बिताती हुई इस संसार से बिदा होती हैं। उन्हें जो-जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वे लिखने की चीज़ नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव से ही जाने जा सकते हैं!

इन्हीं सब बातों के कारण, मद्रास-कांग्रेस पर लिखते

हुए, लाला लाजपतराय के हृदय से सहसा निकल पड़ा था कि "जो जाति विवाह के मामले में अपनी कन्याओं के साथ हिन्दुओं के ऐसा दुर्व्यवहार करती है, उसमें आत्म-सम्मान का भाव भी नहीं होता है। मिस मेयो जैसे व्यक्ति मेरे ऐसे वक्तव्य का दुरुपयोग कर सकते हैं, यह मैं जानता हूँ; पर इस बारे में मैं ऐसे ज़ोरों से महसूस करता हूँ कि उस ख़तरे को उठाने में भी मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं होती। ...बाल-विवाह की प्रथा को तो एकदम उठा देना चाहिए, यदि हिन्दू अपने सन्मान को पुनर्जीवित करना चाहते हैं।" और महात्माजी कहते हैं, "आम लोग जिसे धर्म मान रहे हैं वह धर्म नहीं, अधर्म है; और इसलिए सर्वथा त्याज्य है। इसी अधर्म के फल-स्वरूप आज हम अगणित बालिकाओं का वध कर रहे हैं। भावी इतिहास अवश्य ही इस प्रथा के लिए हिन्दू पुरुषों की निन्दा करेगा।...इतिहास की फ़िक्र हम क्यों करें, बाल-विवाह का कड़ुवा फल हम स्वयं ही चख रहे हैं।" हमारी नम्र-सम्मति में, यही सारी बुराइयों का मूल है। अतएव जबतक हम प्राण-पण से इसको दूर करने का उद्योग न करेंगे, तबतक भारत कभी फूल-फल न सकेगा। हाँ, प्रश्न यह ज़रूर है, आख़िर यह बुराई मिटे कैसे ?

[४]

जैसा कि अ० भा० आर्य-वैश्य-सम्मेलन के मद्रासाधिवेशन के अध्यक्ष-पद से सेठ जमनालाल बजाज़ ने कहा, "बाल-विवाह करने में मुख्यतः तीन कारण समझे जाते हैं; एक तो माता-पिताओं का मोह, दूसरा यह ख़याल कि यदि जल्दी ही सम्बन्ध नहीं किया जायगा तो आगे अच्छे लड़के-लड़की नहीं मिलेंगे, तीसरा यह ख़याल कि लड़के चरित्रभ्रष्ट हो सकते हैं।" पर, उन्हींके कथनानुसार, इनमें "पहला कारण तो अविवेकपूर्ण है। केवल अपने थोड़े-से कल्पित सुख की पूर्ति के लिए अपने प्रिय बालक-बालिकाओं का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। दूसरा कारण भी व्यर्थ है। यदि समाज अच्छी संख्या में बाल-विवाह को रोकने का निश्चय कर ले तो बहुत-से लड़के-लड़की बड़ी उम्र में शादी के लिए उपलब्ध रहेंगे। तीसरे कारण में भी कुछ तथ्य नहीं है; क्योंकि यदि हम अपने बालकों की समुचित देख-भाल रक्खें, यदि उन्हें शौक़ीन और आडम्बर-युक्त बनने से बचा कर उनमें सादगी का समावेश करें, तो कोई कारण नहीं है कि वे चरित्र-भ्रष्ट हो जायँ।"

कुछ लोग शास्त्रों की दुहाई देते हैं। कहते हैं कि शास्त्रों

में बाल-विवाह की आज्ञा है और यदि हम उसे न मानेंगे तो पाप के भागी होंगे। ऐसे लोगों से महात्मा गाँधी का कहना है—"शास्त्रों के झमेले में पड़कर हमें अत्याचार तो हर्गिज़ न करना चाहिए। शास्त्र तो वही माना जायगा कि जो हमें मोक्ष की ओर प्रेरित करे। इसी प्रकार जो संयम सिखावे वही धर्म मानना चाहिए—पाप के कुँए में डूब मरने वाला तो कर्म-हीन ही माना जायगा।" "हाँ," महात्माजी लिखते हैं, "जो यह समझते हों कि शास्त्र कहे जाने वाले ग्रंथ में जो कुछ लिखा हो वह सब ही सच है, उसमें कोई फेर-बदल नहीं हो सकता, उनके सामने तो बार-बार धर्मसंकट आते ही हैं। क्योंकि, एक ही श्लोक के कई अर्थ हो सकते हैं और वे एक-दूसरे के विरोधी भी होते हैं। फिर शास्त्रों में कुछ सिद्धान्त तो स्थिर होते हैं और कुछ काल, क्षेत्र इत्यादि का विचार कर उस काल या क्षेत्र पर ही लागू होते हैं।... तदुपरान्त यह बात भी नहीं कि प्रत्येक श्लोक एक ही हाथ से अथवा एक ही समय लिखा गया हो। अतएव जिन्हें ईश्वर से डर कर चलना हो और जो सदाचार के नियमों का भङ्ग करना नहीं चाहते, उन्हें तो सदाचार के विपरीत सब बातों का परित्याग करना ही चाहिए। स्वेच्छाचार कदापि धर्म नहीं

हो सकता और हिन्दू-धर्म ने तो संयम की कोई सीमा रक्खी ही नहीं है।"

मद्रास की प्रसिद्ध महिला-नेत्री श्रीमती म्युथुलक्ष्मी रेड्डी तो, 'सोशल सर्विस क्वार्टरली' में, यह विश्वास दिलाती हैं कि "हमारे धर्म में ऐसा कोई आदेश नहीं है कि जो इस आत्मघाती प्रथा का समर्थन करता हो। उनका कहना है, "पहले के हिन्दुओं में स्वयंवर होते थे और उनमें स्त्रियों को अपने पति चुनने में पूर्ण स्वतंत्रता रहती थी। यही इस बात का निश्चित प्रमाण है कि उस समय कन्याओं की विवाह-वय हर हालत में १६ वर्ष से ऊपर ही रहती होगी। क्योंकि ११, १२, १३, यहाँ तक कि १४ वर्ष की अवस्था की कन्याओं में भी इतनी बुद्धि नहीं हो सकती कि अपने जीवन-साथी के चुनाव का वे पर्याप्त निर्णय कर सकें। और प्राचीन हिन्दू इस बात को न समझते हों सो बात भी नहीं; क्योंकि यह समझने के लिए उनमें काफ़ी बुद्धि थी।"

"फिर भी यदि कट्टर लोग इसे धर्म ही समझें, तो", श्रीमती रेड्डी का कहना है, "मैं कहती हूँ, 'The old order must change yielding place to the New.' नयी व्यवस्था के लिए पुरानी व्यवस्था हट ही जानी चाहिए

क्योंकि, जगत् स्थायी नहीं है उसमें हमेशा प्रगति होती रहती है; और, इसलिए, अगर हम बढ़ना चाहते हैं, तो संसार के साथ ही हमें भी अपना क़दम बढ़ाना होगा।"

"बाल विवाह के पक्ष में कुछ दलीलें और भी दी जाती हैं, परन्तु, श्री जमनालालजी अपने उसी भाषण में कहते हैं, "यदि इससे होने वाली हानि और लाभ दोनों को तोल कर देखें, तो इसमें हानि का पलड़ा बहुत भारी मिलेगा।" इसीलिए सरदारबहादुर कप्तान हीरासिंह जैसे स्पष्ट वादी कहते हैं—"ऐसे समाज में मैं नहीं जाना चाहता। मुझे शर्म मालूम होती है; क्योंकि वहां न तो पुरुषत्व है, न स्त्रीत्व और १२ वर्ष की छोटी सी बालिका को पत्नी के रूप में अपने साथ समाज में ले जाते हुए मुझे शर्म होनी भी चाहिए।"

ऐसी स्थिति में क्या किया जाय?

[५]

इस दुःस्थिति को मिटाना तो प्रायः सभी बुद्धिमान् चाहते हैं; पर, उपायों में कुछ मतभेद है।

रायसाहब हरविलास सारडा का कहना है—"अगर कोई सामाजिक प्रथा या धार्मिक क्रिया हमारे मनुष्यता के

भाव पर जब्र करती हो, अथवा प्रजा के किसी असहाय वर्ग पर उससे अत्याचार होता हो, तो क़ानून द्वारा उसमें हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। और ३-४ वर्ष की लड़की से शादी करके ९-१० वर्ष की लड़की के साथ सहवास की छूट दे देना कहीं भी मनुष्यता के भाव पर जब्र करना ही है।"

सरदारबहादुर कप्तान हीरासिंह अपने बेबाक सिपाही याना ढंग से इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—"बाल-मृत्युओं को रोकने का असली उपाय तो यही है कि उन माता-पिताओं की ही ख़बर ली जाय कि जो ऐसे बच्चे पैदा करते हैं और इससे भी बढ़कर यह कि हमारे उन बहुत से दोस्तों के चाँटे लगाये जायँ कि जो नीरोग बच्चे पैदा करने के लिए सहवास की उम्र बढ़ाये जाने का हमेशा विरोध करते रहते हैं।"

इस दिशा में उनके और नागपुर के डा० हरिसिंह गौड़ के सतत प्रयत्नों से कुछ हुआ भी है। पर, जैसा कि उत्तर-भारत के नवाब सर साहबज़ादा अब्दुलक़य्यूम ने कहा, 'ज़रा यह तो सोचिए कि ऐसे अपराधियों को कौन पकड़ेगा कौन उनकी जांच करेगा, कौन गवाह होंगे, और कौन उन निर्णयों पर अमल करावेगा?—फिर एक दूसरी भी कठिनाई

है...पहले तो आप तरुण लड़के-लड़की को ब्याहने, साथ-साथ रहने और काम-वासना को भड़काने का मौक़ा देते हैं और तब क़ानून बना कर सिर्फ़ इसलिए, उनके स्वाभाविक सम्भोग को रोकना चाहते हैं कि अमुक अवस्था तक वे नहीं पहुंचे हैं। अच्छा, फ़र्ज़ कीजिए कि ऐसा क़ानून बन गया, और तरुण लड़के-लड़की सम्भोग से रोके जाने लगे; तब? मैं समझता हूँ उस हालत में अधिकांश लड़के वेश्याओं की शरण जायँगे। जब तक कि आप बाल्यवस्था में विवाह होने देते हैं, तब तक कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि आप ऐसे क़ानून बनायें कि जो उनके निजू जीवन में ख़लल डालें।"

मतलब यह कि बुराई को ढकने से काम नहीं चलेगा। इस स्थिति को बदलने के लिए तो हमें इस बुराई के मूल पर ही कुठाराघात करना होगा। और वह यदि क़ानून के द्वारा हो, तो इसमें शक नहीं कि इस स्थिति पर तत्काल और ज़ोरदार प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि आज की हमारी मनोवृत्ति कुछ ऐसी ही है कि कोई अच्छी बात भी हम तबतक कार्य में परिणत नहीं करते, जबतक कि कोई ऊपरी दबाव हम पर न पड़े। और इसीलिए कई महानुभाव इसका प्रतिबंधक कानून बनाने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। पर, मेरी

नम्र सम्मति में, इसके लिए हमें केवल कानून पर ही अवल-
म्बित न रहना चाहिए। विदेशी सरकार अगर क़ानून बना-
यगी भी तो हमारे प्रति किसी सदुद्देश्य से प्रेरित हो कर
नहीं और इसलिए उस अवस्था में उसका हम पर कोई
अन्य, और शायद किसी क़दर इससे भी अधिक बुरा, असर
होना भी असंभव नहीं फिर, जैसा कि सरदारबहादुर कप्तान
हीरासिंह ने ही स्वीकार किया है, यह जोश भी कौन्सिल-
भवनों तक ही परिमित रहता है। उनके स्वर में स्वर मिला
कर कहें तो सब बातें, और कोरी बातें ही करते हैं; और,
होता क्या है? सब कुछ कौंसिल भवन और सभा-मंच पर ही
छोड़ दिया जाता है—घरों तक कुछ नहीं पहुंचता, न कुछ
किया ही जाता है।

तब ? इसके लिए हमें कुछ ठोस काम करना होगा।'
ला० लाजपतराय कहते हैं—"जाति के पुरुषो, अपनी स्त्रियों
की सुध लो। यदि तुम स्वस्थ, उपयुक्त, स्वाभिमानी और
स्वावलम्बी मनुष्यों के पिता और वास्तविक मनुष्य बनना
चाहते हो।...स्वराज्य के लिए अपना आन्दोलन शौक से
जारी रक्खो; पर जिनके बिना स्वराज्य स्वयं एक ख़याली और
हवाई चीज़ है उन राष्ट्रीयता की भित्तियों की उपेक्षा मत करो।"

ठीक! भारतीय पुरुष-समाज को लालाजी की इस पुकार पर ज़रूर ध्यान देना चाहिए। पर अकेले पुरुषों के किये यह काम नहीं होने का। स्वयं स्त्रियों को इस ज़बरदस्त बुराई के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी होगी। हम जानते हैं कि अ० भा० महिला-परिषद् आदि में उन्होंने बाल-विवाह के विरोध में प्रस्ताव पास किये हैं, और वे इसे रोकना चाहती हैं। पर ख़ाली ज़बान या कलम नहीं, उनका कार्य ही इस दिशा में कुछ कारगर हो सकता है। श्रीमती फ्लारेंस वेज़-वुड भी, जो मिस मेयो के अतिरंजित आक्षेपों से दुःखी हुई हैं, भारतीय महिलाओं से यही अपील करती हैं—"भारतीय स्त्रियों को स्वयं बाल-विवाहों के विरुद्ध खड़े होना चाहिए और उनमें इतना साहस होना चाहिए कि जो प्रथा राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए बुरी सिद्ध हो चुकी है उसको तोड़ डालें।" इसके लिए यह लिखते हुए कि "जब हम किसी प्रकार का सुधार जारी करना चाहते हैं तो हम आपस में संगठित होते हैं और अधिक से अधिक जितने लोग हममें मिल सकें उन्हें मिला कर उस सुधार के लिए काम करने को प्रतिज्ञा-बद्ध होते हैं" भारतीय स्त्रियों से वह कहती हैं—"स्त्रियों को चाहिए कि बाल-विवाह को रोकने के लिए भारत

के गाँव-गाँव और जाति-जाति में अपनी एक-एक समिति बना लें और हरएक यह प्रण कर लें कि अपने बच्चों का विवाह १८ वर्ष की उम्र होने तक हम हर्गिज़ न होने देंगी।" महात्माजी कहते हैं—"क्या स्त्रियां हमेशा पुरुषों के सिर दोष मढ़ कर ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझती रहेंगी? बाल-पत्नियों और बाल-विधवाओं में काम करने वाली ऐसी वीर महिलायें कहाँ हैं, जो उस वक़्त तक न तो चैन लेंगी, और न पुरुषों के करने को कोई बाक़ी ही रक्खेंगी जबतक कि बाल-विवाह बिलकुल असम्भव न हो जाय?"

यही इस बुराई के मूल नाश करने की असल कुँजी है। सबसे पहले तो स्वयं स्त्रियों में इसकी ऐसी तीव्र लगन हो। फिर वे स्वयं दृढ़ता के साथ उसे कार्यान्वित करें। इसके बाद ज़बान, क़लम और घर-घर घूम-फिर कर विनय व तर्कों द्वारा औरों में भी ऐसी ही लगन और दृढ़ता उत्पन्न करें। उधर देश के तरुणवर्ग भी, कुछ तो अपने आप और कुछ अपने मातृवर्ग से स्फूर्ति प्राप्त करके, यह दृढ़ निश्चय कर लें कि हम पर कितना ही दबाव क्यों न डाला जाय; पर हम बाल-विवाह न करेंगे, न करेंगे, और 'हर्गिज़ नहीं करेंगे।' तभी हम इस राक्षस से त्राण पा सकते हैं।

८

पाप या पुण्य ?

"ऐसा एक भी हिन्दू नहीं है, जो अपने ही घर के अनुभव से इस बात को न जानता हो कि वैधव्य क्या चीज़ है। विधवा का जीवन व्यथा, यन्त्रणा, कष्ट-सहन और शुष्कता का जीवन होता है।"

—कुमार गङ्गानन्दसिंह

× × ×

"ऐसी असंख्य अभागिनी स्त्रियाँ वर्तमान हैं जो होश सम्हालने के पहले ही विधवा हो चुकी हैं। यह प्रथा घोर पापपूर्ण और कष्टदायक है। × × क्या इस देश के पुत्र ऐसी बात को, जो कि पवित्र भारत देश के लिए कलंक स्वरूप है, अधिक समय तक सहन कर सकते हैं?"

—पार्वती चन्द्रशेखर अय्यर

[१]

सबसे हाल के सरकारी विवरण (Statistical Abstrcat for British India. 1914--15 to 1923--24) के अनुसार हमारे यहाँ २, ६८, ३४, ८३८ विधवायें हैं।

भारत की कुल आवादी में 'टाइम्स' की ईयरबुक के अनुसार, प्रति सहस्र पुरुषों पीछे १००८ स्त्रियाँ विवाहित हैं। विभिन्न प्रान्तों में यह औसत इस प्रकार है—

आसाम	९७६
बंगाल	९६६
बिहार-उड़ीसा	१०३४
बम्बई	९८७
ब्रह्मा	९२४
मध्यप्रान्त-बरार	१०२४
मद्रास	१०६१

पंजाब	१०२१
संयुक्तप्रान्त	१०१३
बड़ौदा	७८३
हैदराबाद	६७८२

इनमें सिर्फ़ १५ वर्ष तक की वय-वालियों की संख्या निम्न प्रकार है—

वय	विवाहित
१–१२ मास	१३,२१२
१–२ वर्ष	१७,७५३
२–३ ,,	४९,७८७
३–४ ,,	१,३४,१०५
४–५ ,,	३,०२,४२५
५–१० ,,	२२,१९,७७८
१०–१५ ,,	१,००,८७,०२

विधवाओं का विवरण श्री कंचनलाल मगनलाल खाण्ड-वाला ने दिया है। उसके अनुसार १५ वर्ष तक की विध-वायें इस प्रकार हैं—

वय	विधवायें		
	हिन्दू	मुसलमान	कुल
१-१२ मास	८६६	१०९	१,०१४
१-२ वर्ष	७५५	६४	८५६
२-२ ,,	१,५६४	१६६	१,८०७
३-४ ,,	२,९८७	५,८०९	९,२७३
४-५ ,,	७,६०३	१,२८१	१७,७०३
५-१० ,,	७७,५८५	१४,२७६	९४,२४०
१०-१५ ,,	१,८१,५०७	३६,२६४	२,२३,०३२

प्रान्तवार लें, तो १० वर्ष तक की वय-वालियों की संख्या है—बंगाल १७,५८२; विहार २६,२५७; बम्बई ६,७२९; मद्रास ५,०४६; संयुक्तप्रांत १७,२०९। और कुल जन-संख्या में विधवाओं का औसत, 'टाइम्स' की इयर-बुक के अनुसार है, प्रति सहस्र १७५०, जो विभिन्न वयों में इस प्रकार विभाजत है—

वय	प्रति सहस्र औसत
०–५ वर्ष	.७
५–१० ,,	४.५
१०–१५ ,,	१६.८
१५–२० ,,	४१.४
२०–२५ ,,	७१.५
२५–३५ ,,	१४६.९
३५–४५ ,,	३२५.२
४५–६५ ,,	६११.४
६५ और इससे अधिक	८३४.०

इंग्लैंड और वेल्स में यह औसत है सिर्फ़ ७३.२— और वह भी किस वय का?

वय	प्रति सहस्र विधवायें
२०–२५ वर्ष	१.५
२५–३५ ,,	१३.१
३५–४५ ,,	५०.५
४५–६५ ,,	९३.३
६५ और इससे अधिक	५६५.९

इसका कारण? हमारे यहाँ विधवाओं का इतना संख्या-बाहुल्य क्यों है?

उक्त 'ईयरबुक' ही के लेखानुसार, इसका कारण है "कुछ तो बाल-विवाह, कुछ पति-पत्नी की उम्रों का बेमेलपन; पर ख़ास वजह है विधवाओं का पुनर्विवाह न होना।"

[२]

विधवा? आह, कैसा हृदय-स्पर्शी शब्द है यह! विधवा की पुण्य तपश्चर्या के स्मरण मात्र से जहाँ एक ओर मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है; तहाँ दूसरी ओर, उनकी वर्त्तमान दुर्दशा देख, करुणा और शोक के आँसू उमड़ आते हैं!!

महात्माजी लिखते हैं—और बिल्कुल ठीक लिखते हैं—"वैधव्य को मैं हिन्दू-धर्म का भूषण मानता हूँ। विधवा बहन को देखने पर अनायास ही, उसके प्रति, मेरा मस्तक झुक जाता है।...सुबह के वक़्त तो उसका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो जाता हूँ। उसका आशिर्वाद अपने लिए बड़ी भारी बख़्शीश मानता हूँ। अपने सारे दुःख उसे देख कर भूल जाता हूँ। विधवा के सामने पुरुष तो तुच्छ प्राणी है।

विधवा के धैर्य का अनुकरण तो मानों असम्भव ही है। विधवा को प्रचीन काल की जो विरासत मिली है, उसके सामने पुरुष के क्षणिक त्याग की पूंजी का क्या मूल्य ?"

कितनी उदात्त और पवित्र कल्पना है ! परन्तु, आह, इन्हीं बहनों की आज क्या दशा है ? ला० लाजपतराय के शब्दों में कहें तो वर्णनातीत है। सचमुच आज उनकी जो दशा है उसे देख आश्चर्य नहीं, यदि निर्जीव पत्थर भी बिल-बिला कर फट पड़े ! उनके दुःखों और उनकी दुर्दशा को समझने के लिए हमें हृदय को ज़रा मज़बूत करना होगा और तब सूक्ष्म विचारोपरान्त उनकी वास्तविक स्थिति को हम कहीं थोड़ी-बहुत समझ सकेंगे।

ज़रा कल्पना तो कीजिए किसी बेचारी विधवा की। यह देखिए वह हड्डियों की ठठरी, विषाद की मूर्त रूप, काम-काम-काम-बस यही रात-दिन की उनकी धुन ! कोई बात पूछने वाला नहीं; कोई ढंग से बोलने वाला नहीं; आराम-सुविधा अलग, दुःख-दर्द की ही पूछने वाला कौन ? बस, काम करो काम; क्या मतलब किसी के राग-रंग और हँसी-खुशी से ? क्या पर्वाह जीवन के कष्टों की ? क्या ज़रूरत अच्छा खाने-पीने की ? क्या ज़रूरत किसी से हिलने-

मिलने की ? अपने तो अपने, पर किसी दूसरे के राग-रंग, हँसी-खुशी, त्योहार-टेहले में शामिल होने की भी क्या ज़रूरत ? ख़बरदार ! उधर मत जाना, वहाँ मंगल-कृत्य हो रहा है ! ख़बरदार, जो सुबह कहीं शक्ल सामने आ गई ! ख़बरदार, जो कहीं सधवा पर परछाईं पड़ गई !

यह क्यों ? क्योंकि, वह विधवा है ! उसपर परमेश्वर का श्राप पड़ चुका है !! वह अपने पति-परमेश्वर को हड़प चुकी है !!! हमारी मान्यता है कि पति जो पत्नी के ज़िन्दा रहते मरता है वह पत्नी के पापों ही के कारण—उसका अपना कोई क़सूर नहीं होता—क्योंकि, पुरुष तो सब तरह से दूध का धोया होता है न ?

अपने वित्ते पर वह रह नहीं सकती। प्रथम तो उसमें इतनी क़ाबलियत और ताक़त ही नहीं होती कि अपने बूते पर कुछ कर सके। फिर मौक़ा भी कौन देता है ? किसीसे बोले तो पापिन; बच्चों से हिले-मिले तो डायन; सखी-सहेलियों से मिले-जुले तो निर्लज्ज। घर वालों की ज़्यादती का प्रतिवाद करे तो ज़बांदराज़ और निर्लज्ज; ननद-भौजाई आदि को कुछ सिखावे-समझावे तो ख़तरनाक; बच्चों को किसी बात को टोके तो उन्हें देख-देख कर कुढ़ने वाली।

अच्छे साफ़-सुथरे कपड़े पहने तो संदिग्धचरित्र; बिन्दी-चोटी करे तो घर की सधवाओं की अमंगलेच्छु; गावे-बजावे, खाये पीये, हँसे-बोले तब तो महापातकी !

हाँ, वह करे क्या ? सेवा, सेवा, सबकी सेवा—बड़ों से लेकर छोटों तक हरएक की निरन्तर सेवा, बस यही उसका काम है। घर के छोटे से लेकर बड़े तक, जब जैसी ज़रूरत पड़े, सब काम बिना किसी ननु-नच के करे; सबकी लानत-मलामत, भर्त्सना, ताने-तिसने बिना माथे पर ज़रा भी सल डाले सुनती-सहती और फिर भी वैसी ही लगन और तत्प-रता के साथ सबका काम करती रहे; खुद तो किसीसे अनु-राग बढ़ाये ही नहीं; पर यदि घर-बाहर का कोई दुष्ट पुरुष बिना उसकी इच्छा या उसके जाने ही उसपर बुरी नज़र डाले, तो भी वही उसका दण्ड भोगे !

कैसी करुण स्थिति है यह !

[२]

इसमें शक नहीं कि इस सबके अन्दर जो कल्पना समाविष्ट है वह ऊँची और बहुत ऊँची है। इसका मूल संयम में है। इसके द्वारा विधवा के रूप में कुटुम्ब और समाज के सम्मुख—विस्तृत रूप में कहें तो विश्व-मञ्च पर—

एक ऐसी व्यक्ति उपस्थित होती है, जो निजी स्वार्थ के संकुचित दायरे से निकल कर सेवा के विस्तृत दायरे को ग्रहण करती है। वह प्रेम जो अभी तक पति परमेश्वर में वासनामय रूप में केन्द्रित था, पति-प्रेम की ज्वाला-रूप भट्टी में तप कर और खरा बन कर अब बिलकुल शुद्ध और पवित्र रूप में अखिल विश्व के प्रेम और हित के लिए अपनी रश्मियाँ फैलाता है। जो स्त्री कल तक अपने पति की ही सेवा-टहल, आराम-सुविधा आदि में तन्मय थी, आज उसमें अनुभव प्राप्त कर उससे बड़े दायरे को और भी उत्तमता के साथ पूर्ण करने के लिए पदार्पण करती है। अब अपनेपन को मानों वह बिसार देती है, अपनी सुविधा-असुविधा आदि को वह समर्पित कर देती है, और अपनी पूर्ण-शक्ति के साथ अनन्त और अनवरत सेवा के लिए कमर कस कर मैदान में कूद पड़ती है। जहाँ तक मेरी कल्पना दौड़ती है, यही वैधव्य का मूल भाव है। और, मेरी नम्र-सम्मति में यह इतना महान् एवं पवित्र है कि, महात्माजी की इस बात को ज़रा भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि, "यह विधवा-धर्म यदि लुप्त हो जाय, अथवा अपने अज्ञान और उद्दण्डता से सेवा की इस साक्षात् मूर्ति का कोई

खण्डन करे, तो उससे हिन्दू-धर्म को बड़ी ठेस लगेगी।"

"पर", महात्माजी के ही शब्दों में हम कहेंगे, "ऐसे वैधव्य को सुरक्षित कैसे किया जा सकता है? दस वर्ष की कन्या का ब्याह करने वाले माँ-बाप को क्या वैधव्य के पुण्य में कुछ भाग मिल सकता है? आज ब्याह कर आज ही जिस कन्या का पति मर जाय, वह क्या विधवा मानी जा सकती है? वैधव्य की अतिशयता को धर्म का नाम देकर क्या हम घोर पाप नहीं करते?......भला जिसका मन विधवा न हुआ हो, उसका शरीर विधवा रह सकता है? और, आज ही ब्याही हुई बालिका के मन को समझ ही कौन सकता है? उसके पिता का, उसके प्रति, क्या कर्त्तव्य है? या कन्या के गले पर छुरी फेर कर उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को वह निबाह चुका?"

महात्माजी समय समय पर इस सम्बन्ध में विचार करते रहे हैं और उन्होंने अबतक जो बात सामने रक्खी है, उनके अनुसार बाल-विधवा जैसी कोई वस्तु ही न होनी चाहिए। उनका कहना है कि १५ वर्ष से पहले कन्या का विवाह ही न किया जाय, इस उम्र की या इस उम्र में ब्याहने के एक वर्ष बाद होने वाली विधवा को विधवा ही न

माना जाय, और विधवाओं को अमंगल-रूप न मान कर, उनके प्रति उपयुक्त आदर-भाव रखते हुए उनकी ज्ञान-वृद्धि के साधन जुटायें जायँ। बाल-विवाह ही नहीं, बल्कि जबतक वर-कन्या को एक साथ रहने लायक मौक़ा न हो तबतक भी व्याह न करने के लिए तो वह कहते ही हैं, पर साथ ही बलात् वैधव्य के भी वह विरोधी हैं, और १५ वर्ष तक की उम्र वालियों को तो वह विधवा ही नहीं मानते।

लाला जी कहते हैं कि—"जो लोग उनके पुनर्विवाह का विरोध करते हैं, उन्हें ईश्वर खुश रक्खे; किन्तु उनके इस अंधविश्वास के कारण समाज में इतनी बुराइयाँ फैलती हैं और इतना नैतिक तथा शारीरिक कष्ट बढ़ता है, कि वह समस्त समाज को पङ्गु कर रहा है और उसके कारण जीवन संग्राम में हमें सफलता मिलना कठिन हो रहा है।"

[४]

यदि हमारे विवाहों का ढंग ठीक होता—हमारे यहाँ बाल, वृद्ध और बेमेल विवाहों के बजाय प्राचीन ढंग के स्वेच्छया उपयुक्त जोड़ी के विवाहों का क्रम होता—और हम पुरुषों का विधुरपन भी ऐसा ही उच्च और दृढ़ बना रहता तो बहनों का वैधव्य समझ में आ सकता था—तब

यह स्वाभाविक और सम्भव होता। परन्तु आज तो हमारे यहाँ उपर्युक्त सभी दोष वर्त्तमान हैं। उधर भौतिकवादिनी पश्चिमी सभ्यता भोग की ओर हमें घसीटे लिये जा रही है। ऐसी स्थिति में स्वेच्छया ऐसे कड़े संयम की आशा नहीं की जा सकती, और ज़बर्दस्ती का संयम में कोई काम नहीं। क्योंकि जैसा गाँधीजी ने लिखा, "बलात्कार और संयम परस्परविरोधी वस्तु हैं। एक मनुष्य को ऊँचा उठाती है और दूसरी उसे नीचे गिराती है।" इसलिए बलात् वैधव्य धर्म नहीं बल्कि कुछ और होना चाहिए। ऐसी दशा में इसे स्वाभाविक तो कह ही कौन सकता है, और अस्वाभाविक वस्तु सदैव पापों या बुराइयों की जनक हुआ ही करती है।

विधवाओं के सम्बन्ध में तो यह बात सोलहों आने घटती है। उपर्युक्त ज़बर्दस्ती और दुर्व्यवहार के कारण आज उनकी जो हीन दशा है, उसे कौन नहीं जानता? इस सख़्ती और अपनी निराधारता के कारण चाहे वे ज़ाहिरा कुछ न कहें; पर यह सम्भव नहीं कि इसकी प्रतिक्रिया उनपर न हो। अच्छे-भले आदमी रात-दिन के ऐसे दुर्व्यवहार और स्नेह-शून्य वातावरण से पागल हो उठते हैं, बड़े-बड़े सदाचारी घर के कठोर और स्नेह-शून्य व्यवहार से नीच से नीच और

दुराचारी बनते देखे गये हैं; तब भला स्त्रियाँ बेचारी ही क्या करें? उधर वातावरण भी तो उनकी वासनायें प्रदीप्त करने से बाज़ नहीं आता। नतीजा यह होता है कि गुप्त व्यभिचार चलता है। बड़े घरों में नौकर-चाकर या विशेष व्यक्तियों से, छोटे घरों में मालदार या चालाकों से। जादू-टोने, जन्तर-मन्तर और पूजा-पाठ के बहाने मुस्टण्डे फ़क़ीर-जोगी और महन्त-पुजारियों के साथ प्रायः उनके सम्बन्ध कुछ ऐसे ही रहते हैं। यही नहीं, घर के निकट से निकट सम्बन्धियों तक से गर्भ रहने आदि की घटनायें भी प्रायः सुनने में आती रहती हैं। और इस प्रकार बच्चों की जो दुर्दशा होती रही है, वह तो रात-दिन की घटनायें हैं। स्थिति इतनी करुण और घृण्य है कि इसपर अधिक लिखना संभव नहीं। परन्तु वाह रे समाज, 'चुप-चुप' की नीति से इसे दबाया जा रहा है और काशी मथुरा जैसी पुण्य-भूमियों को ऐसे पापियों का आश्रय-स्थान बनाया गया है!

यह स्थिति शर्मनाक है। भले आदमी इसे कैसे बर्दाश्त करते हैं, यही समझ में नहीं आता! फिर दिल्लगी यह कि आज भी बाल और वृद्ध तथा अनमेल विवाहों के रूप में ऐसी विधवाओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है, जो शायद

वैधव्य और संयम तो क्या विवाह का मर्म भी नहीं समझतीं !

यह स्थिति और कुछ चाहे हो या न हो पर धर्म या पुण्य तो अवश्य ही नहीं है। ऐसी स्थिति में विधवा-विवाह क्या उपयोगी न होगा ? जिन्होंने पतीत्व का कोई अनुभव नहीं प्राप्त किया, अथवा जिन्हें अभी लालसा बाक़ी है, इसके जारी होने पर गुप्त रूप से उनका उस विषय की पूर्ति करना न बन्द हो जायगा ? कम तो ज़रूर ही होगा। इसलिए कम से कम आज की परिस्थिति में यह पाप तो कहा ही कैसे जा सकता है ? यदि बुराई ही हो, जैसा कि इस समय तो नहीं ही है, तो वह छोटी बुराई (Lesser evil) होगी और उपर्युक्त बड़ी बुराई Greater evil) के नाश के लिए यदि हमें इस छोटी बुराई को ग्रहण करना पड़े, तो वह बुरा नहीं। अतएव सिद्धान्त-रूप में जब विधवा विवाह को चाहे पुण्य और आदर्श न मानें; पर आज की स्थिति में, व्यवहार रूप में, वह पाप तो हर्गिज़ हई नहीं, और न लज्जा की ही बात है। मेरी समझ में तो इस समय यह एक मध्य-मार्ग है और, उपर्युक्त बुराइयों से बचने के लिए, रामबाण उपाय है। यदि ईमानदारी के साथ इसे ग्रहण किया जाय, तो हमारी दशा आज से कहीं अच्छी होगी।

६

परदा

"पैग़म्बर साहब ने परदे की जो प्रथा चलाई थी, वह शील को प्रदर्शित करने के लिए चलाई थी; और शील ऐसी चीज़ है कि कोई स्त्री कितनी ही आधुनिक क्यों न हो गई हो, फिर भी, वह उसे सर्वोच्च स्थान देगी।"

—श्रीमती सरोजिनी नायडू

× × ×

"परदा तोड़ने में संयम हेतु है, तो उसका तोड़ना कर्त्तव्य है और वह टूट सकता है। (पर) परदा तोड़ने में स्वच्छन्दता भी हेतु हो सकता है। ऐसी अवस्था में परदा टूट नहीं सकता है।…जनता का हृदय पवित्र है। अपवित्र हेतु का जनता कभी आदर नहीं करेगी।"

—महात्मा गाँधी

[१]

परदे ने आज हमारी स्थिति को जितनी हास्यास्पद बना रक्खा है, उतना किसी दूसरी प्रथा ने नहीं।

परदे का मूल चाहे बुरा न हो—और कम से कम मेरा ऐसा विचार है कि इसका उद्भव बुराई को ढकने के लिए नहीं, किन्तु उससे बचने के लिए हुआ होगा,—परन्तु इसमें रञ्चमात्र सन्देह नहीं कि आज इसने जो रूप धारण कर रक्खा है वह किसी भी दशा में वाञ्छनीय नहीं है। अवश्य ही इसका मूल शील और सदाचार में, अथवा उनकी रक्षा में, रहा होगा; परन्तु आज तो इसने बिलकुल उलटा ही रूप धारण कर रखा है? घर वालों के सामने जो 'परदे' वाली बनती हैं, बाहर वालों के सामने वही बेपरदेवालियों से कहीं बेशर्म और बेहया बनी दिखाई देती हैं। सच तो यह है कि शील और सदाचार की रक्षा तो कहाँ, निर्लज्जता

और उच्छृङ्खलता को 'सभ्यता' का रूप देने अथवा, स्पष्ट कहें तो, अपने पाप और कुप्रवृत्ति पर आवरण डालने के लिए आज इसका उपयोग हो रहा है।। सच्ची लज्जा तो गई न-जाने कहाँ, झूठी लाज-शर्म और दिखावे का दौर-दौरा है।

इसीका परिणाम है कि आज हमारा चरित्र और बल भी अपेक्षाकृत कहीं कम हो गया है। इनका दृष्टिकोण ही बदल गया है। पहले जहाँ पर-स्त्री को देखते ही मातृ-भाव से हमारा मस्तक श्रद्धापूर्वक झुक जाता था, किसी बहन के द्वारा हाथ में सूत के धागे का रक्षा-बन्धन बँधते ही जहाँ हमारा अन्तःकरण उसके प्रति भ्रातृ-स्नेह से उछल पड़ता था और मन जीजान से उसके काम के लिए कटिबद्ध हो जाता था, छोटे बच्चों को देख कर जहाँ हमारे मन में सहसा सन्तति-प्रेम था, वहाँ आज क्या दशा है? समवयस्का तो दूर, आज तो सगी माँ-बहन-बेटियों तक पर कईयों की कुदृष्टि पड़ जाती है!

इसीलिए बाहरवाले आते और देख-देख कर हँसते हैं! मिस मेयो जैसी अविवाहित रङ्गीलियाँ ऐसी ही बातों से सामग्री संग्रह करती हैं, और तिल को ताड़ बना कर हमारा केवल उपहास ही नहीं करतीं अपितु हमें अपने देश के

शासन (स्वराज्य) के लिए ही अयोग्य और अनुपयुक्त सिद्ध करती हैं ! विचित्र समस्या है !

परदा किससे ?—

यदि यह मान भी लिया जाय कि परदा अच्छी चीज़ है, तो प्रश्न यह उठता है कि वह हो किससे ? जब शील और सदाचार उसका उद्देश्य है, तो उन्हींसे वह क्यों न हो, जिनके चरित्र के सम्बन्ध में कोई शङ्का हो, जो कुप्रवृत्तिवाले हों, जिन्हें हम जानते-पहचानते न हों, जो विश्वस्त न हों, जो हमारे प्रति कोई भाव न रखते हों ?

पर होता क्या है ?

होता आज तो कुछ और ही है। इससे बिलकुल उलटी बात दिखाई पड़ती है। जिन घरवालों की नस-नस का पता होता है, जो बुरे भाव कभी उठें भी तो यथासाध्य उन्हें दबाने का ही प्रयत्न करते हैं, यह भी कह सकते हैं कि वास्तव में जिनसे ख़तरे की सबसे कम ही सम्भावना होती है—क्योंकि, कुछ भी हो, आख़िर वे हैं तो उनकी बहू-बेटी ही, और यही भाव दुराचार के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोधक है,—उन्हीं से आज तो परदा किया जाता है ! यहाँ तक

कि घर और पास-पड़ौस की औरतों तक का घूंघट निकाला और उनके सामने क़रीने से बैठा-उठा जाता है ! इसके विपरीत, दूसरी ओर, जिनसे परदा नहीं किया जाता, वे कौन ? ज़रा कान पर हाथ लगाकर सुनिए। वे हैं—युवा नौकर, चाकर, नाई, धोबी, मेहतर, कहार, खोञ्चेवाला, फेरीवाला, जोगी, फ़कीर, सयाना, भिखमङ्गा, पास-पड़ोस के जवान-जवान मर्द-बच्चे और घर के, अथवा ख़ास परिचितों-रिश्तेदारों को छोड़ कर कोई भी जाना-अनजाना आदमी !! इनमें से कोई बदमाश से बदमाश और मक्कार से मक्कार भी क्यों न हो, उनकी परवाह नहीं। वही बहू-बेटियाँ जो सास, ससुर, जेठ, आदि घरवालों के सामने 'परदे की बीवी' बन-कर रहती हैं, बाहर के मुस्टण्डों के सामने अपना व्यवहार ऐसा लज्जा-हीन रखती हैं कि भला आदमी देखकर सिर भी नहीं उठा सकता !

इन लोगों के सामने स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं ? हँसी-मज़ाक ही नहीं, कपड़े-लत्तों की भी उन्हें सुध नहीं रहती। नंगी-उघाड़ी हैं तो नंगी-उघाड़ी ही सही, क्या पर्वाह—मौजूद तो बाहर वाले ही न हैं ? नंगी-उघाड़ी नहा रही हैं और वहीं नौकर पानी भर रहे हैं या और कोई काम कर रहे

हैं, तो क्या हर्ज हुआ? बहूजी को नहाते देख नौकर महाशय ने किसी न किसी बहाने से ८-१० मिनट और अधिक लगा दिये और आँख-होंठ मटकाते हुए दो-चार तुर्रे छोड़ते रहे, तो भी बहू जी को शर्माने की क्या ज़रूरत—उस तुर्रे में स्वयं भी शरीक न हों तभी ग़नीमत है! श्रीमतीजी अर्द्ध-नग्न पड़ीं बालक को दूध पिला रही हैं, या पतिदेव से प्रेमालाप कर रही हैं, अथवा सखी-सहेलियों के हँसी ठट्ठे में मग्न हैं, ऐसी दशा में नौकर-चाकरों को आने-जाने बैठने-उठने की कोई रोक नहीं—यदि रोक है तो घरवालों को, सगे-सम्बन्धियों को! बिरादरी में नाचने-गाने के समय भी नौकर-चाकरों पर कोई बन्धन नहीं होता। घर के पिछले दरवाजों में दिन-दोपहर फेरी खोञ्चेवाले और जोगी-फ़क़ीरों के चक्कर भी कुछ कम नहीं होते और हमारी ये परदेवालियाँ उस समय न सिर्फ़ हँसी-मज़ाक बोली-ठठोली में ही व्यस्त रहती हैं, बल्कि उस समय का उनका बैठने-उठने का ढङ्ग भी बड़ा निस्संकोच होता है। इसपर भी तारीफ़ यह कि बाहर के कितने ही मुस्टण्डे आते और मज़ाक़ भी करते हैं, पर वे अपने रुख़ से बाज़ नहीं आतीं। उनसे सौदा लेती-देतीं और भाव-ताव के साथ कभी-कभी बड़े भद्दे मज़ाक़

भी कर जाती हैं। जिन चीज़ों के लिए घर के पुरुषों से कहते भी वे शर्माती हैं, उन्हीं चीज़ों का बड़ी रसिकता के साथ सौदा होता है। इसी प्रकार कई हमारी देवियाँ फेरीवालों के फेर में भी पड़ जाती हैं।

बदमाशों को भी खूब मौक़ा मिलता है। जब और कोई उपाय उन्हें नहीं मिलता तो इन्हीं में से वे कोई रूप धारण करते हैं और अपनी मनमानी पूरी करते हैं। इस हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के समय में तो ये घटनायें रात-दिन होती रही हैं। एक प्रसिद्ध मुसलमान फ़क़ीर ने तो अपने अनुयायियों को हिन्दुओं से मुसलमान बनाने के लिए इस उपाय का अव-लम्बन करने का स्पष्ट आदेश भी दिया है, ऐसा सुना गया था।

इन्हीं सब बातों का यह परिणाम है कि इस श्रेणी में एक ओर तो स्वच्छ वायु की कमी से रोगों का दौर बढ़ता जा रहा है—तपेदिक़ की सबसे अधिक शिकार ऐसी स्त्रियाँ ही हो रही हैं, दूसरी ओर व्यभिचार दिन-पर दिन बढ़ता जा रहा है। जो बहू-बेटी घर वालों के सामने बड़ी सीधी-सादी और लजीली मालूम पड़ती हैं, आह! कौन कह सकता है कि उनमें से कितनों का चरित्र शुद्ध होता है? अधिकांश

बातें गुप्त रहती हैं, फिर भी नौकर-चाकर या पास-पड़ोसियों के साथ उनके ऐसे व्यवहार की किम्वदन्तियाँ थोड़ी-बहुत फैल ही जाती हैं ! कई भण्डाफोड़ तो बहुत ही बुरे हुए हैं। और काशी आदि कुछ स्थान तो ऐसे पापों के लिए आश्रय-स्थान ही न बन गये हैं ? हाँ, परदे की आड़ में यह सब-कुछ छिप-सा रहा है। क्योंकि परदेवाली के आन्तरिक रूप को हम नहीं देखते, उसके बाह्यरूप से ही उसके अच्छेपन का अनुमान लगाते हैं। और इस प्रकार टट्टी की ओट में शिकार वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती चली जा रही है !

एक ओर रोग, दूसरी ओर गुप्त व्यभिचार—कैसी भयावह स्थिति है !!

[२]

नया ज़माना इससे उकता चला है। वह ऐसी लज्जा-जनक परिस्थिति को क़ायम नहीं रखना चाहता। वह इसे जड़-मूल से उखाड़ कर फैंक देना चाहता है। परन्तु ?—

परन्तु, प्रश्न यह है, प्राचीनता की जो अन्धी छाप हमपर लगी हुई है वह ऐसा करने देगी क्या ?

एक पक्ष—और वह भी ऐसा-वैसा नहीं बल्कि एक

ज़बरदस्त पक्ष—ऐसा है, जो हर बात में शास्त्रों की ही दुहाई देता है। इस पक्ष वालों का कहना है कि यदि शास्त्रों में इसका उल्लेख है तब तो यह क़ायम रहना ज़रूरी है। वैसे भी यह रूढ़ि हो गया है और इसलिए वे इसे उठाना नहीं चाहते। इस पक्ष वालों का मत है कि जो स्त्री परदा नहीं करती वह भले घर की नहीं कही जा सकती।

दूसरी ओर एक पक्ष परदे का बिल्कुल विरोधी है। इसमें से कुछ तो स्त्रियों को पूरी मेमसाहबा बना देने के भी पक्षपाती हैं।

इस प्रकार दो पक्ष हैं। अब सवाल यह है कि इनमें से किसे गृहण किया जाय और किसे नहीं?

[२]

हमारी नम्र-सम्मति में, पक्ष कोई भी नितान्त ठीक नहीं। हमें ऐसा मध्य-मार्ग गृहण करना चाहिए, जिसपर दोनों ओर का समझौता हो सके। परदा बुरा है, आज तो वह टट्टी की ओट में शिकार हो रहा है, इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। परदा हो तो पूरा हो, घर वालों की अपेक्षा बाहर वालों से अधिक हो; नहीं तो वह, जैसा कि आज-

कल हो रहा है, मक्कारी है—शील-संकोच बिलकुल नहीं, यह तो साफ़ मक्कारी है। और मक्कारी का कोई भी भला आदमी समर्थक नहीं हो सकता। अतः इसका तो ख़ात्मा ही होना चाहिए, पर्वाह नहीं कि शास्त्र क्या कहते हैं। शास्त्र परदे का समर्थन करते हैं या विरोध, यह तो हम नहीं कह सकते; पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि हरएक बात के लिए शास्त्रों के नाम की दुहाइयाँ हमें नहीं देनी चाहिएँ। हर बात किसी ख़ास देश, काल और स्थिति के अनुसार उपयुक्तता का विचार करके होती है; और हमें भी किसी बात का विचार करते समय इन्हीं बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा।

रहा दूसरा पक्ष। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि परदा हमें छोड़ना चाहिए, क्योंकि वह कृत्रिम और अनाचार है; पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसके मूल में समाविष्ट शील-संकोच और सदाचार को भी हम छोड़ दें। ऐसा कदापि न होना चाहिए। ये तो बड़े ऊँचे और पवित्र सद्गुण हैं, इन्हें तो क़ायम रखना ही नहीं बल्कि बढ़ाना भी आवश्यक है। झूठी लज्जा हम न करें, घूँघट–परदे का स्वाँग चाहे हम न रचें, पर बड़े-छोटों

का अदब हमें हरगिज़ न छोड़ना चाहिए; आँखों की शर्म-हया कभी न त्यागी जाय; कपड़े-लत्तों में भी लज्जा का पूरा ध्यान रक्खा जाय। तभी हमारा परदा छोड़ना सार्थक है, वही उचित है और वही वाञ्छनीय है। मेमसाहबों की देश को ज़रूरत नहीं, सीता-सावित्रियों की चाह है। और वे इसी प्रकार बन सकती हैं।

१०

सौन्दर्य की कामना

"लड़कियाँ सुन्दर चीज़ों से प्रेम करें, इसमें कोई खतरा नहीं है। हाँ, वह सुन्दरता हो वास्तविक। यदि यह प्रेम केवल अपने स्वार्थपूर्ण आनन्द के लिए ही काम में न लाया जाय और अपने देश के सौन्दर्य को बढ़ाने की भावना भी इसके साथ रहे, तो बजाय कमज़ोरी के यह तो एक शक्ति है।"

—श्रीमती मार्गरेट ई० कज़िन्स

[१]

सौन्दर्य का आकर्षण स्वाभाविक है। किसी भी सुन्दर चीज़ को देखते ही मन, न-जाने क्यों, उसकी ओर झुकने लगता है। चाहे उपवन की सुन्दरता हो चाहे एकान्त जङ्गल में प्रकृति की क्रीड़ा, भयावह संयोगों के बीच जल का मधुर कल-कल शब्द हो या भयंकर जल-प्रपात का सुहावना दृश्य, चिड़िया की मधुर चहचहाहट हो या बाल-सुलभ कण्ठ का मीठा स्वर, श्रीमान् का ठट-बाट हो या ग़रीब की सफ़ाई-निकाई, कैसी भी सुन्दरता हो, उसे देखते ही हमारा मन उस तरफ़ आकर्षित हो उठता है; उसका साथ करने, उसे पाने, अथवा उसका उपभोग करने की तीव्र लालसा हमारे मन में उठती है।

अपने आस-पास के वातावरण के लिए जब यह बात है, तब स्वयं अपने लिए तो सौन्दर्य की अभिलाषा और भी स्वाभाविक है। कोई भी मनुष्य अ-सुन्दर नहीं होना चाहता।

अपने हाथ की बात हो तो कोई कुरूप रहे भी नहीं।

यही कारण है, संसार में सौन्दर्य की बड़ी चाह है। यह बात दूसरी है कि वह कहाँ तक ठीक है और कहाँ तक नहीं। परन्तु इसमें शक नहीं कि संसार सदा से सौन्दर्य की कामना करता आया है, कर रहा है, और करता रहेगा।

पहले, सुनते हैं, स्वाभाविक रहन-सहन और तेल-उबटने का ज़ोर था। आज साबन, पौमेड, लवेण्डर और कृत्रिम उपायों का बोल-बाला है। प्राकृतिक जीवन की उपयोगिता का भी शास्त्रीय प्रतिपादन अब फिर होने लगा है सही, पर उसपर अमल कृत्रिम उपायों से ही करने का प्रयत्न हो रहा है। हाँ, यूरोप के कुछ देशों में ऐसे प्रकृतिवादियों का उदय ज़रूर हुआ है, जिन्होंने पहले के स्वाभाविक जीवन को भी मात कर दिया है। वे नंग-धड़ङ्ग रहते हैं, घूमते-फिरते और हिलते-मिलते हैं।

[२]

सौन्दर्य के लिए हम क्या नहीं करते? नित-नये फ़ैशन निकलते हैं—कपड़ों के नये-नये कट, बालों की तरह-तरह की काट-छाँट, चश्मों का रंग-विरंगापन, घड़ी और छड़ी के नये-

नये नमूने, जूते की चर्र-मर्र, दाँतों का स्वर्णावरण, टाई-कालर का बाँकापन, मूछों का आड़ा-तिरछापन, इत्यादि-इत्यादि क्या-क्या हम नहीं करते ?

और स्त्रियाँ ? उनका तो शृंगार मानों जन्मसिद्ध स्वत्व है। पुरुष तो उनकी नक़ल करते हैं, वास्तव में तो यह उन्हींका काम बताया जाता है। पुरुष को जब स्वामी माना गया है तो स्त्री को उसे प्रसन्न रखने, उसे रिझाने, उसे अपने पर आसक्त बनाये रखने के लिए अपनेमें आकर्षण बनाये रखना निहायत ज़रूरी है। यह कल्पना चाहे अशुद्ध हो, अवाञ्छनीय हो, परन्तु स्त्रियों की शृंगार-प्रियता का मूल इसीमें है। इसीलिए उनमें शृंगार का बाहुल्य नज़र आता है। यूरोप में और उसकी देखा-देखी एकाध एशियाई देशों में भी जो सौन्दर्य-प्रतिद्वन्द्विताएँ होती हैं, वे स्त्रियों ही की होती हैं—पुरुषों की नहीं। टाँग, नाक, ठोढ़ी आदि के बीमे भी स्त्रियों ही के सुने जाते हैं।

आज के भौतिकवाद के युग में शृंगार ने अपना अड्डा और भी जमाया है। जैसा कि डा० कुन्नीकन्नन ने लिखा है, यह विज्ञापन का युग है। पश्चिम में हर बात का विज्ञापन करना होता है, नहीं तो अच्छी होने पर भी कोई नहीं पूछता।

स्त्रियाँ वहाँ अपने जीवन-साथी का चुनाव स्वयं करती हैं और उसे राज़ी करने का भार भी उन्हींपर होता है; इस-लिए यह बिलकुल स्वाभाविक ही है कि वे अपने रंग-रूप, हाव-भाव को ज़्यादा से ज़्यादा आकर्षक और भड़कीला दर-साने का प्रयत्न करती हैं। इसीलिए बजाय सांस्कृतिक सुधार के, हम देखते हैं, नित्य नये-नये सौन्दर्य-पदार्थों (Toilets) का आविष्कार हो रहा है और स्त्रियाँ उनमें डूबती चली जा रही हैं।

मगर नतीजा ?

[३]

ओह, सौन्दर्य की यह चाह हमारा कितना नुक़सान नहीं कर रही है ? हम नर-नारी सौन्दर्य-प्रदर्शन के लिए, अपने हाव-भाव सुन्दर दरसाने के लिए, अपना कितना समय बर्बाद करते हैं, कितना धन नष्ट करते हैं, और कितनी खटपट मोल लेते हैं, मगर फिर भी, कह नहीं सकते, हमारा उद्देश कहाँ तक सिद्ध होता है !

वे अमीरज़ादे और अमीरज़ादियाँ, जो आलस्य के मारे पलंग-कुर्सी पर पड़े हुए दरवाज़े-खिड़की के किवाड़ भेड़ने,

दीये की बत्ती उकसाने, फ़र्श पर से पीक थूकने के लिए पीकदान उठाने, पानी पीने के लिए गिलास उठाने, दरवाज़े के बाहर खड़े आदमी को जवाब देने, ग़र्ज़ें कि बड़े-से-बड़े से लेकर छोटे से-छोटे और न-कुछ कामों के लिए भी नौकर-नौकरानियों पर तान तोड़ते हैं, सौन्दर्य-वृद्धि के लिए ठण्ड से गीले क्रीम-लोशन-साबन लगाने और घोर ग्रीष्म में बदन को कसने की तकलीफ़ गवारा करने का साहस करते हैं; वायु-सेवन के लिए मील-मील भर के चक्कर लगाने का दुःसाहस करते हैं; और कोई-कोई वर्ज़िश जैसे कष्टों का भी आवाहन करते हैं !! वे कड़वी-कसैली दवा-दारू को नाना प्रकार के मुँह बना कर डकोसने की हिम्मत करते हैं, ज़ेवरों का पनसेरियों बोझ लादते हैं, और बदन गुदवाने को भी तैयार हो जाते हैं। ऐसा है सौन्दर्य का मोह !

इन सब बातों का नतीजा यह होता है कि एक ओर तो सौन्दर्य-प्रेम के इस प्रकार में ख़र्च ख़ूब होकर तंगी आती है, दूसरी ओर शरीर की स्वाभाविकता के बजाय अस्वाभाविकता बढ़ती है, और ऐसी कृत्रिम परिस्थिति का परिणाम यदि उलटा—वासना की ओर—हो तो उसमें आश्चर्य नहीं ! आज-कल एक ज़बरदस्त विचार ऐसा जो हो गया है, जो सौन्दर्य

को मानों वैषयिकता का ही बदला हुआ रूप मानता है, वह इसी परिस्थिति के फल-स्वरूप है। वैसे सौन्दर्य स्वयं कोई बुराई नहीं है; यदि बुराई कहीं है तो वह उसके अवलोकन की दृष्टि में है। सच तो यह है कि एक वेश्या में भी, जिसका कि काम ही विषय-भोग है, हम निर्दोष-भाव से सौन्दर्य-दर्शन कर सकते हैं—शर्त यही है कि उसमें हमारी दृष्टि कामुक न हो, हम माँ-बहन के रूप में उसके सौन्दर्य को निरखें, वैषयिक दृष्टि रखकर नहीं। कामुक दृष्टि से तो यदि हम अपनी माँ-बहन को देखें तो वह भी दोष ही है, यह दूसरी बात है कि हम उसपर ध्यान नहीं दे रहे हैं और ऐसा होता भी कम ही है। यह बात असम्भव नहीं है—हाँ, व्यवहार में ज़रा कठिन अवश्य है; और, यही कारण है जिससे, सर्व-सामान्य व्यवहर में इसका प्रचलन कम ही है। अस्तु।

[४]

सौन्दर्य स्वतः बुरी चीज़ नहीं है, यह हम जान चुके। और जब यह बुरी चीज़ नहीं है, तब इसकी अभिलाषा और उसके लिए प्रयत्न तो बुरे हो ही कैसे सकते हैं? अतः,

सवाल रह जाता है यही कि, आजकल हम जो प्रयत्न कर रहे है वे कहाँ तक ठीक हैं ?

हमारी नम्र-सम्मति में, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अजकल के प्रयत्न स्वाभाविक कम हैं, अतएव वे श्रेयस्कर नहीं। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' एक प्रसिद्ध वाक्य है। मतलब यह कि जो सत्य है, वही शिव (कल्याणप्रद) है, और वहीं सुन्दर है। अतः हमें यदि सुन्दर बनना है तो हम शौक़ से बनें और ज़रूर बनें, पर वह बनें शिव और सत्य होकर ही।

'प्रकृति की ओर लौटो !'— वह पुकार है, जो इस दिशा में बड़ी कारगर हो सकती है। मानसिक सौन्दर्य के लिए हमारे मन का शुद्ध होना आवश्यक है, और शारीरिक सौन्दर्य के लिए शरीर का। शिव (कल्याणप्रद) बनने के लिए इन दोनों ही सौन्दर्यों की आवश्यकता है। और वे प्राप्त हो सकते हैं सत्य, वास्तविकता, क़ुदरत, प्रकृति पर अग्रसर होने में। हमारा रहन-सहन प्राकृतिक हो, तो क्या ज़रूरत है कि सुन्दर बनने के लिए हम कृत्रिम उपायों की खोज करते फिरें ?

आजकल आम तौर पर देखा जाता है, हमारी माँ-बहनों का स्वास्थ्य गिरा होता है; एक-दो बच्चे होने पर तो

वे मानों बूढ़ी हो जाती हैं और दुनिया से नजात पाने को तरसा करती हैं। उनका सौन्दर्य सौन्दर्य-पदार्थों, माँग-चोटी, साड़ी-जेम्पर आदि से थोड़ा-बहुत चाहे दीखा करे; पर वास्तव में उनके चेहरे पर आभा नहीं रहती—आलस्य, निराशा छाई-सी रहती है; उत्साह-आनन्द कोसों भागते-से नज़र आते हैं; फुर्ती-तेज़ी की तो बात ही कहाँ, आराम और बस आराम, नौकर-चाकरों की निर्भरता ही हमें नज़र आती है। बड़े घरों और बहुत-कुछ मध्यम-वर्ग का तो पूरा परमुखापेक्षी-सा हिसाब है, निम्नश्रेणी में चाहे इतना परावलम्बन न हो। नये युग की स्वाधीनता और अधिकारों की पुकार में परदा छोड़ कर वे हवा खाने का प्रयत्न कर रही हैं, बाग़ की सैर या समुद्री भ्रमण को भी निकलने लगी हैं, मगर कहाँ है फिर भी उनका वह सुन्दर शरीर ? क्योंकि, हम देखते हैं, डाक्टर-द्वारा शरीर को श्रम की आवश्यकता बताये जाने पर वे बाग़ में घूमने चली जायँगी, किसी मीटिंग को 'अटेण्ड' कर लेंगी, मगर घर पर ही जो श्रम के काम होते हैं—दाल-मसाला पीसना, छोटी-मोटी चीज़ कूटना-छानना, आटा मलना-गूँधना और रोटी पकाना इत्यादि, उनके लिए ज़रा भी औक़ाफ़ होने पर नौकर ही का आसरा रहता है ! घर पर

रोटी बनाने से किवाड़ भेड़ने और घर का ताला-कुञ्जी लगाने-रखने तक प्रायः सब काम नौकर-चाकरों पर ही रहेगा। क्या यह स्वाभाविक है? व्यायाम और वायु-सेवन का बड़ा महत्व और उपयोग है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं; परन्तु जो व्यक्ति घर का काम करते कचराता है, उसे कसरत करने का क्या अधिकार? अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह उलटा हिसाब है कि अपना श्रम तो कसरत, घूमना आदि मुद्रा के रूप में अनुत्पादक कामों में व्यय किया जाय और घर-धन्धे के उत्पादक कामों को व्यय खर्च कर दूसरों से कराया जाय। क्या यह उचित है? जो स्त्री या पुरुष घूमने तो एक मील चले जायँ, शरीर को श्रम देने के लिए डम्बल उठाने आदि की वर्ज़िश भी करें, ऊपरी शोभा के लिए ज़ेवर भी अपने नाज़ुक शरीर पर पनसेरियों लाद लें, पर घर के काम करने से कचरावें, वे श्रम के सच्चे महत्व की उपेक्षा करते हैं। चक्की, चरखा, मसाला पीसना-कूटना, रोटी बनाना, झाड़ू-बुहारी आदि घर में ही श्रम के इतने काम हैं कि गृहिणियाँ इन्हें ही पूरा-पूरा करें तो आज जो प्रसव-रोगों की तथा अन्य स्त्री-रोगों की शिकायतों का ताँता लग रहा है, वे शायद आधी भी न रहें। यह भी याद रखना चाहिए कि श्रम करने से

गौरव नष्ट नहीं होता, नष्ट होता है शेखी से, और कृत्रिम उपायों से तो स्वास्थ्य और धन दोनों का नाश होता है।

हम यह नहीं कहते कि बाहरी जीवन से दूर रहा जाय, पर घरेलू जीवन की भी उपेक्षा न होनी चाहिए। अपना बच्चा रो रहा हो, उसे छोड़ कर दूसरे के बच्चे को दूध पिला कर चुप करने कोई स्त्री न जायगी। जो स्त्री अपने बच्चे से घृणा करती है, वह यदि दूसरे के बच्चे से प्रेम दरसाये, तो वह केवल दिखावा होगा। इसी प्रकार घर के काम-धन्धे की उपेक्षा करके जो स्त्री-पुरुष बाहर के अनुत्पादक श्रमों का उपभोग करना चाहते हैं, वे आदर्श नहीं। यदि श्रम दरकार है तो पहले अपने क्षेत्र के आवश्यक कामों में उसे किया जाय, उनसे बचे तब अन्य काम किये जायँ, और फिर अनुत्पादक कामों में समय व्यय किया जाय—यही श्रम-व्यय का उचित और वाञ्छनीय ढंग है।

एक बात का ख़याल रखना ज़रूरी है। श्रम एक ही दिशा में न हो—जैसे केवल शारीरिक, या केवल मानसिक। जिन्हें शारीरिक श्रम ज़्यादा करना पड़ता हो, उन्हें उसके परिमाण में मानसिक श्रम की व्यवस्था करनी चाहिए; और जिन्हें मानसिक ज़्यादा करना पड़ता हो, उन्हें शारीरिक की।

मनोविनोद का कोई साधन भी अत्यावश्यक है। जिसका मन हर्ष से पूर्ण न हो, वह उत्फुल्ल न होगा; और उत्फुल्लता के विना वह हास्य कहाँ, जो सौन्दर्य का प्राण है?

शरीर की सफ़ाई, रहन-सहन का साफ़-सुथरापन, कपड़े-लत्तों का सलीका, दाँत, कान, नाक, आँख की सफ़ाई, वालों का सुथरा-निखरापन, चमड़ी की स्वच्छता इत्यादि बातें भी स्वास्थ्य और सौन्दर्य के लिए आवश्यक हैं; दूसरों के सम्पर्क में आने पर ये वड़ी काम आती हैं। स्वभाव की शुद्धता और वोली की मधुरता तो आवश्यक हैं ही।

इस प्रकार, संक्षेप में कहें तो, सौन्दर्य के लिए हमें जिस वात की सबसे पहले ज़रूरत है, वह है हृदय की शुद्धता-सरसता। जिसका हृदय शुद्ध-सरल होगा, उसके विचार और वाहरी आचरण भी वैसे ही निर्मल होंगे; और आस-पास के लोगों पर स्वभावतः उनका असर अच्छा ही पड़ेगा। इसके वाद शरीर की शुद्धता वाञ्छनीय है। यह ज़रूरी नहीं कि नित्य ही विविध सौन्दर्य-पदार्थों से शरीर की सेवा की जाय—सावन, तेल, उवटने का इस्तैमाल बुरा नहीं, इनसे सफ़ाई ही होती है; पर एकदम इनमें न रम जाना चाहिए। प्राकृतिक जीवन, सरल-सादा रहन-सहन इस दिशा में बहुत

उपयोगी है। इससे शरीर शुद्ध रहता है और स्वस्थ भी— और, सुस्वास्थ्य सौन्दर्य की जान है ही। कपड़े-लत्तों का सलीका, बोल-चाल की मधुरता, व्यवहार में शिष्टता-विनय, समाज के नियमों का परिपालन आदि बातें वाह्य हैं, पर हैं उपयोगी। इनसे मनुष्य किसी भी समुदाय में अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण कर सकता है; अपनी ओर लोगों को आकर्षित कर सकता है। सच तो यह है कि चमड़ी का अमुक रंग होना या बालों का अमुक प्रकार सौन्दर्य का चिह्न नहीं, मनुष्य के गुणों का सुप्रदर्शन ही उसका वास्तविक सौन्दर्य है। यही सत्य है, यही शिव है, और इसलिए यही सुन्दर है। कृत्रिम उपायों का अवलम्बन तो नक़लीपन है, गुणों के अभाव को उसी तरह छिपाने का प्रयत्न है, जैसे कि हंस के पर लगा कर कव्वा हंस बनने चला था।

इस तथ्य को हमें समझ लेना चाहिए। इसीमें हमारा कल्याण है। अगर हमारी माँ-बहनें इस सीधे-सादे तथ्य को समझ लें तो उनका इससे कल्याण ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। आज के ग़रीब भारत की माँ-बहनों को तो इसे समझने की और भी आवश्यकता है।

११

वेश्यावृत्ति

"ये बहनें जान-बूझ कर इस पाप में नहीं पड़ीं। पुरुषों ने उन्हें इसमें गिराया है। अपने विषय-भोग के लिए उसने स्त्री-जाति के ऊपर घोर अत्याचार किया है।...जब-जब इन बहनों का चित्र मेरी आँखों में खिंचता है, तब-तब मुझे ऐसा खयाल होता है कि अगर ये मेरी ही बहनें या लड़कियाँ होतीं तो ?—होतीं क्यों, हुई हैं। उनको उठाना मेरा और प्रत्येक मर्द का काम है।"

—महात्मा गाँधी

[१]

यह तो सभी मानते हैं कि वेश्यावृत्ति एक अत्यन्त कुत्सित प्रथा है। क्या ऊँच और क्या नीच, क्या धनी और क्या निर्धन, क्या सवर्ण और क्या अस्पृश्य, क्या ज्ञानी और क्या मूर्ख, क्या पुरुष और क्या स्त्री, आबाल-वृद्ध कौन ऐसा है, जो इस प्रथा पर अंगुली नहीं उठाता और इसकी चर्चा छिड़ने पर स्वभावतः लज्जावनत नहीं हो जाता? सच तो यह है कि धार्मिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से जितनी हेयता एवं कालिमा इसे प्राप्त है, उतनी और किसी प्रथा को शायद ही कहीं प्राप्त हो। वास्तव में यह है भी मानव-जाति के लिए घोर कलङ्क, मनुष्य को पतित कर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-सम्पत्ति से हीन-कर्त्ता, और अन्त में उसे समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखों से ही वञ्चित कर देने वाली।

परन्तु फिर भी संसार और खास कर हमारे भारतवर्ष में आज इसने जो व्यापकता और भीषणता धारण कर रक्खी है,

उसे कौन नहीं जानता? गाँवों में तो अवश्य ही इसका उतना बाहुल्य और बीभत्स रूप नहीं; पर आधुनिक सभ्यता के चिह्न-रूप शहरों में तो, जो जितना बड़ा और समृद्ध उतना ही अधिक, इसका नग्नरूप ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए संसार के कुछ ख़ास-ख़ास शहरों को देखिए। उनकी वेश्याओं की संख्यायें निम्न प्रकार हैं—

नाम शहर	वेश्याओं की संख्या
न्यूयार्क	४०,०००
बर्लिन	४०,०००
पेरिस	५०,०००
लन्दन	६०,०००
कलकत्ता	१६,०००

फिर यह संख्या तो सिर्फ़ उनकी हुई, जो खुलेआम, समाज और देश की मान-मर्यादा को तिलाञ्जलि दे, अपने शरीर का सौदा करती हैं। लोक-लाज अथवा परम्परागत या स्वाभाविक सङ्कोच-वश किंवा परिस्थिति की विवशता अथवा अन्य ऐसेही किन्हीं कारणों से लुके-छिपे अथवा अन्य नामों से भी तो यह व्यवसाय चलता है! और इस विषय से ज़रा भी दिलचस्पी कौन ऐसा व्यक्ति है, जो यह नहीं जानता कि वह

व्यवसाय—क्या संख्या और क्या परिणाम, दोनों में—इसकी अपेक्षा भी कहीं व्यापक, भीषण और निंद्य एवं हानिकर होता है ?

कहीं दास-दासियों के रूप में यह (गुप्त या अप्रत्यक्ष) व्यवसाय चलता है, तो कहीं रोटी या चौका-बर्त्तन करने वाली अथवा मालन-नायनों आदि के रूप में। कहीं होटल-नृत्यशाला के रूप में, तो कहीं उपहार-गृह, गायन-वादन-शाला, क्लब, विभिन्न सुसाइटियों अथवा टर्किशबाथ आदि के रूप में। यहाँ तक कि नैतिक और मानसिक सुधार के नींवस्थल मन्दिरों और शिक्षणालयों तक में इसका अभाव नहीं! सच तो यह है कि गुप्त या अप्रत्यक्ष रूप से होने वाले दुराचार का यदि पूरा पता लगाया जा सके तो उसकी संख्या और भीषणता उससे अत्यधिक नहीं तो दूनी अवश्य निकलेगी, जो कि चौड़े-धाड़े या प्रत्यक्ष होता है।

क्या यह स्थिति वान्छनीय है? इस प्रश्न का उत्तर कोई भी यही देगा—'हर्गिज़ नहीं।' तब, क्या यह ठीक नहीं कि जैसे भी हो इसके निवारण का उपाय किया जाय? जिसे हम समाज और मनुष्य-जाति का कलंक समझते और मानते हैं उसका उन्मूलन ही क्यों न कर डालें? क्यों न ऐसा

कुछ करें कि जिससे हमारे बीच इसका अस्तित्व ही शेष न रहे ? यदि ऐसा हो जाय तो हमें वह सुख और लाभ न प्राप्त होगा, जिससे कि आज यह कुप्रथा हमें वञ्चित किये हुए है ?

पर, प्रश्न यह है, ऐसा हो कैसे ? जैसा कि 'स्वराज्य' (मद्रास) में श्रीयुत एम० कृष्ण ने लिखा था, "उस वक्त तक इससे छुटकारा कहीं मिल सकता, जब-तक कि वेश्यावृत्ति के उत्पादक कारणों का ही अन्त नहीं हो जाता। अतः यदि सचमुच ही सुधारकगण इस अभिशाप से समाज को मुक्त देखना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि सर्वप्रथम वे इसके कारणों की ही खोज और मीमांसा करें।" यही है भी ठीक। अतः आइए, हम भी, पहले इसके कारणों पर ही दृष्टिपात करें।

[२]

"वेश्यावृत्ति समाज-सङ्गठन से उद्भूत एक ऐसा रोग है कि जिसकी जड़ें भी सामाजिक ढाँचे में ही धँसी हुई हैं।" श्रीयुत कृष्ण का यह कथन बिलकुल ठीक है। और देशों के लिए तो हम नहीं कह सकते, प्रत्येक देश की परिस्थिति में कुछ न कुछ विभिन्नता एवं विशेषता होती ही है, पर हमारे

देश में तो वेश्यावृत्ति का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व निश्चय ही हमारे समाज-संगठन पर ही है। यही कारण है कि पराधी-नता एवं पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव-स्वरूप हमारे सामाजिक सङ्गठन में जो अस्त-व्यस्तता एवं शिथिलता आती जाती है, उसके साथ-साथ, यह समस्या भी अधिकाधिक विस्तृत और विषम रूप ही धारण करती चली जा रही है। सच तो यह है कि संसार के अनेक व्यावसायिक कार्य जिस प्रकार आर्थिक नियमों पर सञ्चालित होते हैं, ठीक उसी प्रकार वेश्यावृत्ति ने भी आज दिन एक व्यवसाय का ही रूप धारण कर रक्खा है।

'ग़रीबी सारे अनर्थों का मूल है'—यह जो कहा जाता है, सो अ-यथार्थ नहीं। इस समस्या पर तो यह बहुत ही लागू होता है। कौन नहीं जानता कि इसमें पड़ने वाली अधिकांश स्त्रियाँ किसी न किसी प्रकार के अर्थाभाव वा आर्थिक प्रलोभन से ही इसपर आकर्षित होती हैं? यह एक प्रकट बात है कि वेश्यावृत्ति अख़्तियार करनेवालियों में अधिक संख्या 'नीच' और ग़रीब जातियों की ही है। यहाँ तक कि अस्सी सैकड़ा से भी अधिक संख्या आप उन्हींकी पायेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि एक ओर तो अर्थाभाव के

कारण अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को ही वे पूरा नहीं कर पातीं, साथ ही कुछ तो स्वभावतः और कुछ दूसरों को देख-देख कर आराम और ऐश्वर्य-भोग की भी इच्छा होती है। ऐसी स्थिति में बड़ों-बड़ों के चित्त डावाँडोल हो जाते हैं, फिर वे तो ठहरीं अज्ञान और बहुतांश में निपट मूढ़; तब क्या आश्चर्य, यदि वे इस ओर लुढ़क पड़ती हैं ? सच तो यह है कि हमारे यहाँ आज वेश्याओं का जो संख्याधिक्य दृष्टिगोचर होता है, उनमें से अधिकांश इस या इससे मिलती-जुलती किसी स्थिति के ही कारण इसपर आकर्षित अथवा बाध्य हुई मिलेंगी। इनमें से बहुतों में तो इस पेशे के प्रति आदर-भाव भी नहीं, पर भीख माँगने अथवा भूखों मरने से बचने के लिए किसी तरह वे इसे अख़्तियार किये हुए हैं। वेश्यावृत्ति का सबसे बड़ा कारण तो यही अर्थाभाव और भौतिक आकांक्षा है !

और ऐसी परिस्थिति की विवशता के कारण जो इस वृत्ति पर आकर्षित होती हैं उनमें भी अधिकता किनकी ?— विधवा, अनाथा और जातिच्युतों ही की न ? इसके कारणों पर विचार करने पर हमारे समाज-संगठन का दोष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। विधवा, अनाथिनी और जातिच्युतों का

अस्तित्व ही क्यों बढ़े और क्यों उन्हें ऐसी बाध्यावस्था प्राप्त हो ? बाल-विवाह, बलात् वैधव्य और कठोर एवं किसी हद तक अस्वाभाविक नियम-पालन ही क्या इसके लिए दायी नहीं ? ज़रा-ज़रा सी वय में, गुड्डे-गुड़ियों की भाँति, बालक-बालिकाओं के जो विवाह कर दिये जाते हैं—बिना उनके स्वास्थ्य, योग्यता, एवं उपयुक्तता का कुछ विचार किये—उसी का तो यह परिणाम है कि हमारे यहाँ और तो और पर दुध-मुँही विधवाओं तक की संख्या कुछ नगण्य नहीं ! फिर, 'दुबले को दो आषाढ़' । एक तो ऐसी स्थिति में वैसे ही उनके लिए वैधव्य मुश्किल होता है, ऊपर से कड़े से कड़े नियमों से उन्हें और दबोचा जाता है। चाहिए तो यह कि जिनको ऐसा वैधव्य कठोर जान पड़े, उनको सहर्ष पुनर्विवाह करने दिया जाय—कम से कम उन अबोधों को तो इससे हर्गिज़ ही वंचित न रक्खा जाय, जिन्होंने कि अपने पतियों को कभी मन भर कर देखा तक नहीं । पर होता क्या है ? उल्टे यह कि वे वैधव्य का पालन भी करें ऐसी कठोरता के साथ कि जो, कम से कम इस ज़माने में, बड़े-बड़े पकी उम्र वालों के लिए भी सरल नहीं ! राग-रंग, पहरना-ओढ़ना, हँसना-बोलना, खाना-पीना तो दूर, एकादशी आदि त्योहारों पर

'पानी-पानी' चिल्लाते हुए मर जाने पर भी उन्हें पानी तक न दिये जाने की घटनायें तक तो हो जाती हैं!! यह सब अमानुषी नहीं तो क्या है? फिर यह और दिल्लगी कि, इच्छा या अनिच्छा से, जाने-अनजाने, उनसे ज़रा भी किसी नियम का भंग हुआ नहीं कि जात-बाहर का दण्ड सिर पर सवार! न केवल जात-बाहर, बल्कि निर्दयता के साथ कुटुम्ब से भी उन्हें निकाल दिया जाता है!! फलतः उदर-पूर्ति के लिए उन्हें कुछ सहारा ढूँढना ही पड़ता है। इधर सामाजिक और पारिवारिक कठोरता की प्रतिक्रिया होती है। तब इन दोनों के बीच वे वाध्य होती हैं इस नीच वेश्यावृत्ति को ही स्वीकार करने के लिए! यह इसका दूसरा और ज़बरदस्त कारण है।

तीसरा कारण है बेमेल विवाह—वेश्याओं की संख्या-वृद्धि में इसका भी कुछ कम भाग नहीं। हमारे यहाँ नारीत्व का आदर्श तो यह है कि पति के प्रति पूर्ण भक्ति रक्खी जाय—मनसा, वाचा, कर्मणा उसमें श्रद्धा-भक्ति रहे; पर इसके लिए वातावरण का कुछ ख़याल नहीं। मनोविज्ञान पता नहीं किस लिए है, जब कि ऐसे महत्व के मामलों में ही उसका उपयोग नहीं किया जाता! जब आदर्श इतना ऊँचा है, तो क्या यह वाञ्छनीय नहीं कि परिस्थिति भी इसके अनुकूल ही रक्खी

जाय ? और उस वक्त तक क्या यह सम्भव है, जबतक कि पति-पत्नी का मन बिलकुल न मिल जाय—एक-दूसरे का तादात्म्य न हो जाय? प्राचीन स्वयंवर की प्रथा थी भी सर्वथा इसके उपयुक्त। पर आजकल तो सब औंधा कारबार है। सवाल तो पति-पत्नी के मन-मिलन का; पर उन्हें इस बारे में बोलने का हक़ नहीं—मानों उन्हें नहीं वरन् उनके अभिभावकों को ही विवाह से लाभ-हानि होती है, जो सब-कुछ उन्हींकी पसन्द-बेपसन्द पर निर्भर! नतीजा यह होता है कि अधिकतर विवाह बेमेल रहते हैं। पति जाय उत्तर तो पत्नी जाय दक्षिण, यही ढंग रहता है। यहाँ तक कि अनेक स्वार्थान्ध अभिभावक, रुपयों के प्रलोभनवश, अल्पायु कन्याओं को बुड्ढे-ठुड्ढे, पौरुषहीन, रोगाक्रान्त और मरणोन्मुखों तक को समर्पित करने में भी नहीं हिचकते! ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव है कि कन्या दृढ़ता के साथ पति में श्रद्धा-भक्ति रख सके? जो ऐसा कर सकें वे वन्दनीय, पर सामान्यतः तो यह अस्वाभाविक ही है। मगर लुत्फ़ यह कि जाने-अनजाने किसीसे ज़रा इस नियम की उपेक्षा हुई नहीं कि कलंक का सेहरा उसके सिर बँधा; हो गई वह पक्की पापिन—पापी भी ऐसी कि जिसका फिर उद्धार भी सम्भव

नहीं ! यहाँ तो वही हिसाब कि 'गिरा सो गिरा'। इन बातों का नतीजा यही होता है कि घर में तो रहती है कलह, और मनों में अशान्ति एवं तृष्णा। तब रात-दिन की कटकट और अशान्ति के फलस्वरूप घर से निकलने की नौबत आती है; अथवा, इस बेमेल वातावरण के कारण, अतृप्त वासनाओं की किसी प्रकार पूर्त्ति की उत्कट स्वाभाविक प्रेरणा होती है। और दोनों का ही परिणाम अन्त में होता है यही वेश्यावृत्ति—पहली दशा में प्रकट और दूसरी में अप्रकट !

स्त्रियों में अर्थोपार्जन की अयोग्यता इसका चौथा कारण है। हमारे समाज की यह एक बड़ी भारी कमी है कि स्त्रियों को आरम्भ से ही परावलम्बी बनाया जाता है। शास्त्रों में जो आदेश है कि स्त्री कौमार्यावस्था में पितादि के, विवाहित दशा में पति-श्वसुरादि के और वैधव्यावस्था में पुत्रादि के अधीन रहे, उसको लेकर ही उन्हें अर्थोपार्जन की योग्यता से वंचित रक्खा जाता है। नतीजा यह होता है कि जहाँ कहीं उनपर आर्थिक समस्या आकर पड़ी नहीं कि वे घबरा उठती हैं। तब क्या करें ? कभी कुछ सिखाया गया हो, तब न ? फलतः सदैव पुरुषों की अधीनता में रहने का तो यह कारण होता ही है, साथ ही उन्हें वेश्यावृत्ति पर घसीट ले जाने में भी

इसका प्राबल्य कुछ कम नहीं होता। और ऐसी समस्यायें जीवन में प्रायः पड़ा ही करती हैं। जैसे किसीके घरवालों का एकाएक ख़ात्मा हो जाय, कोई घरवालों से सहसा बिछुड़ पड़े, किसी घटनावश घर के लोग अकेले छोड़ कर गुहवास करने निकल पड़ें और परिस्थितिवश ख़ैर-ख़बर न ले सकें, अथवा अप्रसन्नतादि किसी कारणवश घर से ही निकाल दें। यही नहीं, अनेक अभिभावक ग़रीबी आदि कारणों से कन्याओं का विवाह करने में ही समर्थ नहीं होते, उधर बड़ी उम्र हो जाने पर कन्या को घर में रखना भी असह्य हो जाता है। ऐसी अनेक स्थितियाँ हैं कि उनमें यदि स्त्रियाँ स्वयं अर्थोपार्जन कर सकें तो कोई ख़तरा न रहे। पर उन्हें इस योग्य बनाया ही कहाँ जाता है? फलतः इधर-उधर टक्कर खाकर अन्त में वेश्यावृत्ति पर ही उन्हें अपना अवलम्ब करना पड़ता है!

धर्म के नाम पर जो वेश्यावृत्ति चलती है, उसे भी कौन नहीं जानता? तीर्थस्थानों में लुके-छिपे जो व्यभिचार होता है, सो तो होता ही है; पर यहाँ हमारा अभिप्राय उस वेश्यावृत्ति से है, जो धर्म के नाम पर प्रत्यक्ष और बाक़ायदा होती है। देवदासी की प्रथा से कौन धार्मिक हिन्दू परिचित नहीं? इसने तो धार्मिकता का ऐसा रूप धारण किया है कि

इसे भक्तिपूर्ण जीवन और मुक्ति का निश्चित मार्ग ही समझा जाने लगा है ? वस्तुतः तो देवदासी और खुलेआम व्यभिचार करनेवाली वेश्या दोनों एक ही समान हैं; पर वाहरे धार्मिकता—जहाँ दूसरी निंद्य मानी जाती हैं, वहाँ पहली मानी जाती हैं पवित्र और निर्दोष ! यह हमारी बेवक़ूफ़ी और अन्धश्रद्धा तो है ही, साथ ही वेश्यावृत्ति को भी इससे कुछ कम प्रोत्साहना नहीं मिलता । ऐसी दशा में इसे भी वेश्यावृत्ति का एक कारण अवश्य मानना होगा ।

इनके अलावा यह भी मानना होगा कि कुछ स्त्रियाँ स्वभाव से ही चंचलमना होती हैं । वे जब देखती हैं कि इस वृत्ति वाली कैसी शान-शौकत, तड़क-भड़क के साथ रहती हैं, कैसे अच्छे-अच्छे कपड़े-लत्ते पहरती और नाज़-नख़रे से रहती हैं—फिर वह दिखावटी ही क्यों न हो, तो वे इस ओर झुकने लगती हैं; और क्रमशः पतित होती हुई अन्त में सम्पूर्ण रूपेण इसीपर अवलम्बित हो जाती हैं । साथ ही घर की दासियों, होटलादि की नौकरानियों, नटनियों, नर्तकियों आदि इस प्रकार के धन्धेवालियों में भी कुछ तो स्वभावतः इस ओर प्रवृत्ति होती है, कुछ आस-पास का वातावरण भी ऐसा मिलता है कि जिससे वे शीघ्र ही इस ओर आकर्षित हो जाती हैं ।

ये सब तो वेश्यावृत्ति के कारण हैं ही, पर इनके अलावा, आधुनिक सभ्यता भी इसके लिए कुछ कम उत्तरदायी नहीं। सच तो यह है कि "आधुनिक परिस्थिति में वेश्यावृत्ति एक सामाजिक आवश्यकता ही हो गई है। समाज की एक निश्चित आवश्यकता की इससे पूर्ति होती है। इसलिए यह चाहे बुराई है, पर वर्तमान दशाओं में यह है अवश्यम्भावी।" यह कैसे ? यह जानने के लिए हमें आधुनिक सभ्यता के चिन्ह-रूप शहरों पर दृष्टिपात करना होगा। शहरों में वेश्यावृत्ति कैसी बढ़ी हुई है, यह तो हम पहले बता ही चुके हैं, अब देखना यह है कि इस वृद्धि का कारण क्या ? इसके लिए किसी भी एक बड़े शहर को हम ले लें तो हम देखेंगे कि वर्तमान पूँजीवाद के कारण वहाँ ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत मिलेगी, जो कि दूर-दूर के गाँवों और छोटे शहरों से जीविकोपार्जन के लिए वहाँ आये होते हैं पर शहर के बढ़े हुए खर्चों के कारण अपने कुटुम्बों—खास कर स्त्रियों—को अपने साथ नहीं लाते। कम से कम आधी जन-संख्या को ऐसे स्थानों में ज़रूर ही अविवाहित या ख़र्च के अभाव से अकेले रहते पाया जायगा। फिर यह भी मानना ही होगा कि वे सब सद्गुणों के अवतार ही नहीं होते। अलावा इसके

अर्थाभाव अथवा अन्य ऐसे कारण स्वाभाविक कामवासना को भी रोक सकें, सो बात नहीं। फिर वहाँ का वातावरण तो और उत्तेजक होता है। इस प्रकार एक ओर तो वासनायें उठतीं और उत्तेजना पा-पाकर प्रबल होती हैं, दूसरी ओर अर्थाभाव या तो विवाह से ही वंचित रखता है नहीं तो विवाहित जीवन के उपभोग से। ऐसी दशा में वे अपनी वासनाओं की पूर्ति वेश्यावृत्ति द्वारा न करें तो और करें भी कैसे? निश्चय ही कुछ लोग शौक़ की पूर्ति के लिए भी इसे करते हैं; पर अधिकांश तो उक्त परिस्थितिवश ही इसपर आकर्षित—नहीं, कहना चाहिए, बाध्य—होते हैं! "या तो वे प्रकृति के आदेश की अवहेलना करें अथवा वेश्या के पास जायँ, सिवा इसके और चारा भी क्या?" और यह सब वर्त्तमान सभ्यता के फलस्वरूप पूँजीवाद और आर्थिक विषमता का ही परिणाम नहीं तो और क्या है?

[३]

वेश्यावृत्ति के जो कारण हैं, उनका दिग्दर्शन हो चुका; अब विचार यह करना है कि इसका हल कैसे किया जाय? क्या उपाय अथवा कौन-से साधन अख़्तियार किये जायें कि जिनसे हम इस समस्या पर विजय प्राप्त कर सकें? ऊपर

वेश्यावृत्ति के जो कारण बताये गये हैं उनका किसी प्रकार हम निवारण भी कर सकते हैं या नहीं ?

कइयों का मत है कि यदि सरकार कोई अवरोधक क़ानून बना दे तो इस समस्या का बहुत-कुछ हल हो जायगा। अनेक समाज-सुधारक नर-नारी इसके लिए प्रयत्नशील भी हैं। और इसमें शक नहीं कि यदि सरकार नेकनीयती से इसके लिए प्रयत्न करे तो इस दिशा में बहुत-कुछ सुधार हो भी सकता है। पर पहले तो हमारी सरकार नेकनीयती से इस ओर प्रवृत्त ही क्यों होने लगी ? फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जब कि इसका मूल हमारे समाज-संगठन के ही अन्तर्गत है, तब सिर्फ़ क़ानून से हो भी क्या सकता है ? क्षणिक सुधार भले ही हो; पर स्थायी सुधार तो तभी होगा। जब इसके उत्पादक उपर्युक्त कारणों को ही दूर किया जाय। सच तो यह है कि इसके मूल में ही हमें कुठाराघात करना होगा।

इसके लिए सर्वप्रथम हमें अपने समाज-संगठन और आर्थिक बटवारे की विषमता को दुरुस्त करना चाहिए। समाज का संगठन ऐसी भित्ति पर होना चाहिए कि जिससे पुरुष या स्त्री कोई भी एक जाति दूसरी एक जाति पर

अन्याय, अत्याचार या सख़्ती न कर सके। स्त्रियों को इच्छा वा अनिच्छावश सदैव ही जो पुरुषों की मनमानी के अधीन होना पड़ता है, उसका ख़ात्मा होना चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों से अपेक्षाकृत छोटी बनकर रहें, यह तो समझ में आ सकता है; पर स्त्री होने के ही कारण वे उनके सब अन्याय-अत्याचारों को भी न केवल चुपचाप बल्कि प्रसन्नतापूर्वक सहें और फिर भी उनमें अचल-अगाध श्रद्धा-भक्ति ही रक्खे रहें, यह नहीं हो सकता। आदर्श की दृष्टि से चाहे यह ठीक हो, पर व्यवहारतः तो असम्भव और अस्वाभाविक ही है। अतः इसका भी अन्त होना चाहिए। यदि विवाह एक पवित्र और जीवन-मरण का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में ऐसी उपेक्षा न होनी चाहिए, जैसी कि आजकल होती है। बेमेल विवाह क्यों हो, यदि जिनका इससे सम्बन्ध हो उन्हींकी पसन्द-नापसन्द पर यह निर्भर रहे? अभिभावकों का कर्त्तव्य तो यहीं तक न सीमित होना चाहिए कि वे अपने पुत्र या कन्या को उपयुक्त पालन-पोषण और शिक्षण द्वारा इस योग्य बना दें कि अपना साथी चुनने में वे धोखा न खायें? बाल-विवाह रूपी अभिशाप पर एकदम ही कुठाराघात करना चाहिए। ऐसी दशा में विधवाओं का प्रश्न प्रथम तो स्वयं ही न रहेगा। फिर जो

विधवायें हों भी उन्हें हम इतना क्यों जकड़ें ? क्या विधुरों पर भी हम ऐसा ही कड़ा नियंत्रण रखते हैं ? यदि नहीं तो बेचारी विधवाओं पर ही इतना दबाव क्यों ? उनके साथ जब-तक हम मनुष्योचित व्यवहार करना न सीखेंगे तबतक यह स्वाभाविक ही है कि वे अन्ततः वेश्यावृत्ति को ही गले लगायें। उन्हें अछूत मानना, उनसे शुभावसरों पर परहेज़ करना आदि बातें बिलकुल वाहियात हैं—इनसे दौरात्म्य एवं घृणा-भाव प्रकट होता है। ऐसी बातों का बिलकुल उठ जाना ही वांछनीय है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर प्रचलित देवदासी की प्रथा भी सच पूछो तो एक कलङ्क ही है। इसका जितना शीघ्र और समूल नाश हो उतना ही श्रेयस्कर, और जितना विलम्ब हो उतना ही हानिकर। यदि ये बातें दूर हो जायँ तो नौकर-चाकरों द्वारा ललचाये जाने तथा ऐसे ही अन्य प्रलोभनों में फँसने का भी अपने आप ही अन्त हो जायगा।

रही आर्थिक विषमता। सो इसके लिए भी बहु-तांश में समाज-संगठन को ही दोषी मानना पड़ेगा। हमारे समाज में आज जो यह स्थिति है कि कोई तो अपने ज़रा-ज़रा से नाज़-नख़रों के लिए लाखों-करोड़ों न्यौछावर कर देता और इच्छानुसार ऐश-आराम

भोगता है और कोई दाने-दाने के लिए तरसता है, उसका अन्त होना चाहिए। जबतक यह विषमता बनी हुई है, वेश्यावृत्ति भी किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व रक्खेगी ही। क्योंकि आवश्यकता से अधिक आराम के साधनों के उपयोग से एक समुदाय में तो विषय-वासना बढ़ेगी, दूसरा समुदाय भी उनकी यह दशा देख अपनी हीनावस्था पर झुंझलाकर अपनी वृत्तियों को तृप्त करने के लिए जैसे भी हो इसीपर प्रवृत्त होगा। इधर जबतक यह विषमता न मिटे, शहरों में मध्यम तथा निम्न श्रेणी वालों का अकेले रहना नहीं मिट सकता; न स्त्रियों का निम्न श्रेणी के गन्दे व्यक्तियों के बीच काम करना ही बन्द किया जा सकता; और इन दोनों ही दशाओं में वेश्यावृत्ति का अस्तित्व अवश्यम्भावी है। साथ ही जबतक स्त्रियों को भी अर्थोपार्जन के उपयुक्त न बनाया जाय, वे पुरुषों पर निर्भर रहना न छोड़ेंगी; और पुरुषों पर बिल्कुल निर्भर रहना, दूसरे रूप में, वेश्यावृत्ति को उत्तेजन देना ही नहीं तो और क्या है? क्योंकि इस दशा में जहाँ ज़रा भी पुरुष का आसरा कम हुआ नहीं कि वे एकदम निराश्रय होकर भटक ही तो पड़ती हैं और उस डाँवाडोल स्थिति में यही एक सहारा उन्हें मिलता है! अतः मज़-

दूर-समुदाय का गन्दी गलियों में रहना, मध्यम समुदाय के
ग़रीब लोगों का अधिक किराया न दे सकने के कारण तंग
घरों में रहना, स्त्रियों का केवल पुरुष की आय पर निर्भर
रहना, विधवा स्त्रियों की कला-कौशल द्वारा निर्वाह करने की
शक्ति और पारिवारिक बन्धन के शिथिल हो जाने से स्त्री-
धन-सम्बन्धी प्राचीन तत्त्वों का नष्ट होना, मज़दूर स्त्रियों का
मिलों में तुच्छ दशाओं तथा हीन परिस्थितियों में नियुक्त होना
आदि और अनेक आर्थिक और सामाजिक कुप्रथाओं का
तुरन्त ही नाश होने की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके
साथ ही हमें वर्तमान आर्थिकवाद के फलस्वरूप शहरों की
चमक-दमक के प्रलोभन और उद्योगों को छोड़ प्राचीन ग्रामों
और चर्खा-खादी-सरीखे घरेलू उद्योगों की ओर भी प्रवृत्त होना
पड़ेगा। तभी और एकमात्र तभी हम इस समस्या से मुक्ति
पा सकते हैं; नहीं तो यह दिन-दूनी रात-चौगुनी जैसी बढ़
रही है बढ़ती ही रहेगी, और हम साश्चर्य मूढ़वत् ताका
ही करेंगे।

१२

धर्म के नाम पर अधर्म-१

सिर्फ़ मद्रास-प्रान्त में देवदासियों की संख्या दो लाख है।

(देवदासी-असोसियेशन का वक्तव्य)

× × ×

"सर्व-साधारण में यह भ्रमपूर्ण धारणा घर कर गई है कि यह भयंकर अनीति धर्म-सम्मत है। मंदिर के ट्रस्टी लोग अपने हठ और दुराग्रह से इसे और पुष्ट कर रहे हैं। कोयम्बटूर के 'सेनगुणतर महाजन संघ' ने इस प्रथा को नष्ट करने का प्रयत्न किया था, पर इसी कारण वह सफल न हुआ। फिर भी, मैं कहती हूँ, हिन्दू-जाति को जागृत होकर अपने अन्दर जड़ जमाये हुई इस भयंकर बुराई को नष्ट करना ही चाहिए।"

—डा० म्युथ्युलक्ष्मी रेड्डी

[१]

"दुर्भाग्यवश एक 'देवदासी'–माता के उदर से मेरा जन्म हुआ। मैं १० वर्ष की हुई तभी मेरी माँ मर गई। उसके बाद मेरी दादी ने मेरा लालन-पालन किया।

"रामायण की कथा मैं बड़े चाव से सुना करती थी। उसे सुनकर, हर रोज़ मैं परमेश्वर से यही मनाया करती कि मुझे राम-जैसा पति मिले और सीता के समान मुझे सुख प्राप्त हो।

"अकस्मात्, एक दिन, मेरी दादी ने मुझसे भी 'देव-दासी' बनने के लिए कहा, जिससे कि मैं वेश्यावृत्ति में पड़ जाऊँ। मैंने उसकी बुरी सलाह मानने से इन्कार किया।

"इसके बाद, १२ वर्ष की हो जाने पर, मैं युवावस्था को प्राप्त हुई। चूँकि अब मैं स्त्रीत्व को प्राप्त हो चुकी थी, और शीघ्र ही मेरा विवाह हो जाना आवश्यक था, इसलिए अब फिर उसने मुझे देवार्पण करने अर्थात् देवता के साथ मेरा

विवाह कर देने के लिए कहा। इस बार भी मैंने इन्कार किया। मैंने उसे बहुतेरा समझाया। मैंने उससे कहा कि विवाह के पवित्र उद्देश्य से तो मैं एक कुत्ते के साथ भी विवाह कर सकती हूँ, पर देवदासी के तौर पर वेश्या तो नहीं ही बनूँगी।

"तब मेरे नाते-रिश्तेदारों ने इसके लिए मुझपर ज़बरदस्ती की। ७ दिन तक मुझे भूखों मरना पड़ा, और इसी प्रकार एक महीना बीत गया; लेकिन फिर भी मैं अपनी बात पर दृढ़ रही, यहाँ तक कि आत्महत्या कर डालने तक की धमकी दे दी। लेकिन, आह, नतीजा कुछ न निकला!

"एक दिन एक श्रीमान् मेरी दादी के पास आया। खूब देर तक मेरी दादी के साथ उसकी बातें होती रहीं। मुझे जिज्ञासा हुई; पर दादी के मुँह से निकलते हुए सिर्फ़ ये शब्द मैं सुन पाई—'उसे (यानी मुझे) नींद आ जाय, बस, फिर जैसे तुम चाहो उसके साथ भोग करना!'

"मैं सहम उठी। फ़िक्र के मारे नींद गायब हो गई, चुपचाप जागती हुई ही मैं पड़ी रही। आधी रात होने पर दादी मुझे देखने आई। मैं चुपचाप पड़ी रही। मुझे सोती समझकर वह वापस चली गई।

"मैं सब समझ गई। बस, मैं तुरन्त उठ बैठी और अपनी जगह बिछौने पर तकिये को लम्बा रख कर ऊपर से उसपर अपनी साड़ी उढ़ा दी। यह करके मैं झटपट कोठरी के बाहर निकल आई और अन्दर का दृश्य देखने के लिए खिड़की के बाहर छिप खड़ी हुई। वह श्रीमान् अन्दर घुसा और कामोन्माद में, जोश के साथ, तकिये से चिपट गया!

"मैं थर्रा उठी! १००) रु० का ज़ेवर अपने साथ ले, मर्दानी पोशाक पहन कर, चुपचाप मैं घर से निकल भागी।"

शम्पकावली नामक १३ वर्षीय मद्रासी कुमारी की यह आत्म-कथा है, जिसने अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए अभी विगत वर्ष ही अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया! आह! कैसी दशा होगी उसकी, जब कि आत्महत्या के लिए जाते हुए अपने अन्तिम पत्र में उसने लिखा—

"हे प्रभु! देवदासियों को बचा!

"परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि भगवन्, इस समय मुझे जो सहना पड़ा है, उस दुःख में से मेरे जैसी मेरी दूसरी बहनों को तो उबार! उन्हें विवाहित जीवन बिताने दे। अपनी पवित्रता को क़ायम रखने के लिए मैंने अपना घर तक छोड़ दिया है; फिर भी कहीं दुनिया मुझे दोष न

दे, इसलिए मैंने निश्चय किया है कि इस ज़िन्दगी से ही मुक्त हो जाऊँ।........

"मेरा यह पत्र लोगों की नज़रों से गुज़रेगा, उससे पहले ही मैं इस दुनिया को छोड़कर दूसरे लोक में जा पहुँचूँगी। इस अन्त-समय अपने जन्मदाता प्रभु से मैं यही नम्र-याचना करती हूँ कि वह मेरी बहनों को इस कलंकपूर्ण 'देवदासी' की प्रथा से बचावें।"

कितनी करुण! कितनी रोमाञ्चकारी!! और कितनी शर्मनाक!!! फिर भी, अफ़सोस, भोग और विलास के ग़र्ज़ी हम स्वार्थी जीवों को इसका पूरा पता तक नहीं—इस पर दर्द और इसे दूर करने की चिन्ता तो फिर दूर की बात!!!

[२]

देवदासी! देव + दासी = देवता की दासी। और, देवता कौन? मनुष्येतर—वे दिव्य महापुरुष, जो सदाचार और संयम आदि मानव गुणों को पहुँच ही न चुके हों बल्कि आध्यात्मिक रूप में उनसे भी आगे बढ़कर देवत्व को प्राप्त कर चुके हों, जो इन सब सद्गुणों को अपने व्यवहार में सर्वसामान्य कर चुके हों और जिनके लिए अ-संयम एवं अ-सदाचार की तो कल्पना भी कल्पनातीत हो।

क्षुद्र-मानव की अपेक्षा ऐसे देवों की दासी होना, फिर प्रत्यक्ष संसार में जिन देवों का अस्तित्व भी नहीं कि जिससे अ-सदाचार या अ-संयम की ज़रा लेश-मात्र सम्भावना भी हो सके, कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं। वह तो, सच पूछो तो, प्रमाणमात्र हुआ मानवी दुराचार और अ-संयम—व्यसन और व्यभिचार—विषय-भोग और आसक्ति से ऊपर उठ जाने का; पवित्रता और संयम के परिपालन का; और, अन्ततः, विश्व के परम आध्यात्मिक लक्ष्य ईश्वर की समानता को—उसके साक्षात्कार को—अपने मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न और पदार्पण करने का। यह तो ज़ाहिर करता है संसार और सांसारिक विषय-भोगों से विरक्ति और ईश्वर से भक्ति को।

यही वस्तुतः इसका रहस्य है। डॉ० बेसेण्ट के शब्दों में,

"प्राचीन हिन्दू मन्दिरों में शुद्ध श्रद्धालु भक्तिनों की जमात रहा करती थी। रोज़ पूजा के लिए जो लोग मन्दिर में आते, दूसरे धर्माचार्यों की भांति, वे भी उनमें धर्म-प्रचार किया करती थीं। उन दिनों इनकी बड़ी इज्जत-आबरू थी, और इनकी ज़रूरतों व सहूलियतों पर बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। देवों और मन्दिर के भक्तों की धार्मिक सेवा में

वे अपना समय बितातीं, जैसा कि 'दासी' शब्द से अपने आप ज़ाहिर होता है, और देवताओं के जुलूसों में सादा-से-सादा संन्यासी-वेश धारण करके अवसरानुकूल पुण्यस्तुति गाती हुई वे शरीक होती थीं। यही देवदासियों की मूलोत्पत्ति और यही उनका इतिहास है।"

× × ×

परन्तु, आज ?—

कलियुग ने हमारा अधःपात किया; और उस अधःपात के साथ, हमारी अच्छी-से-अच्छी और धार्मिक प्रथाओं ने भी अपना स्वरूप बदल दिया ! यहाँ तक कि एक ओर तो हम अपने-आप उसका कड़वा नतीजा भुगत रहे हैं, दूसरी ओर विदेशी अनुभवहीन छोकरे-छोकरियाँ तक उसपर हमारी खिल्लियाँ उड़ाते हैं—और, इससे भी बढ़कर, उसके कारण, हमें अपने देश के स्व-शासन के ही अयोग्य ठहरा रहे हैं !!

कुप्रसिद्ध अमेरिकन कुमारी मेयो, शैतान की तरह बद-नाम अपनी 'मदर इण्डिया' पुस्तक में, लिखती हैं—

"देश के कुछ भागों में, ख़ास कर उड़ीसा और मद्रास प्रान्त में, हिन्दुओं में यह एक रिवाज है कि माता-पिता देवताओं से कुछ वर माँगने के लिए यह मन्नत मान लेते हैं कि

यदि हमारी अगली सन्तान कन्या हुई तो हम उसे देवता के चरणों में भेंट कर देंगे। कभी-कभी कोई विशेष सुन्दर बची, जिसे किसी कारण से घर में रखना उचित नहीं समझा जाता है, मन्दिर में चढ़ा दी जाती है! यह छोटी-सी बच्ची मंदिर की स्त्रियों के सुपुर्द कर दी जाती है। ये स्त्रियाँ भी वही हैं, जो स्वयं चढ़ाई जाती हैं—अर्थात् देवदासी। ये उस बच्ची को नाचना-गाना सिखाती हैं। प्रायः पाँच वर्ष की उम्र में वह पुरोहित की वेश्या बन जाती है।

"यदि वह अधिक उम्र तक जीवित रह गई, तो फिर प्रतिदिन की पूजा के समय देवता के सम्मुख नाचने-गाने का काम करती है। मन्दिर के आस-पास के मकानों में उन पुरुष-यात्रियों के लिए, जो मन्दिर के दर्शन के लिए आकर वहाँ ठहरते हैं, वे सदैव कुछ दामों पर व्यवहार के लिए मिल सकती हैं। वे सुन्दर वस्त्र पहनती हैं और कभी-कभी देवताओं के आभूषण भी उन्हें पहना दिये जाते हैं! जबतक कि उनका सौन्दर्य ढल नहीं जाता, वे यही काम करती रहती हैं। उसके बाद जिस देवता के मन्दिर में वे रह चुकी हैं उसका चिह्न-विशेष उनपर गोद दिया जाता है और उन्हें थोड़ा-सा ख़र्च देकर खुले फिरने के लिए छोड़ दिया जाता है। भीख

माँगकर अपना जीविकोपार्जन करना इसके बाद उनका विशेष अधिकार समझा जाता है। इन लड़कियों के माता-पिता कितने ही धनाढ्य, उच्चवर्ग के और उच्च जाति के क्यों न हों, इस तरह अपनी लड़की को निकाल देने के कारण समाज में ज़रा भी अनादर के पात्र नहीं समझे जाते! माना जाता है कि माँ-बाप का ऐसा करना सर्वथा आदरणीय है। इस तरह की लड़कियों की एक अलग जाति बन गई है, इन्हें 'देवदासी' अर्थात् 'देवताओं की वेश्यायें' कहा जाता है! हर मन्दिर के साथ इनका होना आवश्यक है।"

निस्संदेह, यह वर्णन अतिरंजित है। बड़ी धारा-सभा के सदस्य श्रीयुत सी० एस० रंगा अय्यर अपनी पुस्तक 'फ़ादर इण्डिया' में इस पर लिखते हैं—

"हम यह मानते हैं कि भारत में देवदासियाँ हैं। पर भारत में वेश्याओं की एक पृथक् जाति है। उनमें कुलीन और धनी घर की लड़कियाँ नहीं होतीं। उनकी मातायें भी वेश्या ही होती हैं। उनका यह पैदायशी पेशा है। वेश्यायें ख़नदानों से आकर वेश्यावृत्ति अख़्तियार नहीं करतीं।

"छोटी-छोटी लड़कियाँ मन्दिरों में वेश्याओं की तरह शिक्षा पाकर भी, धर्म के भाव से, बड़ी होने पर वेश्यावृत्ति

नहीं करतीं। वे किसी एक आदमी से शादी कर लेती हैं। भारतवर्ष की वेश्यायें भी पवित्र होती हैं। वे ईश्वर से डरती हैं। अमेरिकनों के तलाक़ की बावत पढ़कर यह समझा जा सकता है कि स्त्री-पुरुषों के प्रेम के अस्तित्व का रूप कितना भयानक है; किंतु देवदासियाँ, जो केवल एक ही व्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं, दूसरे के पास नहीं जातीं, जबतक कि वह पहला व्यक्ति जीवित रहता है।"

स्व० लाला लाजपतराय भी मिस मेयो की बातों को अतिरंजित बताते हैं, जबकि अपनी 'अनहेपी इण्डिया' पुस्तक में वह लिखते हैं:—

"...यह स्मरण होना चाहिए कि दक्षिणप्रांत के सिवा और कहीं इसका अस्तित्व नहीं है; और मिस मेयो का 'देश के कुछ भाग' लिखना नितान्त भ्रामक है। दक्षिणी प्रांत में भी मलाबार-जैसे बड़े-बड़े ऐसे भाग हैं कि जहाँ कोई इसे जानता तक नहीं। और यह कथन तो प्रत्यक्ष ही एक बड़ी भारी अतिशयोक्ति है कि '५वर्ष की उम्र से ही वह पुरोहित की वेश्या बन जाती हैं'।"

लालाजी ने इस सम्बन्ध में सर जेम्स फ्रेज़र की 'गोल्डन वो' किताब से भी एक लम्बा उद्धरण दिया है, जिससे

इस प्रथा पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार, "तामिल मंदिरों में मंदिर की सेवा के लिए चढ़ाई हुई नाचने-गाने वाली लड़कियाँ देवदासियाँ अर्थात् देवताओं की सेविकायें कहलाती हैं; परन्तु साधारण बोल-चाल में उन्हें वेश्या कहा जाता है। दक्षिण भारत के किसी भी अच्छे मन्दिर में इन पवित्र नारियों का जत्था रहता है। इनका ख़ास काम है सुबह-शाम मन्दिर में नाचना, देवता पर चँवर करना, जलूसों में देवता के सामने नाचना-गाना और कुम्भार्ती लेकर चलना। गर्भवती मातायें आसानी से बच्चा पैदा होने के लिए अक्सर यह मन्नत मनाती हैं कि अगर लड़की हुई तो उसे देवता की सेवा के लिए अर्पण कर देंगे। मद्रास प्रांत के तिरुकुलिकुंद्रम नामक एक छोटे-से क़स्बे में तो हरेक परिवार की बड़ी लड़की मन्दिर की सेविका बनती है। इस प्रकार देवार्पण की जानेवाली बालिकाओं का देवदासी का काम शुरू करने से पहले, रस्म के तौर पर, देव-प्रतिमा या तलवार के साथ विवाह होता है, जिससे प्रकट होता है कि अक्सर वे देव-पत्नियाँ मानी जाती हैं।"

इस लेखक ने उनके उज्वल पक्ष पर भी दृष्टिपात किया है। उनके मूल को तो अच्छा बताया ही है, साथ ही आज कल

की 'नर्स' या 'सिस्टर' सेविकाओं के समकक्ष भी उन्हें माना है। देवता से विवाह कीभावना को ऊँचा बताया है। उसके कथनानुसार इसका मूल है साधारण कौटुम्बिक जीवन का परित्याग कर देव-सेवा में लीन होना। इसमें शक नहीं कि यह भी एक पहलू अवश्य है, और हमारी समझ में ठीक भी है। परन्तु सवाल मूल का नहीं, सवाल तो उनकी आज की स्थिति का है। और इस विषय में हमें अवश्य ही श्रीमती डा० म्युथूलक्ष्मी रेड्डी के कथन को प्रामाण्य मानना होगा। वह उस प्रांत की रहनेवाली ही नहीं बल्कि मद्रास कौंसिल की कर्मण्य सदस्य भी हैं और क्रियोद्धार—ख़ास कर इस देवदासी-प्रथा के विरुद्ध पिछले कई सालों से अन-वरत् प्रयत्न कर रही हैं। 'बाम्बे क्रॉनिकल' के गत कॉंग्रे-साङ्क में उन्होंने लिखा था—

"दासी शब्द का मूल अर्थ चाहे जो हो, आज तो व्यव-हार में उसके मानी व्यभिचारिणी के होते हैं। दक्षिण भारत के जो भाई-बहन इन देवदासियों के रीति-रिवाज से भली-भांति परिचित हैं, उन्हें मेरे इस कथन से सहमत होना ही पड़ेगा। इस प्रथा का सबसे अधिक दयनीय, घृणित और क्रान्तिकारी पहलू बालिकाओं का उनकी बिलकुल अबोध

अवस्था से ही व्यभिचार की शिक्षा देना है। एक महिला ने क्या ही ठीक कहा है, 'मोम का वह टुकड़ा, वह नन्हीं-सी, कोमल, निर्दोष बालिका अपने जीवन के आरम्भ ही में एक ऐसी शक्ति के हाथों सौंप दी जाती है, जो स्वभाव से दुष्ट होती है।' इन निर्दोष बालिकाओं को, जिनमें दत्तक और ओरस दोनों सम्मिलित हैं, बचपन ही से गाना-बजाना और नाचना आदि सब ललित कलायें सिखलाई जाती हैं, जिन्हें सीखकर वे निष्णात दुराचारिणियाँ बन जाती हैं। लोगों को अपने हाव-भाव से आकर्षित करने लगती हैं। समावर्तन संस्कार (?) के पश्चात् वे देवालयों में प्रविष्ट होती है और नाम-मात्र के लिए तलवार (Dagger) या देव-प्रतिमा के साथ उनकी विवाह-विधि का प्रहसन कर दिया जाता है। इसके कारण वे धार्मिक रीति से अपना विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन बिताने से आजन्म वंचित रहती हैं। इस तरह जन्म भर के लिए उन्हें स्वच्छंद विहार करने का—व्यभिचारपूर्ण जीवन बिताने का पट्टा प्राप्त हो जाता है। आजकल १८ वर्ष से कम उम्र की सुकुमार बालिकाओं का जीवित बलिदान (Dedication) क़ानूनन मना है, अतः कन्याओं के माता-पिता या अभिभावक कन्या का उक्त संस्कार १८ वर्षों के

बाद करके बड़ी दक्षता और सफलता के साथ इस क़ानून से अपना बचाव कर लेते हैं। यहाँ आप अधिकार-पूर्वक यह प्रश्न कर सकते हैं कि १८ वर्ष के बाद तो कन्यायें बालिग़ हो जाती हैं, अतः उन्हें अपने भावी जीवन और भाग्य का निर्णय करने में बिलकुल स्वतंत्र होना चाहिए। परन्तु मैं हिन्दू-जनता को विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि ये कुमारिकायें बड़ी असहाय अवस्था में होती हैं, उन्हें बचपन से व्यभिचार को ही अपना जातीय-धर्म समझने की शिक्षा दी जाती है। अपने-अपने अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण ये भोली बहनें गार्हस्थ्यजीवन का पवित्र पथ ग्रहण करने से सदा हिचकती रहती हैं; उन्हें डर इस बात का बना रहता है कि कहीं गृहणी बन जाने पर परमात्मा का कोप उन्हें भस्म न कर डाले। बचपन की अबोध और कोमल अवस्था ही से इस तरह के भद्दे और शर्मनाक वायुमंडल में रहने के कारण इन बहनों की मनोवृत्ति ठीक वैसी ही बन जाती है। अतः जब वे अपनी अवस्था को प्राप्त होती हैं तब भी उन्हें इसी पाप-पूर्ण जीवन में सुख का अनुभव होता है। ऐसी दशा में इन बहनों से किसी दूसरी बात की आशा ही कैसे की जाय?"

इस प्रकार "कहे जाने वाले धार्मिक रिवाजों के झूठे

चट्टानों पर लाखों निर्दोष बालिकाओं को अनीति के इस भयंकर गड्ढे में होम दिया जाता है और हमारे धर्माचार्य बने हुए लोग ख़ामोशी के साथ इन्हें देखा करते हैं।"

कहाँ तक कहें, लाला लाजपतराय के लेखानुसार—और शायद कुछ समय पूर्व महात्माजी ने भी ऐसा ही कहा था—"दक्षिण भारत के कुछ मन्दिरों को तो उनके पुजारियों ने बिलकुल व्यभिचार के अड्डे—वेश्यालय—ही बना रक्खा है।" और इसलिए, मिस मेयो के आक्षेपों का जवाब देते हुए भी, उनके अन्तःकरण से सहसा यह निकल पड़ा है, "देवदासियों की यह प्रथा राक्षसी है; और हरेक दक्षिण भारतवासी को इसके लिए शर्म से गड़ जाना चाहिए।"

सचमुच यह न केवल धर्म ही नहीं, बल्कि स्पष्टतया धर्म के नाम पर अधर्म है; पुण्य के नाम पर पाप का बवंडर है। मनुष्य की मनुष्यता को नष्ट कर उसे साक्षात् राक्षस की कोटि में ले जाने का घृण्य प्रयत्न है। सवाल यह नहीं है कि दुनिया के किसी कोने में इससे भी बढ़कर पतित कोई दृश्य या क्रिया मौजूद है या नहीं? हो, इससे हमें मतलब नहीं। सवाल सीधा-सादा यह है कि इससे हमें नुकसान हो रहा है या नहीं? हमारी मानवता और हमारे सद्गुणों को यह

नष्ट कर रही है या नहीं? और हमारी नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक शक्ति को इससे क्षति पहुँच रही है या नहीं? और, अफ़सोस, इन सभी दृष्टियों से हम इसे एक महा नीच घृण्य, पतित और इसलिए तत्काल त्याज्य प्रथा मानने को बाध्य होते हैं। ओ मनुष्य! बता तो सही, भला तू कबतक इस 'राक्षसी' प्रथा से अपना मान-मर्दन करवाता रहेगा? उठ! उठ खड़ा हो! और, इसके अस्तित्व-नाश के लिए प्रयत्नशील हो जा!

[३]

देवदासी की प्रथा के द्वारा किस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म हो रहा है, यह अब ऐसी बात नहीं कि जिसे कोई जानता न हो। श्रीमती म्युथ्यु, लक्ष्मी रेड्डी के लेखानुसार "स्त्री-शिक्षा के अभाव के कारण हिन्दू-समाज ऐसे अनर्थों को जड़-मूल से दूर करने के लिए तैयार नहीं होता, यह शोच-नीय है। स्त्रियों के एक बड़े भाग की ऐसी पतितावस्था से हिन्दुओं की नैतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति अधम होती जाती है। अनेक सुखी घर, इसके कारण, दुःखी बन रहे हैं। लोगों का मन लुभाने के लिए ही इन जवान औरतों

का निर्माण हुआ ऐसा जान पड़ता है; और, इससे, समाज की गन्दगी बढ़ती जाती है।"

देवदासियों के रूप में स्त्रियों को तो इसके कारण तरह-तरह के कष्ट और सन्ताप एवं असुविधाओं का सामना करना ही पड़ता है, पर पुरुषों का भी इससे बड़ा नुक़सान हो रहा है। स्त्रियों के लिए जहाँ यह कलङ्क है, वहाँ पुरुष भी इस कलङ्क के दोष से बरी नहीं। इसका फल भी स्त्री-पुरुष दोनों ही को समान रूप से भोगना पड़ता है। नैतिक पतन ही नहीं, इसके कारण होने वाला स्त्री-पुरुषों का शारीरिक ह्रास भी कुछ कम नहीं है।

व्यभिचार और व्यसन का कोई धर्म समर्थन नहीं करता। धर्म ही क्यों, आधुनिक विज्ञान भी इसे हानिकर ही सिद्ध करता है। विषय-भोग की ज़्यादती, लगातार अ-संयम का परिणाम तो किसी भी व्यक्ति, कुटुम्ब या भावी पीढ़ी के लिए स्वास्थ्य और बल-रूपी आनन्द का नाशक ही हो सकता है। स्त्रियों में जहाँ इससे ५० से ७५ सैकड़ा तक गर्भस्राव, गर्भ का इधर-उधर हो जाना, बाँझपन आदि अनेक 'स्त्री-रोग' हो जाते हैं, तहाँ पुरुषों में लक़वा, तिल्ली, जिगर, गुर्दे आदि के भयङ्कर रोग होते हैं, और समाज में लूले, लंगड़े,

काने, बहरे, अन्धे, अपाहज बालकों की उत्पत्ति में भी ५० सैकड़ा कारण यही होता है। फिर देवदासियाँ किसी एक ही जाति की नहीं होतीं, हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों से वे भर्ती की जाती हैं। यही नहीं, उनका संख्या-बल क़ायम रखने के लिए यह भी प्रथा पड़ी हुई है कि जब कोई दासी निकम्मी-बाँझ हो जाय, जैसा कि उसके पेशे को देखते हुए बिल्कुल स्वाभाविक और अनिवार्य है, तब वह किसी दूसरी कन्या को मोल लेकर अपनी स्थानापन्न और वारिस बना दे। इसीलिए श्रीमती रेड्डी का कहना है—

"हिन्दू जनता का ध्यान मैं इस बात पर आकर्षित करना चाहती हूँ कि यद्यपि यह प्रथा दक्षिणभारतीय हिन्दुओं के कुछ फ़िरक़ों ही में प्रचलित है, तथापि समस्त हिन्दू-समाज के सदाचार, स्वास्थ्य और सुख पर इसका असर हो रहा है; और इसलिए जातिगत रूप को छोड़कर यह एक राष्ट्रीय महत्व और विचार का विषय बन जाता है।"

इसीलिए जो सच्चे सुधारक हैं, वे इसे दूर करने में प्रयत्न-शील है। आज कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं, जो इस प्रथा का समर्थन करता हो। इसके मूल को चाहे कुछ लोग बुरा न समझते हों, पर वर्तमान स्वरूप का तो—

सनातनी या आधुनिक—कोई पक्ष ले ही नहीं सकता। यहाँ तक कि महाकट्टर पूज्य मालवीयजी महाराज भी आज से १९ वर्ष पूर्व ही, सन् १९१२ में, यह कह चुके हैं—

"अल्पवयस्क बालिकाओं को ऐसी जगह अर्पण करना कि जहाँ मजबूरन उन्हें पाप और लज्जापूर्ण जीवन बिताना ही पड़े, ऐसा अधर्म और पाप है कि, मुझे आशा है, देश का कोई भी व्यक्ति उसके समर्थन में एक भी प्रमाण नहीं दे सकता।"

परन्तु, इसे दूर करने के लिए हमने किया क्या ?

[४]

लाला लाजपतराय अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"इस दूषित प्रथा को उठाने के लिए सुधारकों का काम जारी है। और, विश्वास-पूर्वक यह आशा की जा सकती है कि, यदि सरकार पक्षपात से काम न ले तो मद्रास-कौंसिल के सदस्य इसे अधिक दिनों तक न रहने देंगे।" और मद्रास-कौंसिल

उत्साही-उद्योगी महिला-सदस्य एवं उपप्रधान श्रीमती म्युथ्युलक्ष्मी रेड्डी ने बताया है कि आज ही नहीं बल्कि बहुत पहले से, सन् १८६८ से, इसके लिए क़ानून बनवाने का आन्दोलन किया जा रहा है। १९०६-०७ में भारत-

सरकार को व्यभिचार के लिए उड़ाई या भगाई जाने वाली लड़कियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा था। नागपुर के डा० हरिसिंह गौड़ ने, जो स्त्रियों के हितों-स्वार्थों के लिए अदम्य उत्साह के साथ अनवरत प्रयत्न करते रहते हैं, इस अवसर पर देवदासियों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था; और उसने इस सम्बन्ध में मद्रास-सरकार को लिखा भी था। इसके बाद, १९१२ में, सर मानकजी दादाभाई, मुधोलकर और मडगे ने क्रमशः तीन बिल इस सम्बन्ध में पेश किये। इसे उठाने के पक्ष में मत भी बहुत से मिल गये थे; परन्तु यह कहकर कि बचाई जाने वाली लड़कियों को आश्रय देने वाले हिन्दू-गृह कहाँ हैं, सरकार ने चुपचाप इसे छोड़ दिया! मद्रास-सरकार ने भी, कहा जाता है, भारत-सरकार को कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। जो हो, बिल खटाई में पड़ ही गया। हाँ, १९२२ में असेम्बली में डा० गौड़ ने इसके लिए फिर से प्रयत्न किया। बड़े प्रमाणों और अंकों से युक्त भाषण उन्होंने अपने बिल के समर्थन में दिया; परन्तु परिणाम तब भी न निकला! सरकार की ओर से, तत्कालीन क़ानून-सदस्य डा० सप्रू के

द्वारा, कहा गया कि ऐसे प्रस्ताव को असली रूप देने में सब-से बड़ी कठिनाई यह है कि बचाई जाने वाली स्त्रियों के लिए आश्रय को घर कहाँ मिलेंगे ? परन्तु श्रीमती रेड्डी का कुछ-न-कुछ प्रयत्न इसके बाद भी जारी रहा है और मद्रास-कौंसिल में देवोत्तर सम्पत्ति-विधान (Religious Endowment Act) पेश होने के समय भी उन्होंने उसमें देवदासियों के हित की कुछ बातें समाविष्ट कराने का—लेखों और वक्तृताओं द्वारा—बड़ा प्रयत्न किया था। यही नहीं, दूसरे सुधारेच्छु भी इसके लिए, अपने-अपने ढंग पर, कुछ-न-कुछ प्रयत्न कर ही रहे हैं; यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें किसका प्रयत्न ठीक दिशा में है और किसका ठीक दिशा में नहीं है। अस्तु।

[५]

इसमें शक नहीं कि निषेधक क़ानून इस स्थिति में, इसे उठाने का सबसे अधिक बाअसर प्रयत्न होगा। परन्तु सामाजिक मामलों में बात-बात पर क़ानूनी बन्धनों की ही नीति के हम क़ायल नहीं हैं। फिर बालिकाओं के सहवास, समर्पण आदि की आयु निश्चित कर देने मात्र से कोई विशेष लाभ भी हमें होता दिखाई नहीं देता। सच्चा लाभ तो

तभी हो सकता है, इस प्रथा का उन्मूलन तो तभी सम्भव है, जबकि उन मन्दिरों का ही सुधार किया जाय—उन मन्दिरों का कि जो कहने के लिए धर्म-स्थान होते हुए भी ऐसे कर्मों को सह ही नहीं रहे बल्कि इन्हें उत्तेजन देकर, सच पूछो तो, इसीका उन्होंने अपने-को अड्डा ही बना रक्खा है! इन्हीं सब बातों की दृष्टि से तो अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के समय महात्माजी ने लिखा था कि वहाँ के कुछ मन्दिरों में तो देवता के बदले वास्तव में शैतान का निवास है! हमें मालूम है कि महात्माजी के इस कथन पर कई बड़े-बड़े सुशिक्षित भी दहल उठे थे; परन्तु इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि एक विद्वान् महोदय ने असेम्बली में, सहवास-बिल का विरोध करते हुए, यह दलील भी पेश की थी कि इससे (सहवास-बिल से) मन्दिर की वेश्याओं (देवदासियों) को नुक़सान पहुँचेगा (क्योंकि जाति के हिन्दू उनसे विवाह नहीं करते)! अतएव, जहाँ तक हम समझते हैं, महात्माजी का कथन ज़रा भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं हो सकता—न्यूनोक्ति चाहे हो। इसलिए देवदासी-प्रथा के क़ानूनी निषेध के साथ-साथ मन्दिरों के सुधार के लिए भी हमें कटिबद्ध होना चाहिए।

शिक्षा का अभाव भी इस कुप्रथा को बरक़रार रखने का एक ज़बरदस्त कारण है, और उसकी उपेक्षा अवांछनीय है। सुशिक्षा-प्राप्त स्त्री-पुरुष ऐसा हेय कर्म करेंगे, इसमें सन्देह है। फिर सुशिक्षा पाकर देवदासियाँ अपने आप भी अपने इस कृत्य से न लज्जित होंगी? हमें स्मरण रखना चाहिए, देवदासियाँ वेश्या नहीं हैं—परिस्थितियों ने उन्हें वेश्या का कर्म करने के लिए मजबूर भले ही कर रक्खा है, नहीं तो वेश्याओं की अपनी जाति या श्रेणी तो उनसे बिलकुल भिन्न और पृथक् है। विवाहित जीवन व्यतीत करने का उन्हें मौक़ा और सुविधा मिले तो कौन कह सकता है कि उनमें से अधिकांश बड़ी ख़ुशी और सन्तोष के साथ उसी तरह उसे न बितायेंगी, जैसे कि भले घरों की गृहस्थनें बिताती हैं? सुना तो यहाँ तक जाता है कि आज की अव-नत दशा में भी इनमें से किसी को यदि कोई विश्वस्त भला और सच्चा प्रेमी मिल जाता है तो वह अपना सतीत्व सिवा उसके और सबसे अक्षुण्ण रखती है—अपनेको एक-मात्र उसी की दासी, सहचरी या पत्नी मानकर सन्तुष्ट रहती है। अतएव शिक्षा—सुज्ञान—का इनमें प्रवेश और प्रचार इस प्रथा को उठाने के लिए आवश्यक है।

सरकार की ओर से समय-समय यह जो कहा जाता है कि बचाई हुई देवदासियों को आश्रय कौन देगा, इसमें कोई तथ्य नहीं—यह कोरी बहानेबाज़ी और टालमटूल का ढंग है। मद्रास में ऐसे बहुतेरे 'घर' हैं, जो अनाथ, अपाहज, भूले-भटके, यहाँ तक कि वेश्याओं से बचाई हुई बालिकाओं तक को आश्रय देते हैं; क्या वे इन्हें भी आश्रय न देंगे?

एक बात और—और, यही सबसे महत्वपूर्ण है। श्रीमती रेड्डी का कहना है कि जो ज़मीन उन्हें मन्दिर की तरफ़ से मिली हुई है वह उनके लिए स्थायी करके उन्हें मन्दिर की सेवा से मुक्त कर दिया जाय। आज की स्थिति तो यह है कि प्रत्येक देवदासी को, मन्दिर की सेवा के लिए, कुछ ज़मीन मिली हुई है। यह ज़मीन उसकी वंशपरम्परा-गत है। जबतक वह बाँझ-निकम्मी नहीं होती तबतक तो वह, उसके बदले, मन्दिर की सेवा करती ही रहती है; परन्तु इसके बाद इस ज़मीन को अपने ही निमित्त रखने के लिए किसी ग़रीब-सुन्दर बालिका को मोल लेकर, अपने बदले, अपने उत्तराधिकारी के रूप में, उसे देवार्पण करके देवदासी बनाना पड़ता है। यह साफ़ है कि इसमें अज्ञानजन्य यह भ्रान्त धारणा भी होती है कि जिसने इस प्रथा को जारी न

रक्खा उसपर परमात्मा का क़हर पड़ेगा; परन्तु मुख्य कारण तो ग़रीबी—गुज़ारे का साधन ज़मीन छिनने का भय ही होता है। और इसका सर्वोत्तम उपाय यही है, कि मन्दिर के दासीपन से मुक्त करके उन्हें जो ज़मीन मिली हुई है उसे उन्हींकी सम्पत्ति बना दिया जाय—बिना किसी मुआवज़े के। ऐसा करने से उनमें से अधिकांश इस स्थिति को ज़रूर ही बदल डालेंगी,। मैसोर आदि कुछ रियासतों में ऐसा हुआ भी है। भारत-सरकार इस विषय में उनसे सबक़ ले सकती है।

सारांश यह है कि इस अधर्म या कुप्रथा को यदि हम सचमुच उठाना चाहते हैं, तो हमें सर्व-साधारण ख़ास कर इसमें ग्रस्त देवदासी बहनों में इसके विरुद्ध ऐसी तीव्र भावना और प्रवृत्ति बद्धमूल करनी पड़ेगी कि जिससे अपनी वर्तमान शर्मनाक और दयनीय स्थिति में वे क्षण भर के लिए भी न रह सकें। इसके लिए दो बातें होनी चाहिएँ। इसके विरुद्ध वातावरण पैदा करने के लिए प्रचार और शिक्षा प्रसार किया जाय, और ऊपर लिखे अनुसार आर्थिक दृष्टि से उन्हें निश्चिन्त कर दिया जाय। मन्दिरों का सुधार अत्यावश्यक है। ऐसे मन्दिरों के प्रति तो सर्व-साधारण में ऐसे

भाव बद्धमूल होने चाहिएँ कि जिससे उनमें जाते हुए वे वैसे ही शर्मायें, जैसे कि वेश्यालयों में जाते हुए शर्माते हैं। जबतक ऐसा न होगा, कम या अधिक मात्रा में, यह भयङ्करता और अधमता जारी ही रहेगी। क्योंकि प्रत्यक्ष अधर्म या बुरे काम को करते हुए तो, उसे पाप समझ कर, आदमी कुछ संकोच अवश्य करता है; परन्तु धर्म के आवरण में छिपे अधर्म को तो वह सर्व-साधारण की आँखों में धूल झोंकते हुए स्वच्छन्दता-पूर्वक ही भोगता रहता है। अतएव, हमारी नम्र-सम्मति में, इसके लिए तीन उपाय अत्यावश्यक हैं—

१. सबसे पहले स्त्रियों—ख़ास कर देवदासियों में सुशिक्षा और प्रचार के द्वारा इस तथा ऐसी ही अन्य बातों के विरुद्ध तीव्र भावना और प्रवृत्ति बद्धमूल की जाय।

२. देवदासियों की वर्तमान मिलकियत—ज़मीन—को, मठाधिकारियों के स्वेच्छया अथवा क़ानूनन, अभी जिस-जिस के पास हो उसीकी स्थायी बना दिया जाय। मन्दिर-सेवा का बन्धन उठाकर, देवदासियों को मुक्त कर दिया जाय।

३. मन्दिरों को सुधारा जाय। पाप-प्रसारक ऐसी सब बातें नष्ट करके संयम और पवित्रता-पूर्ण आध्या-

ल्मिकता का वातावरण मन्दिरों में उत्पन्न किया जाय।

ऐसा होने पर, हमें आशा है, यह कुप्रथा क्रमशः घटती हुई कालान्तर में बिलकुल नेस्तनाबूद हो जायगी और तब संसार भी हमारा मख़ौल न कर सकेगा। रहा यह कि ऐसा करे कौन? सरकार बीच में पड़कर क़ानून द्वारा ऐसा करे यही अधिकांश का मत है। वर्तमान स्थिति में सबसे आसान और बाअसर अतएव सर्वोत्तम उपाय है भी यही। यदि सरकार ईमानदारी से काम ले, धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के थोथे बहाने का अवलम्बन ले, और सती-प्रथा की भांति इसके लिए भी प्रतिबन्धक क़ानून बना दे, तो मैसोर की भांति वह भी इस दिशा में अच्छा काम कर सकती है। पर यदि ऐसा करने में वह हीला-हवाला, ढील-ढाल करे, जैसा कि वह अभी तक करती आ रही है, तो इसकी ज़िम्मेवारी लोक-प्रतिनिधियों एवं सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं पर और भी अधिक आ पड़ती है। उनका फ़र्ज़ है कि अपने ही बूते पर वे इसके लिए उठ खड़े हों और इतनी लगन, तत्परता एवं सतर्कता से इसके लिए काम करें कि विजय-श्री उनके सामने आ खड़ी होने के लिए बाध्य हो। यह उपाय सर्वोत्तम ही नहीं, रामबाण और चिरस्थायी भी होगा।

१३

धर्म के नाम पर अधर्म-२

"इस भाग्यशाली देश में हरएक सामाजिक कुप्रथा धर्म के नामपर प्रचारित रहती है।"

—डा० म्युथ्युलक्ष्मी रेड्डी

[१]

देशवासियों–सम्बन्धी लेख को पढ़कर एक सम्मान्य मित्र लिखते हैं —

"देवदासियों का प्रश्न उत्तर-भारत में उतने महत्त्व का नहीं है, जितना रामद्वारा या सत्संग जानेवाली स्त्रियों का। जोधपुर के सर प्रतापसिंह ने रामद्वारे तोड़ने की चर्चा चलाई थी—पर, बनियों ने प्रार्थना की कि रामद्वारे न होने से उनकी धर्म-पत्नियाँ बाँझ रह जायँगी! राजपूताने में राम-द्वारों में और संयुक्त-प्रान्त व पञ्जाब में सत्सङ्गों में भयङ्कर व्यभिचार हो रहा है। गोविन्द-भवन पर तो लोगों ने थू-थू भी की है, पर मुझे अच्छी तरह मालूम है कि बड़े-बड़े धनी-मानी जान-बूझकर अपनी सामाजिक गौओं को समाज के साँडों के पास भेजते हैं। वर्ण-सङ्करता और व्यभिचार बढ़ रहा है। इसपर ज़रूर कुछ लिखिए।"

सचमुच आज धर्म के नाम पर जो अधर्म हो रहा है,

उससे न दक्षिण भारत बचा है, न उत्तर भारत; पूरब और पश्चिम का भी यही हाल है। यह बात दूसरी है कि दक्षिण में यह देवदासी-प्रथा के रूप में तो उत्तर पूरब और पश्चिम में अन्य किन्हीं रूपों में। "आप सारे हिन्दुस्थान में घूम आइए, धर्म के व्यवसाइयों की सर्वत्र भरमार है। इन व्यवसाइयों की करोड़ों की आय देखकर आप कलेजा थाम कर बैठ जायेंगे। चाहे और किसी रोज़गार में नफ़ा हो या नुकसान पर इसमें नफा ही नफा है। अमीर और ग़रीब लोग, अन्धों और कुक्कुड़ों की भाँति, अपनी गाढ़ी कमाई धर्मखाते लगाते हैं। हज़ारों मन्दिर, हज़ारों क्षेत्र और हज़ारों ठाकुरद्वारे—न जाने कितनी और ऐसी ही संस्थायें इस खाते में खोली गई हैं और उनका करोड़ों रुपयों का अबाध व्यापार चल रहा है।" यह लिखते हुए श्री चतुरसेन शास्त्री बतलाते हैं कि "तमाम भारतवर्ष में कुल मिलाकर १,५०० से ऊपर प्रसिद्ध तीर्थ हैं, जिनमें अनगिनत मन्दिर और बेशुमार देवता बैठे-बैठे यात्रियों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इन तीर्थों में प्रतिवर्ष लगभग ५ करोड़ यात्री पहुँचते हैं और डेढ़ अरब से ऊपर धन जनता का इस मध्ये ख़र्च होता है, जिसमें से ६० करोड़ के लगभग मन्दिरों, महन्तों

और पुजारियों के पेट में जाता है।" उन्हींके लेखानुसार, "इनमें से बहुत से पुजारी और महन्त राजा की तरह वैभव से रहते हैं। उनके हाथी-घोड़े, महल, ठाठ-बाट सब हैं। बहुतों को राजा के अधिकार तक मिले हुए हैं। इनकी आमदनी अबाध है। ये सोलह आने उस धन के स्वामी हैं, जो देवता को चढ़ावा जाता है। ये लोग बहुधा वेश्यागामी, पर-स्त्री-गामी, लुच्चे-पाखण्डी और कुपढ़ हैं। बहुतेरे मन्दिर और सम्प्रदाय व्यभिचार की प्रकृति को आश्रय देते हैं। वाममार्ग और चार्वाक-सम्प्रदाय के सिद्धान्त जगत्व्यापक हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय का बहुत-सा भण्डाफोड़ स्वामी ब्लाकटानन्द और बम्बई में चलाये हुए महाराज-लाइबल-केस में हो गया है।"

[२]

धर्म! मन्दिर!! और तीर्थ!!!—यह कल्पना ही कितनी उत्थानकारक, कितनी उठाने वाली और कैसी पवित्र है! दुनिया में धर्म न रहे तो फिर दुनिया का अस्तित्व ही काहे पर हो? दया, प्रेम, विश्वास—अपने और दूसरों के अर्थात् अपनी और दूसरों की अच्छाइयों में विश्वास—लोकहित और इन सबके लिए कष्ट-सहन एवं

आत्म-बलिदान की भावना, यही धर्म है और इसीपर दुनिया टिकी हुई है। नहीं तो यदि दुनिया इसे भूल जाय, लोगों में परस्पर दया, प्रेम, विश्वास, लोक-हित की भावना न रह जाय, तो कौन किसको बर्दाश्त करेगा? आपस में अविश्वास, घृणा, स्वार्थान्धता का साम्राज्य होकर अव्यवस्था और अशान्ति का दौरदौरा मचेगा; और विनाश उसका अवश्यम्भावी परिणाम होगा इसीलिए भगवान् ने भी कहा है—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहं॥

रहे मन्दिर; सो वे तो साधन मात्र हैं धर्म की भावना को प्रेरित और स्मृत करने के। कोई भी धर्म—मूर्त्ति-पूजक हो या मूर्त्ति-तोड़क, मन्दिर उसकी साधना का मुख्य साधन है—एक ज़बरदस्त साधन। मन्दिर का मतलब है किसी भी धर्म का वह आश्रम-स्थान कि जहाँ जाते ही, उसके वातावरण में, कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त सांसारिक कमज़ोरियों को और नहीं तो कम-से-कम उतने समय के लिए तो ज़रूर ही विस्मृत कर दे और धर्म-साधन की ओर प्रेरणा प्राप्त करे; मूर्त्ति-पूजा का मतलब भी उस पत्थर या मूर्त्ति-रूप देव की अन्ध-गुलामी नहीं बल्कि उस देव के

धर्म-कृत्यों का स्मरण और इन्हें अपने जीवन में अपनाने का संकल्प एवं प्रयत्न है—और महन्त, पुजारी या पण्डों की गुलामी, सेवा, आज्ञा-पालन तो हर्गिज़ मूर्ति-पूजा नहीं। और तीर्थ? वे मानों मूर्त्ति-रूप हैं उन प्रेरणाओं को सिद्ध करने के। तीर्थ-यात्रा को जाने का मतलब है अपनी समूची शक्ति को धर्म-कृत्यों की ओर प्रेरित करने के सतत, प्रयत्न की दृढ़निश्चयता। जो भी सांसारिक कमजोरियाँ शेष रह गई हों, तीर्थ—यात्रा के रूप में, आत्म-बलिदान द्वारा, उन पर विजय-प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। तीर्थ को जाते समय 'स्व' का भाव छोड़कर विश्व-प्रेम, विश्वैक्य, उदारता दया और सेवा का मानों संकल्प होता है। मतलब यह कि धर्म जो कि लक्ष्य है, मन्दिर और मूर्ति-पूजा के द्वारा उसकी प्रेरणा-प्राप्ति हो जाती है और तीर्थ के द्वारा उसमें सिद्धि करने का संकल्प होता है। परन्तु आज तो कुछ और ही बात है।

[३]

आज की कुछ बात ही न पूछिए। प्रजा-रक्षण के लिए ही राज और राजा की कल्पना हुई थी, पर आज वे प्रजा-भक्षण के लिए तुले हुए हैं, ऐसी दशा में क्या आश्चर्य कि मन्दिर और तीर्थ भी धर्म-साधक के बजाय बहुत कुछ अधर्म-

साधक ही बन रहे हैं। जो मन्दिर और तीर्थ हमें धार्मिक भावनाओं और प्रेरणाओं में साधक होने चाहिए थे, वे आज हमारे अन्दर क्या भाव भर रहे हैं? आज तो सब बातें उलटी हो रही हैं। यह क़रीब-क़रीब खुला रहस्य है कि जो स्थान जितना बड़ा तीर्थ है उतना ही अधिक वह पतन का क्षेत्र बन रहा है। धर्म के जो रक्षक महन्त और पण्डे-पुरोहित हैं, धार्मिकता तो मानो उनसे डर कर भाग गई। उन्होंने तो धर्म को व्यवसाय का रूप दे दिया है और खुले-ख़ज़ाने उसे अपने भोग का साधन बना रक्खा है। वे क्या नहीं ...।

न केवल ख़ूब, शान-शौक़त, ठाट-बाट, फ़ज़ूलख़र्ची से रहना ही उन्होंने अपना उद्देश्य बना रक्खा है बल्कि स्त्री-रमण भी आज उनका एक आम व्यापार हो रहा है। श्री चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं—"हम ऐसे महन्तों को जानते हैं, जो यहाँ दिल्ली से लड़कियाँ ख़रीदकर ले जाते हैं और उन्हें रखेली बनाते हैं। वेश्यागमन तो उनकी प्रसिद्ध बातें हैं। हम ऐसे-ऐसे महन्तों को भी जानते हैं, जिनकी २-२ धर्म-रखेलियाँ हैं।" यही क्यों हम तो आज यह भी देख रहे हैं कि न केवल वेश्याओं से उन्हें तृप्ति होती है, न रखेलियों से ही, बल्कि इससे बढ़कर दुःसाहस वे यह कर डालते हैं

कि जो बेचारी निर्दोष भाव से भी तीर्थ-मन्दिरों को जाती हैं, धोखे, छल और बल से उनतक को वे अपने झांसे और जाल में फँसाकर भ्रष्ट एवं अपवित्र कर डालते हैं! इसमें शक नहीं कि यह बड़ा संगीन इल्ज़ाम है, लेकिन अफसोस कि यह बिलकुल सही है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के गुसाईं जी के सम्बन्ध में एक बार बम्बई के अधगोरे पत्र 'टाइम्स ऑव् इण्डिया' ने लिखा था—

"महाराजों की करतूत निन्द्य है और इसीलिए वे प्रकाश में नहीं आते। यदि वे अदालत में साक्षी देने को खड़े हों तो उनपर उनके नीच कर्म के लिए जनता की फटकार पड़े बिना न रहे। और इससे उनकी अज्ञान शिष्य-मण्डली में कमी हो जाय............।"

और एक दूसरे अख़बार ने तो यहाँ तक लिखा था,—

"हिन्दुओं के महाराज का मन्दिर एक छिनालवाड़ा, उनकी बैठक एक बेआबरू कुटनी का घर, उनकी दृष्टि वेश्यागमन, उनका अङ्ग नीच हविस का घर और उनके शरीर का सब ठाठ-बाट अपवित्रता, मैलापन और नीचता-युक्त है। उन्हें ईश्वरावतार की जगह राक्षस का अवतार कहना चाहिए!"

कितनी जघन्य, कितनी नीच और कितनी पापपूर्ण हैं ये बातें—परन्तु इनमें असत्यता सिर्फ़ यही है कि बेचारे वल्लभ सम्प्रदाय वालों पर ही वार किये गये हैं; नहीं तो कौन नहीं जानता कि सभी सम्प्रदाय वालों पर, बल्कि हिन्दू ही नहीं वरन् मुसलमान आदि पर भी, थोड़े-बहुत कम-अधिक रूप में ये ऐसे ही लागू होते हैं? अखबारों में प्रायः ऐसी खबरें पढ़ते रहते हैं, जिनमें धर्म-व्यवसाइयों के कुकृत्यों के फल-स्वरूप बेचारी भली स्त्रियों का करुण-क्रन्दन भरा होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय वालों का तो बम्बई में बड़ा भारी मुक़द्मा ही हो चुका है और 'पोल' अख़बार ने अपने नाना-रूपों में उनके कृत्य का बहुतेरा बल्कि कभी-कभी तो शायद अतिरंजित भी पर्दा-फ़ाश किया है। काशी के एक प्रसिद्ध मन्दिर का भी ऐसा ही रहस्योद्‌घाटन हो चुका है। पटना के एक मंदिर से बा० जगतनारायणलाल एवं उनके साथियों ने एक स्त्री को कैसे बचाया, यह भी हमने पढ़ा था। बिहार में ही शायद एक स्त्री को पण्डों से ज़िला-मजिस्ट्रेट की सहायता से बचाया गया था। कलकत्ते के गोविन्द भवन-काण्ड को बहुत दिन नहीं हुए। और सिन्ध में एक बड़े मुसलमान पीर साहब पर जो व्यभिचार, हत्या आदि के

संगीन इल्ज़ामों का मुक़द्दमा चला था वह भी पढ़ते ही रहे हैं।

[४]

आजकल यह बात हम आम तौर पर सुनते हैं कि पुरुष तो अधर्मी हो गये; जो-कुछ धर्म बचा है वह सब स्त्रियों ही के पास। निस्सन्देह इसमें तथ्य है, और उसके लिए पुरुष के नाते स्त्रियों के आगे हम सिर झुकाते हैं। परन्तु इस कथन का आम अर्थ जो होता है, वह प्रायः वास्तविक धर्म से नहीं बल्कि उसके बाह्य रूप से किया जाता है। मतलब यह कि स्त्रियाँ मन्दिरों-तीर्थों की जितनी ख़ाक छानती फिरती हैं पुरुष वैसा नहीं करते, इसीलिए यह कथन प्रचलित हो गया है।* हमें दुःख है कि इससे स्त्रियों के मंदिर-तीर्थों के उत्साह को और प्रोत्साहन मिलता

---

* यह कथन सिर्फ़ इसीलिए प्रचलित नहीं हुआ है। स्त्रियाँ स्वभावतः धर्मभीरु होती हैं, फिर चाहे यहाँ की हों या यूरोप की। पुरुष व्यवहार-निपुण, तेजस्वी और बुद्धिमान होता है; स्त्री कोमल, दयावान, श्रद्धालु होती है और ये सब धर्म के विशेष गुण हैं। —संपा०

है और उसका नतीजा जो हो रहा है वह हमारे सामने है। हम यह हर्गिज़ नहीं कहते कि मंदिर-तीर्थों में न जाया जाय; परन्तु यह एक दृढ़ सत्य है कि जबतक उनका सुधार न हो, या अपने में बहुत दृढ़ता न हो इसमें बजाय लाभ के हानि की ही अधिक संभावना है। हम यह नहीं मानते कि सभी स्त्रियाँ किसी बुरे भाव से प्रेरित होकर ही मन्दिर-तीर्थों के पचड़े में पड़ती हैं, परन्तु यह सच है कि उनके भोलेपन और उनकी निश्चल श्रद्धा का धूर्त धर्म-व्यवसायी—महन्त, पण्डे, पुजारी—बड़ा दुरुपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए एक सम्प्रदाय में 'तन-मन-धन सब गुरुजी के अर्पण' का भाव है और विस्तार में ऐसी बातें हैं कि छिद्रान्वेषी ही नहीं, मामूली लोग भी उसे धोखे की टट्टी समझ सकते हैं। नतीजा यह होता है कि धर्मपरायण भोली स्त्रियाँ पतन में गिरती भी हैं और समझती यह हैं कि हम तो बड़ी धर्म कर रही हैं!!!

अलावा इसके अनेक स्त्रियाँ 'रिपट पड़े की हरगंगा' के रूप में इस चंगुल में पड़ती हैं। उनका प्रारम्भिक उद्देश बुरा नहीं होता। धर्म-भाव से वे मन्दिर-तीर्थों को पहुँचती हैं; पर वहाँ महन्त, पुजारी या पण्डे के जाल में पड़ जाती

हैं। कभी तो भोलेपन-मिश्रित अज्ञान के साथ वे उस ओर फिर बढ़ती ही जाती हैं; और बहुत बार इस वजह से भी कि जब एक बार गिर गये तो गिर तो गये ही, अब चुपचाप ऐसा ही क्यों न किये जायँ? और कुछ ऐसी भी हो ही जाती हैं कि जो जब स्वयं पतित हो पड़ें तो फिर दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करने लगती हैं, जैसे कि कहते हैं किसी नकटे ने ईश्वर-दर्शन का लालच देकर अनेकों को नाक कटाने को राज़ी किया था।

बात दरअसल यह है कि धर्म-व्यवसाइयों ने कुछ ऐसा जाल फैला रक्खा है कि बहुत कम स्त्रियाँ उससे बच सकती हैं, यदि पहले से सावचेत न हों। मन्दिरों की रचना ही ऐसी भूलभुलैया होती है कि कुछ न पूछिए। रामद्वारे तो, सुना है, ऐसे गोरखधन्धे होते हैं कि उनके अन्दर सब-कुछ हो सकता है—और वह ऐसी ख़ूबसूरती के साथ कि ज़ाहिर में किसी को ख़याल भी न आवे। बड़े-बड़े मन्दिर, दरगाह आदि भी कुछ ऐसे ही विचित्र रहते हैं। उनकी भूलभुलैया में, कभी परिक्रमा करते हुए और कभी किसी रहस्य की मानता करते हुए, न-जाने कितनी भोली स्त्रियाँ दुष्ट धर्म-व्यवसाइयों के हाथों पड़ती हैं! तीर्थों में कहीं गुफायें होती

हैं, कहीं और कुछ भूलभुलैयायें। अलावा इसके, अनेक भोली स्त्रियाँ, सन्तान की लालसा में, अपनी अक़ल को ताक पर रख देने से भी दुष्टों के हाथों पड़ती हैं। हमने पढ़ा है और सुना भी है, सन्तान की लालसा से स्त्रियाँ सब-कुछ करने को तैयार हो जाती हैं। मिस मेयो ने तो इस प्रसंग को उठाकर सीधा हमारे पौरुष पर ही आक्षेप किया है; उसने लिखा है कि पुरुषों के निर्वीर्य होने के कारण आम तौर पर सण्डों के पास स्त्रियाँ जाती और अपनी सन्तान-लालसा की पूर्ति करती हैं। हो सकता है कि शायद किसी हद तक ऐसा भी होता हो, पर आम तौर पर तो ऐसा हर्गिज़ नहीं माना जा सकता। मगर यह सच है कि सन्तान की लालसा हमारी स्त्रियों में होती बहुत है और धर्मप्राण एवं रूढ़िभक्त होने के कारण वे जादू-टोने और मिन्नत-मानतायें भी इसके लिए बहुत करती हैं। हम यह जानते हैं कि इन सब ऊपरी बातों के अन्दर श्रद्धा का जो ज़बरदस्त सहारा उनमें होता है वह बड़ी सुन्दर वस्तु है, देवत्व है; परन्तु ऊपरी रूप तो अवश्य ही उत्थानकारक नहीं सिद्ध हो रहे, यह मानना ही पड़ेगा। बहुत बार इन्हीं फ़जूलियात में स्त्रियाँ गुण्डों के जालों में फँसती, और सन्तान-लालसा से अपने

धर्म और सत तक को गँवा बैठती हैं। तन्त्र एक शास्त्र है, हमारे यहाँ वह एक समय बहुत समृद्ध भी हो चुका है, यह हम जानते हैं; परन्तु ऐरे-ग़ैरे-पचकल्याणे के हाथों वह नहीं रह सकता और आजकल ज्यादातर गुण्डों की रोज़ी और धूर्त्तता की सिद्धि का ही वह साधन बन रहा है, यह भी हमसे छिपा नहीं है। यही वजह है कि आज इसके धोखे में हमारी भोली स्त्रियाँ गुण्डों और शोहदों के हाथों फँसती चली जा रही हैं।

तीर्थ-स्थान भी स्त्रियों के लिए बहुत सुरक्षित सिद्ध नहीं हो रहे। पण्डे अक्सर अशिक्षित होते हैं; और चरित्र के दृढ़ तो शायद उनमें कम ही निकलें। इधर हमारी स्त्रियाँ तो धर्म और भक्ति में गद्‌गद होकर पहुँचती हैं—ख़ुदाई फ़रिश्ते उनको समझ लेती हैं; और अपने मन में पाप न हो तो यह मुश्किल से ही अनुभव होता है कि दूसरे के मन में तो कहीं पाप नहीं है? ऐसी निर्दोष-निश्छल स्थिति में इधर तो स्त्रियाँ बड़ा उन्मुक्त व्यवहार करती हैं, उधर वासना और दुष्टता से परिपूर्ण कहे जाने वाले ख़ुदाई फ़रिश्ते मौक़ा पाते ही उन्हें हर तरह से छकाते और ठगते हैं?

इस प्रकार मन्दिर-तीर्थ, जादू-टोने, तंत्र-मंत्र आदि अनेक प्रकारों से आज धर्म और भक्ति की ठगाई हो रही है। यह तो नहीं कह सकते कि धर्म और भक्ति को ही हमें नमस्कार कर लेना चाहिए; पर क्या यह उचित नहीं कि हम ऐसी मनमानियों और अनीतियों पर धावा बोल दें और इन्हें नष्ट कर धर्मालयों का सुधार करें, उन्हें वास्तविक धर्मालय बनावें ?

[५]

सुधार के प्रयत्न पहले भी हुए हैं और अब भी हो रहे हैं; पर सामाजिक सुधार का आन्दोलन बहुत-कुछ उन बड़े लोगों के हाथों में है, जो प्रायः मन्दिर-तीर्थों के भक्त नहीं और अपनी ऊँची शिक्षा के फल-स्वरूप उनके प्रति उदासीन-से हैं। इसीलिए उनकी नज़र उनके सुधार की बनिस्बत दुनिया की दौड़ में स्त्री-पुरुष-समानता, ऊँची शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह आदि की ओर अधिक हो गई है; और ऐसे सुधारों का काम बहुत-कुछ छोटे-मोटे व्यक्तियों तक ही परिमित रह गया है। हाँ, साधु टी० एल० वास्वानी के नेतृत्व में बीच में सिन्ध में मन्दिर-सुधार का एक आन्दोलन उठा था; पर उसका भी पता नहीं अख़ीर क्या

हुआ या किसी क़दर अब भी वह अपनी साँसें ले रहा है! पंजाब के वीर सिखों ने ज़रूर सिख-मन्दिरों के सुधार का बीच में एक ज़बरदस्त आन्दोलन उठाया था; और उसमें उन्हें बहुत-कुछ सफलता भी मिल चुकी है। वैसे प्रत्येक जाति और धर्म वाले कुछ-न-कुछ प्रयत्न इस दिशा में करते ही रहते हैं। उग्र प्रयत्न बम्बई में 'पोल' और उसके साथियों ने कुछ समय तक वैष्णव गुसाइयों के ख़िलाफ किया था। मगर कोई संगठित महाप्रयत्न इस दिशा में हो रहा हो, यह हमें नहीं मालूम। जोधपुर के सर प्रतापसिंह के आन्दोलन का भी ख़ास तौर पर हमें कुछ ज्ञान नहीं। जो हो, यह निश्चित है कि अगर हम इस स्थिति को सुधारना चाहते हैं तो इसके लिए कोई संगठित प्रयत्न हमें अवश्य करना होगा।

क़ानून द्वारा यदि इस दिशा में कोई सुधार हो सके तो अच्छा ही है, पर हमें उसपर ही सम्पूर्ण आधार रखने की ज़रूरत नहीं। हमें तो अपने आप पर और अपने ही प्रयत्नों पर विश्वास करना चाहिए।

इसमें सबसे पहले तो हमें और ख़ास कर हमारी स्त्रियों को ऐसी दृढ़ होने की आवश्यकता है कि कोई उनको

भुलावे-झाँसे-जाल में न फाँस सके; और यह सुशिक्षा एवं साहस-भाव से ही सम्भव है।

यह भी उचित है कि हम धर्म के ऊपरी रूप के बजाय उसके आन्तरिक और वास्तविक रूप—दया, प्रेम, विश्वास आदि को ज्यादा महत्व देना सीखें और जादू-टोने, जंत्र-मंत्र आदि के जाल में न पड़ें। इस विषय का कोई विशेषज्ञ मिल जाय तो ठीक; नहीं, हरएक ऐरे-गैरे को हम सब-कुछ न समझ लें। विवेक इसकी कुञ्जी है; और सुशिक्षा से परिष्कृत एवं संस्कृत बुद्धि उसका आधार है।

स्त्रियों के लिए कोई ऐसा साधन पैदा करना भी ज़रूरी है कि जिससे दिन-रात एक ही काम करती हुई वे जो ऊब-सी उठती हैं उससे कुछ देर के लिए निकल कर वे स्वच्छ-न्दता, स्वतंत्रता और उन्मुक्तता के साथ अपना थोड़ा मनो-रंजन कर सकें। क्योंकि बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि धर्म-भावना की अपेक्षा भी अपनी इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्रियाँ मन्दिरों-तीर्थों का बहाना लेती हैं। इसके लिए, हमारी समझ में, उनके क्लबों, संस्थाओं, नहीं तो आपस के मिलने-जुलने की और खेलने-कूदने की व्यवस्था ठीक होगी। इससे सुदिशा में रहकर उनके विकास, शारी-

रिक और मानसिक दोनों तरह की उनकी उन्नति को सहायता मिलेगी।

साथ ही इसके धर्म-व्यवसाय को नेस्तनाबूद करने के लिए पुरुष-स्त्री दोनों को कटिबद्ध होना चाहिए; क्योंकि जबतक वह रहेगा, किसी-न-किसी का उस ओर भटक पड़ना बिलकुल स्वाभाविक है। धर्म-भाव रहे, मन्दिर और तीर्थ भी रहें; पर उनका व्यवसाय नहीं। पण्डे-पुजारी-महन्त जो भी हों, त्यागी, निःस्वार्थी, परोपकारी और वासनाहीन हों, ऐसा प्रयत्न किया जाय। उनके सम्पत्ति और ऐश्वर्य न होना चाहिए। यह बड़ा प्रयत्न ज़रूर है, पर राष्ट्र की बढ़ती हुई भावनाओं के साथ यह भी किया ही जाना चाहिए।

ऐसे ही और भी कुछ उपाय हो सकते हैं। उन्हें सब को अमल में लाकर अगर हम भारत पर लग रहे इस कलङ्क को दूर कर सकें तो भारत-भूमि फिर वही पहले की पुण्यभू और देवभूमि क्यों न बन जायगी?

१४

शिक्षा

"यदि मुझे किसी छोटी लड़की को तालीम देनी पड़े, और वह मेरी ज़िम्मेवरी पर छोड़ दी जाय, तो मैं उसे बजाय पण्डिता बनाने के उन बातों की तालीम पर ज़्यादा तवज्जह दूँगी, जिनसे उसकी जिन्दगी सुख-शान्ति से व्यतीत हो। मैं उसे एक तेज़, ज़िन्दा-दिल और समझदार लड़की बनाना पसन्द करूँगी।"

—रानी ललितकुमारीदेवी (मण्डी)

"मेरी नम्र-सम्मति में समुचित शिक्षा ही हमारी सारी घरेलू, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्या की कुञ्जी है।"

—श्रीमती सुषमा सेन

[१]

श्री सुब्रैया कामठ, अपनी 'सेन्सस ऑफ़ इण्डिया' नामक पुस्तक में, लिखते हैं—

"भारत की कुल आबादी में प्रत्येक सहस्र (१०००) व्यक्तियों में सिर्फ़ ५९ ऐसे शिक्षित हैं कि जो साधारण चिट्ठियाँ लिख-पढ़ सकते हैं, और स्त्री-पुरुषों में इस साक्षरता का विभाजन बड़ा अ-समान है। जहाँ प्रति सहस्र पुरुषों में १०६ पुरुष लिख-पढ़ सकते हैं, वहाँ स्त्रियाँ प्रति सहस्र केवल १० ही ऐसी स्थिति को पहुँचने का कोई दावा कर सकती हैं। विभिन्न प्रान्तों में तो यह प्रगति निश्चय ही बड़ी अ-समान है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

प्रति सहस्र में साक्षरों की संख्या

प्रान्त या राज्य	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
ब्रिटिश भारत	६२	११०	११
आसाम	४७	८६	६
बंगाल	७७	१४०	११
बिहार	३९	७६	४
बम्बई	६९	१२०	१४
ब्रह्मा	२२२	३७६	६१
मध्यप्रान्त	३३	६२	३
मद्रास	७५	१३८	१३
पंजाब	३७	६३	६
संयुक्तप्रान्त	३४	६१	५
बड़ौदा	१०१	१७५	२१
हैदराबाद	२८	५१	४
मैसोर	६३	११२	१३
त्रावणकोर	१५०	२४८	५०

विभिन्न धर्मावलम्बियों में प्रति सहस्र साक्षर स्त्री-पुरुषों की संख्यायें वह इस प्रकार बतलाते हैं—

धर्म	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
समस्त धर्मावलम्बी	५९	१०६	१०
ज़रतुश्त (पारसी)	७११	७८२	६३०
ब्रह्मसमाजी	६९६	७२९	६४८
जैन	२७५	४९५	४०
आर्यसमाजी	२६०	३९४	९२
बौद्ध	२२९	४०४	५८
ईसाई	२१७	२९३	१३९
सिख	६७	१०६	१४
हिन्दू	५५	१०१	८
मुसलमान	३८	६९	४
नास्तिक	६	११	१

ऊपर के अंक सन् १९११ की मर्दुमशुमारी के हैं। नये अंक (सन् १९२८ में प्रकाशित श्री पी० टी० चन्द्र के 'इण्डियन साइक्लोपीडिया' के अनुसार) इस प्रकार हैं—

प्रति सहस्र में साक्षरों की संख्या

प्रान्त या राज्य	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
भारत	८२	१२९	२१
आसाम	७२	१२४	१४
बिलोचिस्थान	४७	७६	७
बड़ौदा	१४७	२४०	४७
बंगाल	१०४	१८१	२१
बिहार-उड़ीसा	५१	९६	६
बम्बई	९५	१५७	२७
ब्रह्मा	३१७	५१०	११२
मध्यप्रान्त-बरार	४९	८७	९
कोचीन	२१४	३१७	११५
हैदराबाद	३३	५७	८
काश्मीर	२६	४६	३
मद्रास	९८	१७३	२४
मैसोर	८४	१६३	२२
सीमाप्रान्त	५०	८०	१०
पंजाब-दिल्ली	४६	७६	९
त्रावणकोर	२७९	३८०	१७२
संयुक्तप्रान्त	४२	७३	७

धर्मानुसार (प्रति सहस्र)

धर्म	पुरुष	स्त्री
ज़रतुश्त	७८९	६७२
जैन	५१४	७६
बौद्ध	४८४	९६
ईसाई	३०९	१८०
हिन्दू	११०	१४
सिख	९४	१४
मुसलमान	८१	७

इसके अनुसार, "समस्त भारतवर्ष में प्रत्येक १०० व्यक्तियों में सिर्फ़ १४ लिख-पढ़ सकते हैं। पुरुषों में १४ प्रति शत साक्षर हैं, और स्त्रियाँ प्रति सैकड़ा २ साक्षर हैं।"

'टाइम्स' की 'ईयर बुक' (१९३१) के अनुसार, "भारत में चिट्ठी लिख-पढ़ सकनेवाले शिक्षितों की संख्या है २२, ६०,००० । इनमें से ५ वर्ष से कम-उम्र बच्चों को यदि छोड़ दें तो कुल जन-संख्या में, इससे, शिक्षितों का औसत पड़ता है ८२ प्रति सहस्र। ५ वर्ष से अधिक अवस्थावाले पुरुष तो प्रति सहस्र १३९ साक्षर हैं, और स्त्रियाँ प्रति सहस्र २१ साक्षर हैं। × × × हिन्दुओं में प्रत्येक १३ व्यक्तियों पीछे १ व्यक्ति शिक्षित है; इसमें पुरुषों का अनुपात ८ में १ है, और स्त्रियों का ६३ में १ है। सिख पुरुषों की साक्षर-

ता का औसत हिन्दुओं से भी कम है। और मुसलमानों में पुरुष प्रत्येक ११ पीछे १ और स्त्रियाँ प्रत्येक ११६ पीछे १ के हिसाब से लिख-पढ़ सकते हैं।"

सन् १९१९-२० की अपेक्षा १९२४-२५ में भारत में स्त्री-शिक्षा की जो गति हो गई, उसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है—

	१९१९-२०	१९२४-२५
क्षेत्रफल (वर्गमील)	१०८८८०७	१०९१३४७
जन-संख्या	२४४०२०१००	२४७०९७५०६
स्त्रियाँ	११९२७२२९५	१२०१८३३१०
स्त्री-संस्थायें		
आर्ट्स कालेज	१२	१६
हाइस्कूल	२०३	२३६
प्राइमरी स्कूल	२१७५९	२४६७७
स्त्री-छात्र		
कालेजों में	१०२४	१८००
हाइस्कूलों में	३४०६३	४७३९०
प्राइमी स्कूलों में	११७६५३३	१३१४००२
कुल स्त्री-संख्या में स्त्री-छात्राओं का प्रतिसैकड़ा औसत	१,१	१.२४

स्त्री-शिक्षा के विस्तृत ब्यौरे के लिए सन् १९२५ के निम्न अंक देखिए—

	संस्थायें	विद्यार्थिनियाँ
(स्वीकृत संस्थायें)		
आर्टस् कालेज	१६	१२००
प्रोफ़ेशनल ,,	७	१७३
हाइस्कूल	२३६	४३६६३
मिडल स्कूल	२६८	७९०५१
प्राइमरी ,,	२४६७७	८५५३२७
स्पेशल ,,	३०१	११००३
अस्वीकृत संस्थायें	२५७५	५५२९८

इसके बाद सन् १९२६-२७ में ('India in 1926-27' के अनुसार) "भारत की कुल १२ करोड़ स्त्रियों में १७ लाख, अर्थात् कुल संख्या के दसवें हिस्से से कुछ अधिक, स्त्रियाँ शिक्षा पा रही थीं—१४ लाख प्रारम्भिक शालाओं में, और २ हज़ार से कुछ ज़्यादा विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों में। लड़कियों की शिक्षा-संस्थाओं (स्कूल-कालेजों)

की संख्या १९२४ में जहाँ २७४३५ थी, वहाँ १९२५ में वह २८५५४ हुई, और १९२६ में २९८४६ हो गई।"

उक्त रिपोर्ट के लेखक, भारत के सरकारी प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष, कोटमैन साहब की राय में "स्पष्टतया यह प्रगति उत्साहप्रद है।" और इसका कारण वह बतलाते हैं, "लोगों की दिन-ब-दिन बढ़ती जानेवाली जागृति पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने की ओर उन्हें प्रेरित कर रही है। स्वयं स्त्रियाँ भी अपनी माँ-दादियों की परम्परागत असाक्षरता से कम सन्तुष्ट मालूम होती हैं।" इसी कारण, उनके शब्दों में, "स्त्री-शिक्षा तथा प्रारम्भिक शालाओं में लड़के-लड़कियों की साथ-साथ पढ़ाई (Co-education) लोकप्रिय होती जा रही है; स्त्रियों के स्कूल-कालेजों में वृद्धि हो रही है; शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद एवं अक्षरज्ञान की शिक्षा के लिए स्त्रियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है; और, शायद इस सबसे बढ़कर बात यह है कि, इस सुदिशा में खूब आन्दोलन जारी है।"

[२]

शिक्षा! अहा, कितना सुन्दर और सम्मोहक शब्द है यह!

"जिस अंग्रेज़ी शब्द का अर्थ शिक्षा किया जाता है," महात्मा गाँधीजी के लेखानुसार, "उसका मूल अर्थ है 'बाहर खींच लाना'। अर्थात् हमारे अन्दर जो शक्तियाँ छिपी हुई हों उन्हें प्रयत्न-पूर्वक बाहर ले आना।" उनके स्वर में स्वर मिला कर कहें तो हम कह सकते हैं—"अमुक वस्तु का हम विकास करते हैं, इसका मतलब यह नहीं कि हम उसकी जाति या गुण ही बदल देते हैं। बल्कि इसका अर्थ तो यह है कि उसमें जो गुण छिपे हुए हैं उन्हें प्रकट करते हैं। इसलिए शिक्षा का अर्थ 'विकास' या 'खिलना' कर सकते हैं।" आगे वह लिखते हैं—"शिक्षा एक जुदी ही वस्तु है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा इन तीन वस्तुओं से बना प्राणी है। इनमें आत्मा मनुष्य का स्थायी भाग है। शरीर और मन का जो व्यापार उसके लिए होगा, वह शोभा देगा। इसलिए शिक्षा उस वस्तु का नाम हो सकता है, जिसके द्वारा आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होती हैं।" और, "शिक्षा का दूसरा एक यह अर्थ भी हो सकता है कि शरीर, मन और आत्मा इन तीनों का जिस साधन या मार्ग के द्वारा पूरी तरह या ज्यादा-से-ज्यादा विकास हो वही शिक्षा है।" कार्लाइल के कथनानुसार, "सच्ची शिक्षा वह है, जो मस्तिष्क

का विकास करती और उसे शिक्षित बनाती है।" और अध्यापक जनार्दन मिश्र (एम० ए०) ने तो बड़ी सुन्दरता के साथ उसका सार बतलाया है—"शिक्षा माता है। यह स्वाभाविक पशुता को दबा कर देवत्व प्रदान करती है। दुर्गुणों को दबा कर सद्‌गुणों का विकास करती है। अच्छी बातों को समझने और उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करती है।"

सचमुच शिक्षा का बड़ा महत्व है। हमारी नम्र-सम्मति में, सफल शिक्षा वही मानी जा सकती है, जो हमारी अन्तर एवं बाह्य (शरीर, मन एवं आत्म-गत) शक्तियों को ऐसा विकसित कर दे कि उसके द्वारा हम न केवल जीवन-संग्राम की विघ्न-बाधाओं का सफलतापूर्वक मुक़ाबला कर सकें बल्कि अपने निर्दोष एवं आदर्श आचरण-पूर्ण सफल जीवन द्वारा मानव-समुदाय में एक स्फूर्त्ति भी पैदा कर दें—ऐसी निर्मल और पवित्र पर साहसपूर्ण स्फूर्त्ति, कि जो उन्हें भी उसी प्रकार शिक्षित होने और अपना वैसा ही संस्कृत जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे; और इस प्रकार हमारी शिक्षा अपने निजी हित या उद्धार के लिए ही काम न आकर समष्टि-रूप में सम्पूर्ण मानव-समुदाय के हित और

उद्धार का कल्याण-मय साधन बने। शिक्षा स्वार्थ है, सच्चे 'मैं' (अहंभाव) को विकसित करने का। शिक्षा लालसा है, समस्त मानव-सृष्टि के उद्धार की। शिक्षा प्रवृत्ति है, समस्त मानवबन्धुओं के सुन्दर और निर्बाध सफल जीवन-यापन की। और इसलिए इसका क्रियात्मक रूप या परिणाम है—प्रेम, अहिंसा, सेवा। शिक्षा-सम्पन्न अथवा शिक्षित इसका मूर्त्त-रूप है। उसमें होनी चाहिए इच्छा, महदेच्छा, परमेच्छा, सच्ची और दृढ़ लगन, अपने जीवन में इसे क्रियात्मक रूप देने की। शिक्षा का अभिप्राय और परिणाम अप्रेम नहीं, प्रेम है—वह शुद्ध और निर्दोष आत्मसम विश्व-प्रेम कि जो मानव-मात्र को आत्म-रूप समझकर उसे स्वयं तो कोई दुःख-पीड़ा पहुँचाने का ख़याल भी न ही करे पर किसी दूसरे द्वारा पहुँचाई जाने वाली या अपनेआप उसपर होने वाली दुःख-पीड़ा (हिंसा) को भी उसी प्रकार बिना महसूस किये न रह सके, जैसे स्वयं अपने पर वैसा प्रसंग आने पर वह करता, और यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सेवा-द्वारा उसके निवारण के लिए कटिबद्ध हो जाय। यही समाज-संगठन का सर्वोत्तम और सबसे दृढ़ आधार हो सकता है। ऐसा होने पर ही विश्व-मानव-समाज-को निर्बाध और चिरस्थायी शान्ति

प्राप्त हो सकती है। और चूँकि शिक्षा मनुष्य अथवा मानव-समाज की सम्पूर्णता की दिशा में प्रगति या विकास करने ही का दूसरा नाम है, इसलिए, हम कहेंगे, यही शिक्षा का भी सर्वोत्तम और मूलमंत्र है।

परन्तु, क्या आज हम इसी दिशा में बढ़ रहे हैं?

× × ×

संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष और महात्मा गाँधीजी की राय है—"आज-कल जो ज्ञान दिया जाता है, उससे मन का भले ही कुछ विकास होता हो; पर यह कह सकते हैं कि शरीर और आत्मा का विकास तो होता ही नहीं है। × × × मन के विकास के विषय में भी मुझे सन्देह है। इसलिए कि यद्यपि हम मन को बहुत से ज्ञान का भण्डार बना लेते हैं, पर इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि उसका विकास अवश्य ही हुआ है। यह नहीं कह सकते कि मन 'खिल' गया।"

"कोरे अक्षर-ज्ञान को," महात्माजी लिखते हैं, "शिक्षा या विकास नहीं कह सकते। भले ही वह ज्ञान हमें एम० ए० बना दे, या संस्कृत का ऐसा पण्डित बना दे कि हम किसी भी संस्कृत-शाला में शास्त्री बनकर शोभा दे सकें।

उच्च-से-उच्च अक्षर-ज्ञान हमारे विकास अथवा शिक्षा का एक उत्कृष्ट साधन भले ही हो, पर वह स्वयं तो शिक्षा हर्गिज़ नहीं है। × × × खिला हुआ मन मनुष्य का आवश्यक काम कर देता है। पर, आजकल का अक्षर-ज्ञान पाया हुआ मन हमें इधर-उधर भटकाता फिरता है।"

कार्लाइल भी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करता है—"किसी युवक को ढेर सारी ऐसी निश्चित बातें (Facts) सिखला देना सच्चे अर्थों में उसे शिक्षित बनाना नहीं है कि जिन्हें सीख लेने और याद रख सकने में तो उसे विशेष परिश्रम नहीं पड़ता पर न तो वह उन्हें हज़म कर सकता है और न जज़्ब ही। इससे तो उसके दिमाग़ को ज़रा भी पुष्टि नहीं मिलती। अलबत्ता, उसमें जाकर वे जम ज़रूर जाती हैं। पर उस हालत में उनका अपरिपक्व और अजीर्णोत्पादक होना स्वाभाविक है। वह एक सम्पन्न (Full) मनुष्य हो सकता है, पर उसकी यह सम्पन्नता एक भरी हुई बोतल के समान है, जो जो-कुछ उसमें पहले भरा गया था उसे ही उण्डेल दिया करती है—फिर चाहे वह अदरक का रस हो या अंगूर का सिरका।" उसके विचारानुसार, "दूसरे लोगों के विचारों का वह एक सुविधापूर्ण

भण्डार तो हो सकता है, उन विचारों को सुरक्षित रखने की उसमें पर्याप्त शक्ति भी हो सकती है; लेकिन ऐसे मनुष्य को 'शिक्षित' कहना शिक्षित शब्द का दुरुपयोग करना है, और उसकी देख-भाल में दूसरे लोगों को रखना मानव-जाति का दुरुपयोग है। वह राजनैतिक क्षेत्र में कूद पड़ता है, साहित्य-सागर में डुबकियाँ लेता है, क्रान्ति की लहरों में लहराने लगता है; मगर पल-भर के लिए भी उसे अपनी मूर्खता का विचार नहीं होता! वह राज-सिंहासनों को मिट्टी में मिला देता है, नर-हत्या को अपनी आँखों देखना पसन्द करता है, और देश को जलती दावानल में देखना चाहता है; उसे न तो दया आती है, न पश्चात्ताप होता है। वह तो बोतल के समान ही जड़ है। जो-कुछ उसमें भरा है, उसे निकाल लीजिए; बस, ख़त्म! फिर उसमें रह ही क्या जायगा?"

यूरोप की क्या स्थिति है, यह तो हम नहीं कह सकते। परन्तु जो भारतवर्ष पहले, हमारे ही नहीं बल्कि पोस्टर टिटलर नामक एक विदेशी के शब्दों में भी, "निस्सन्देह एक विशाल विद्या-भवन था, जहाँ से यूरोप की सबसे श्रेष्ठ जातियों ने कला, साहित्य और विज्ञान को सीखा था,"

उस हमारे भारतवर्ष में तो हमारे अधिकांश 'शिक्षितों' की आज हू-ब-हू यही स्थिति न है ?

स्वयं ऐसे शिक्षित और ऐसे वातावरण के अनुभवी अध्यापक जनार्दन मिश्र (एम० ए०) ने शिक्षार्थी युवकों की दशा पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं—

"उसे यही सिखलाया गया है कि अंग्रेज़ी में बात कर लेना और ज्यों-त्यों परीक्षा पास कर लेना ही जीवन का सबसे बड़ा धन्धा और चरमलक्ष्य है। उसे यह कभी नहीं कहा गया कि पढ़ने-लिखने का ध्येय पास करना नहीं वरन् जीवन-संग्राम के लिए सुसज्जित होना है। उससे यह नहीं कहा गया कि पास करने से या बाल सँवारने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता, वरन् मनुष्योचित गुणों के अनुशीलन से मनुष्यता प्राप्त होती है। उसे यह भी नहीं मालूम है कि चरित्र शब्द का क्या अर्थ है, सत्य का क्या महत्व है, कर्तव्य में क्या पवित्रता है, और अपने तथा दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वह इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ है कि अपने जीवन को हम किस साँचे में ढालें, जिससे संसार में मेरा भी कोई स्थान हो। एक अनियंत्रित तथा विशृंखल जीवन बिताने से,

संयोगवशात् इधर-उधर ठोकर खाने से, जो बातें किसी भी अशिक्षित के हृदय में आ सकती हैं उतनी ही उसके हृदय में पाई जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि अशिक्षितों की सारी दुर्बलताओं को अपने हृदय में रखकर शिक्षा के पवित्र नाम पर (वह) समाज का एक रोग हो जाता है। दासता उसका धर्म है और 'भिक्षांदेहि' उसका मन्त्र है।"

कितनी शोचनीय दशा है! महात्माजी के स्वर में स्वर मिलाकर कहें तो, "यह विकास-हीन शिक्षा-क्रम बिना नींव की इमारत है। अथवा अंग्रेज़ी कहावत का अनुवाद किया जाय तो चूने से पोती क़ब्र के जैसी है, जिसके अन्दर मुर्दा रक्खा हुआ है और जिसे या तो कीड़े-मकोड़े खा गये हैं या खा रहे हैं।"

इस शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश और परिपोषण करने वाली सरकार भी इसकी निर्दोषिता का दावा नहीं कर सकती, जब कि हम देखते हैं कि स्वयं उसके द्वारा प्रकाशित नाम-मात्र की अर्द्ध-सरकारी रिपोर्ट (India in 1926-27) में भी पृष्ठ १९६ पर स्पष्ट लिखा है—"भारतवर्ष की शिक्षा-पद्धति ऐसी है कि जो एकमात्र क्लर्कों के धन्धों के उपयुक्त व्यक्ति ही तैयार करती है। औसतन प्रत्येक शिक्षा-

प्राप्त भारतीय अपने गुज़ारे के लिए सबसे पहले सरकारी मुलाज़िमत की ओर नज़र डालता है, और उसमें कामयाब न होने पर किसी नीम-सरकारी या सार्वजनिक संस्था की क्लर्की पर नज़र दौड़ाता है।"

[२]

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के परिणाम-स्वरूप होनेवाली स्थिति शोचनीय ज़रूर है, पर अस्वाभाविक नहीं। अस्वाभाविक तो इसे कह ही कैसे सकते हैं, जबकि इसकी स्थापना ही इसीलिए हुई है? और यह तो आज कौन नहीं जानता कि हम भारतीयों को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के पवित्र उच्चोद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं बल्कि ब्रिटिश जनता और ब्रिटिश सरकार के अपने स्वार्थों की पूर्त्ति के लिए ही अठारहवीं सदी में इसका आरम्भ हुआ था?

श्रीमती एग्नेस स्मेडली ने एक जगह कहा है—"जब कभी कोई जाति या राष्ट्र विदेशी शिकंजे में पड़ जाता है, तब यह बात निश्चित-सी समझनी चाहिए कि उस पराजित राष्ट्र की शिक्षा का विजेता-द्वारा या तो ध्वंस कर दिया जाता है, या उसपर इतनी कड़ी देख-भाल रक्खी जाती है

कि उसका पनपना दुष्कर हो जाता है। क्योंकि, ज्ञान और परतन्त्रता दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते।"

हमारे 'अंग्रेज़ महाप्रभुओं' ने भी इसी नीति से काम लिया। मेकाले साहब ने कहा—"हमें चाहिए कि हम भारत में एक ऐसी जाति पैदा करें, जो वर्ण और रक्त में तो भारतीय हो; पर रुचि, विचार और बुद्धि में अंग्रेज़ हो।" और 'कलकत्ता-गज़ट' (सन् १८१९) में घोषणा हुई—"हम भारतीयों को इस ढंग से शिक्षित करेंगे कि वे हमें हमारे व्यापार और शासन को चलाने में भरसक सहायक-भर हो सकें।"

इसीका यह परिणाम है, जो आज हमारे देश को भुगतना पड़ रहा है। जो इस ढाँचे में ढलता है, नये-नये फ़ैशन, नई-नई ज़रूरतों और नये-नये उच्छृङ्खल विचारों को लेकर निकलता है। और वे होते क्या हैं?—सब पश्चिमी ढंग के, सब भौतिक, सब कृत्रिम। दिखावट-बनावट का वह मानों पुतला बन जाता है। आचार-विचार में वह 'जंगली काले' लोगों को ठुकराता है; जॉन साहब का काका और बुल साहब का वफ़ादार ख़ादिम बनने का वह प्रयत्नपूर्वक ढोंग रचता है। अपने देश की हरएक चीज़, प्रात-व्यवहार पर नाक-भौं

सिकोड़ने में फ़ख्र समझता है; हर बात में मानों विलायत का बच्चा बनने का वह दम भरता है। हिन्दी को गन्दी बताता और अंग्रेज़ी को गले लगाता है। दूध से परहेज़ करके चाय-बिस्कुट-डबलरोटी, काफ़ी और शराब को शीरीं बनाता है। रहन-सहन, पोशाक-लिबास, आचार-व्यवहार सब बदलने का वह प्रयत्न करता है। सदाचार क्या चीज़ है, इसे वह महत्व नहीं देता। स्वच्छन्द, अबाध्य, अमर्याद भोग और सुख, (Eat, drink and be merry) 'ऋणंकृत्वाघृतं पिबेत्' ही उसका जीवनोद्देश्य है—पर्वाह नहीं देश, जाति या कुटुम्ब रसातल में जाते हैं या क्या होते हैं। 'मैं', 'मेरा स्वार्थ', 'मेरा आराम-सुविधा'—बस, यही उसका प्रधान लक्ष्य है। खेती-किसानी, लुहारी, सुतारी, सुनारी आदि क़दीमी धन्धे उससे नहीं हो सकते; १०-१५ रुपये की क्लर्की में भले ही दुःखम-सुखम जीवन बिता देना पड़े।

शिक्षा हममें नम्रता और सेवा के बजाय अहंकार और खुदी का बीजारोपण कर रही है। प्रेम के बजाय हिक़ारत—दूसरों को अपने से छोटा और नीच समझने—के परागन्दा भाव पैदा कर रही है। और अहिंसा के स्थान पर पर-पीड़न—बुद्धि-कौशल के बल पर चतुराई-चालाकी से दूसरों के हक़ों को

कुचल-दबा लेने अथवा उनके परिश्रम का नाजायज़ फ़ायदा स्वयं उठाने—की वृत्ति को आश्रय दे रही है। अपने से अधिक बुद्धि किसी दूसर में हो सकती है, इसे हम नहीं मानते। बड़ों का आदर हम नहीं करना चाहते। ख़बरदार, जो 'बड़ा' होने की हैसियत से कोई हमारे लिए ज़रा भी कुछ अन्यथा कहे! हम किसीकी नहीं सुनना चाहते, अगर किसीको रहना है तो हमारे इच्छानुसार ही उसे चलना होगा। 'बड़े' तो तेल में तले जाते हैं। नेता हमारा कोई क्या बनेगा, हम स्वयं आत्म-प्रकाश हैं—ब्रह्म-स्वरूप हैं। रूढ़ि या परम्परा पर कुछ सोचने का हम कष्ट क्यों उठायँ, यदि वह हमारे 'आक़ाओं' के देश और सभ्यता में नहीं प्रचलित है? भारत और भारतीय सभ्यता नहीं बल्कि पश्चिम और पश्चिमी सभ्यता ही संसार का उद्धार करेंगे। यही विद्रोही-भाव शिक्षितों में थोड़े-बहुत परिमाण में आज हमारे यहाँ घर किये हुए हैं। देश-भक्ति भी, इनमें से कई, करते हैं तो शायद वह भारत की भक्ति से प्रेरित होकर नहीं बल्कि इसलिए कि वह इस समय का एक 'फ़ैशन' है!

नतीजा यह हो रहा है कि हमारा आत्म-बल घटता जाता है। भारत दिन-ब-दिन संसार की नज़रों में गिरता

जाता है। हम हतवीर्य और हत-साहस होते जा रहे हैं। पहले-जैसे साहस के काम अब स्वप्न की बातें हो गई हैं। हममें इतनी निराशा छा गई है कि बहुत-से तो यही विश्वास नहीं करते कि फिर भी कभी भारत अपने पैरों पर खड़ा होगा—फिर भी अपने यश-गौरव से वह संसार को प्रकाशमान कर सकेगा! हमारे शिक्षित लोग ज़बान से भले ही कुछ कहा करें, पर अन्दर से उन्हें दुविधा ही रहती है कि सरकार चली जायगी तो हम क्या करेंगे? आत्म-विश्वास लगभग नष्ट हो चुका है; कल्पना-शक्ति वैसे ही उधार चली गई, जैसे आँखें चश्मे के बदले रहन रख दी गईं। देश ग़रीब और तबाह होता जा रहा है; पर यहाँ 'मुर्दा दोज़ख को जाय या बहिश्त को, क़ाज़ी को हलवा-रोटी से काम' चरितार्थ हो रहा है। अपने वंशगत धन्धों से घृणा कर हम सब नौकरी पर आधार करते जा रहे हैं, जिसका यह परिणाम है कि बेकारी की समस्या दिन-पर-दिन भीषण-से-भीषणतर और व्यापक होती जा रही है। देखिए, कोटमैन साहब लिखते हैं—"जबकि हम भारत की बेकारी का ज़िक्र करते हैं, तो साधारणतः हमारे दिमाग़ में जो बात होती है वह है शिक्षितों की बेकारी; और इसमें लेश-मात्र सन्देह

नहीं कि यह ऐसी समस्या है, जो प्रतिवर्ष अधिक-से-अधिक गम्भीर होती जा रही है।" (India in 1926-27, P. 146) यही नहीं, हमारा गृह-जीवन भी दिन-दिन शुष्क, नीरस, स्नेह-शून्य, स्वार्थ-प्रधान और चिन्त्य होता जा रहा है। और इन सबका परिणाम कोई बहुत अच्छा नज़र नहीं आता।

यह ठीक है कि सभी शिक्षितों के बारे में हम यह बात नहीं कह सकते, साथ ही यह न कहना भी बिलकुल एकाङ्गी होगा कि हमने उससे थोड़े-बहुत गुण भी ज़रूर सीखे हैं; परन्तु सब मिलाकर तो, अपेक्षाकृत, हमारी यही दशा न है ?

[४]

शिक्षित पुरुष ही क्यों, शिक्षिता स्त्रियों का भी क्या यही हाल नहीं है ? स्त्रियाँ भी तो अपनी स्वतन्त्रता प्रस्थापित करने के लिए पुरुषों के क़दम-ब-क़दम ही न चल रही हैं ? ऐसी दशा में जो दशा शिक्षित पुरुषों की, शिक्षिता स्त्रियों का भी वही हाल हो, इसमें आश्चर्य भी क्या ?

फ़ोस्टर ने एक जगह कहा है—"मैंने देखा है कि शिक्षिता कही जानेवाली अधिकांश स्त्रियों को जीवन में

प्रगति करनेवाली शिक्षा की कोई कल्पना ही नहीं होती। थोड़े-से ऊपरी टीप-टाप, कुछ ज्ञान और थोड़ी-सी शिष्टता को पा जाने पर वे अपने-आपको पूर्ण समझने लगती हैं और आजन्म इसी तरह का जीवन व्यतीत करती तथा उसीमें सन्तुष्ट रहती हैं। ये स्त्रियाँ ठीक उन्हीं चढ़ों जैसी हैं, जो पूरे बन जाने पर किसी सुनहरी चौखट में रख दिये जाते हैं और अगर हो सका तो स्थायी सौन्दर्य के प्रतीक की नाईं कमरे में टाँग दिये जाते हैं । और यह दीर्घकालीन स्थायित्व अपनी भद्दी और मैली अँगुली से उसके मनोहर रंगों को भद्दा बना देता है।" ठीक यही हाल क्या हमारी शिक्षिता महिलाओं का नहीं है?

आज हम क्या देख रहे हैं? शिक्षिताओं का गर्व पुरुषों से भी बढ़ रहा है। चूँकि अभी शिक्षिताओं की संख्या थोड़ी है, इसलिए पुरुषों जैसे सब भाव उनमें कुछ अधिक मात्रा में ही चाहे मिलें—कम में नहीं मिलेंगे। हाँ, उनमें पुरुषोंसे एक बात विशेष है। कुछ तो स्त्री के प्रति पुरुषों का स्वाभाविक ही कुछ विशेष और अजीब आकर्षण होता है, फिर हमारे यहाँ चूँकि पुरुष-स्त्री का मिश्र-मण्डल न-जाने कितने समय से नहीं है, इसलिए जब कोई

ऐसा मौक़ा आता है तब पुरुषों का उनकी तरफ़ और भी अधिक तीव्र ध्यान और आकर्षण होता है। स्त्रियाँ बेचारी ऐसा साहस करनेवाली—पुरुष-समाज में हिलने-डुलने वाली—बहुत कम ही और प्रायः एकाध ही होती हैं; अतः ज्यादातर तो वे उस वातावरण के कारण होनेवाले हक्के-बक्केपन एवं भय से और कुछ स्वतन्त्रता की अपनी उत्कट इच्छा से और कभी-कभी अपने चित्त-चारित्र्य की दुर्बलता से भी अवांछनीय संयोगों में पड़ जाती हैं। हम देखते हैं, अधिकांश शिक्षिताओं के बारे में चरित्र-सम्बन्धी कुछ शिकायतें सर्व-साधारण में प्रसारित हैं। हम यह नहीं कहते कि सब स्त्रियाँ शिक्षा पाकर चरित्र-हीन हो ही जाती हैं; पर आज की भौतिक शिक्षा उनके नैतिक दायरे को कुछ हलका अवश्य कर रही है, ऐसा हमारा ख़याल है। बड़ी ख़ुशी की बात होगी, यदि हमारी यह धारणा निर्मूल हो। लेकिन विचारोपरान्त यदि इसमें कुछ भी सचाई पाई जाय, तो इस स्थिति का निवारण सबसे पहले किया जाना चाहिए।

× × ×

सबसे मुख्य प्रश्न शिक्षा-प्रणाली का है। क्योंकि,

जैसी शिक्षा-प्रणाली होगी वैसा ही उसका परिणाम होगा। अतः विचारने की बात यह है कि शिक्षा-प्रणाली आख़िर हो कैसी? पुरुषों के बारे में तो यहाँ विचार करना नहीं है, स्त्रियों की शिक्षा-प्रणाली पर विचार करते समय हमें उनकी विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी दृष्टि से उनकी शिक्षा-प्रणाली का निर्णय करना होगा। तभी वह स्वाभाविक और उपयुक्त हो सकेगी और तभी वह कल्याण-कारक भी होगी। अस्तु।

शिक्षा का उद्देश्य-आदर्श तो स्त्रियों के लिए भी वही रहेगा, जो कि पुरुषों के लिए है। हाँ, शिक्षा के प्रकार और उसे देने के ढंग में अवश्य कुछ-न-कुछ फ़र्क़ पुरुषों और स्त्रियों में रहना चाहिए; और वह स्वाभाविक है। स्त्री-पुरुष दोनों की आत्मा एक है, यह हम मानते हैं। फिर भी जब प्रकृति ने ही उन्हें दो जाति बनाया है, शरीर-रचना में भी भिन्नता है, और कर्त्तव्य-कर्मों में भी, तब यह भी मानना चाहिए कि उनकी ज़रूरतों में भी थोड़ी-बहुत भिन्नता ज़रूर होगी; और वस्तुतः वह है भी। तब यह तो माना ही कैसे जा सकता है कि जो शिक्षा या बात जिस ढंग में और जिस अंश तक एक के लिए उपयुक्त हो सकती है या होती

है, वह ठीक ज्यों-की-त्यों उससे मुख़्तलिफ़ दूसरी जाति पर भी लागू होगी ? यह अस्वाभाविक है, वास्तविकता से शून्य है, और मनोविज्ञान के विरुद्ध है। पुरुष दृढ़ और कठोर माना गया है और स्त्री कोमल-नाज़ुक। पुरुष की प्रवृत्ति पशु-प्रधान है और स्त्री की देव-प्रधान। पुरुष में कठोरता और शासन की जड़ है, स्त्री में नम्रता और अनुशासन-पूर्ण प्रेम का अखण्ड वास। एक प्रयोक्ता है, दूसरी प्रयोज्य। एक उत्पादक है, दूसरी पोषक। एक बीज है, दूसरा वृक्ष। एक बाहर का काम सम्हालता है, दूसरी गृहस्वामिनी है। एक आर्थिक पहलू हल करता है, दूसरी उसकी उपयुक्त व्यवस्था। इस प्रकार दोनों की दो प्रवृत्तियाँ और दो कर्त्तव्य हैं, तब उन्हें प्रत्येक को शिक्षा भी उन्हींके अनुसार क्यों न मिलनी चाहिए ? पुरुषों ही की शिक्षा का अनुसरण करके स्त्रियों ने कोई बहुत फ़ायदा नहीं उठाया, अलबत्ता स्वतंत्रता की चाह में वे एक के बाद एक उनके दुर्गुणों को निधड़क अपनाती जा रही हैं, यह आज अनेक विचारशील विद्वान् स्वीकार करते हैं। स्त्रियों की शिक्षा में तो विशेष ध्यान देना चाहिए उन काम-धन्धों आदि पर, कि जिनके ऊपर उनकी गृहस्थी का सौन्दर्य और सुख निर्भर है।

सबसे पहले तो स्त्रियों की रुचि को परिष्कृत करना चाहिए। उनके मन को ऐसा ऊँचा उठना चाहिए कि घर-गृहस्थी के धन्धों को करने में ज़रा भी न शर्मायँ, जैसे कि शिक्षित लोग अपने क़ौमी धन्धों से शर्मा कर उन्हें तिलाञ्जलि ही देते जाते हैं। अलबत्ता दासी के रूप में वे उन्हें न करें, उन्हें करें प्रेम और वात्सल्य-मयी माता अथवा स्वामिनी के रूप में। गार्हस्थ्य जीवन में वे अपनी स्थिति को हीन समझ कर घर में क्लेश-दुःख न फैलायें; बल्कि अपनेको लक्ष्मी, सरस्वती और अन्नपूर्णा का प्रति-रूप समझ कर अपने निर्दोष, निष्कपट, स्नेहपूर्ण व्यवहार से सुख, स्नेह और आनन्द की रश्मियाँ फैलायें।

शिक्षा की व्यवस्था में, परिस्थिति को देखते हुए, पश्चिम का सर्वथा अनुकरण न होना चाहिए। बजाय समय और अनुशासन के भयपूर्ण बन्धनों में जकड़े रहने के मनो-त्साह के सुन्दर-श्रेष्ठ समय में शिक्षा का कोई उपाय निकाला जा सके तो सर्वोत्तम। पर जबतक ऐसा न हो सके, स्त्री-शालाओं का समय स्त्रियों के अवकाश का विचार करके रक्खा जाय तो अच्छा हो। दोपहर का समय शायद इसके लिए सर्वोत्तम होगा।

पाठ्यक्रम अधिक आकर्षक बनाया जाना चाहिए; और पाठ्य-पुस्तकें सुन्दर, सचित्र और सस्ती हों, इसकी विशेष व्यवस्था हो। अन्य वातावरण में भी स्वच्छता-सफ़ाई और लालित्य-सौन्दर्य का ध्यान रहना चाहिए। सौन्दर्य और लालित्य स्त्रियों का विशेष विषय है। इसपर खूब ध्यान दिया जाना चाहिए। चित्रकारी, नृत्य, गाना-बजाना आदि सब ऐसी बातें इसमें आ जाती हैं। इनकी शिक्षा में यह ख़ास ध्यान रखना चाहिए कि इसके अध्ययन में उनके भावों पर शृङ्गारिकता, रसिकता आदि भद्देपन की छाप न पड़कर सुन्दर और पवित्र प्राकृतिकता और आदर्श वास्तविकता की ही छाप पड़े।

पाक-शास्त्र उनका आवश्यक विषय है। परन्तु इसकी शिक्षा किताबी न होकर पूर्णतः व्यावहारिक होनी चाहिए। इसमें यह भी ध्यान रहना आवश्यक है कि सिर्फ़ अमीरी खान-पान की शिक्षा न हो; बल्कि यह बताया जाय कि ग़रीब-से-ग़रीब स्थिति में भी आदर्श गृहिणी कैसे अपने पाक चातुर्य से जिह्वा-स्वाद को क़ायम रख सकती और दुःखी कुटुम्बियों को सन्तुष्ट कर सकती है।

सीना-पिरोना, क़सीदा आदि स्त्रियों के आभूषण हैं।

समय पड़ने पर ये उनकी आर्थिक कठिनाई को हल करने में भी सहायक हो सकते हैं। अतः इनसे उन्हें अवश्य और भली-भांति अभिज्ञ किया जाना चाहिए।

शिशु-विज्ञान और गर्भ-पालन जैसे विषयों का तो उन्हें सूक्ष्म और अच्छा ज्ञान दिया ही जाना चाहिए, पर स्वास्थ्य और विभिन्न ऋतुओं के अनुपान आदि का साधारण ज्ञान भी उन्हें होना चाहिए। इस तरफ़ हमारी बहुत अधिक उपेक्षा रही है, यद्यपि यह प्रायः सबसे महत्वपूर्ण विषय है।

अक्षर-ज्ञान होना ज़रूर चाहिए, और जिस विषय में जिसकी रुचि हो उस विषय का विशेष ज्ञान भी; पर उपर्युक्त सब बातों के सामने उनका नम्बर दूसरा रहे।

गणित, ज्यामिती आदि का थोड़ा व्यवहार-योग्य अध्ययन काफ़ी होगा।

भूगोल का संक्षिप्त ज्ञान होना चाहिए। इतिहास सन्-संवत् के ढंग पर नहीं, पर कथा-कहानियों के रोचक ढंग पर पढ़ाया जाना चाहिए; और उनमें उससे निष्कर्ष निकालने की बुद्धि जागृत करनी चाहिए।

जिस धर्म में जिसकी आस्था हो, बिना किसी दूसरे धर्म पर आक्रमण किये, उसकी इतनी शिक्षा तो उन्हें

मिलनी ही चाहिए कि उसके मूल सिद्धान्तों और उसकी भावनाओं को वे समझ कर सुलझे दिमाग़ से उनपर अमल कर सकें और अटर-सटर लोगों व गुण्डे-ढोंगियों के फेर में पड़ने से बची रहें।

चरित्र और सेवा-प्रधान वृत्ति पर पूरा ध्यान रहे। अवज्ञा और तड़क-भड़क आदि ऐसे भाव न पैदा हो पायें, विलासिता और भोग की भावना न घर कर जाय, इसका पूरा ध्यान रक्खा जाय। 'सादा जीवन, उच्च विचार' उनके जीवन का लक्ष्य बनाया जाय; और निर्दोष विश्व-प्रेम एवं निःसीम विश्व-सेवा उनका ध्येय हो।

एक बात और। बालकवाली तथा अल्पायु कन्याओं के लिए मुफ्त दूध, नाश्ते, धाय आदि की भी स्कूलों में व्यवस्था रहे, जैसी कि शायद बड़ौदा राज्य ने की भी है।

ऐसा हुआ तो, हमारा ख़याल है, हमारी बहनें सच्ची शिक्षा लाभ करके अपना, अपने घरों का, कुटुम्बियों का, और फिर भारत का वह नाम करेंगी कि एक बार फिर भगवान् को यहाँ की भूमि में जन्म ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होगी; और उनका अवतरण भारत के सारे दुःखों को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा !

१५

किधर ?

"भारतीय महिलाओं की अवस्था में उन्नति और प्रगति करने के लिए, क्या उनका पाश्चात्य सभ्यता में रंग जाना या अंग्रेजियत धारण कर लेना सचमुच उपयुक्त होगा? × × × उचित तो यही है कि हम स्वदेशी—हिन्दुस्थानी—बनें। × × × भारतीय स्त्रियों का तो यह धर्म है कि वे अपने राष्ट्र की परम्परा को जीवित रक्खें। कुछ विदेशी यथार्थ गुणों के आगे उन्हें अपने विचारों और गूढ़ तत्वों को न भुला देना चाहिए।"

—श्रीमती कमला सत्यनाथन्

(सम्पादिका 'इण्डियन वीमेंस मैगज़ीन')

[१]

कहा जाता है, यह युग क्रान्ति का युग है। सचमुच आज चारों ओर क्रान्ति की सर्वतोमुखी ध्वनि सुनाई भी पड़ रही है। जैसा कि कहा जाता है, और हम समझते हैं, इसका उद्देश्य है संसार को बुराइयों से मुक्त कर देना—अन्याय-अत्याचारों का नाश कर देना—पराधीनता और परतंत्रता के जंजाल से हमें मुक्त कर देना—और, विधायक रूप में कहा जाय तो, दुनिया से सर्व बुराइयों और ऐबों की जड़ अ-समता—नीच-ऊँच, छोटा-बड़ा के भाव—को उठा देना। इसीलिए पीड़ित-दुःखी, अधीनता में जकड़े और सताये जाने वाले, संक्षिप्ततः दूसरे के बन्धन-ग्रस्त सभी नर-नारी इसके नाम-मात्र से मुदित हो उठते हैं—आगमन के लिए उत्सुक होना तो फिर स्वाभाविक ही है।

× × ×

अ-समता के नाश, अथवा समता की स्थापना के जिस सिद्धान्त पर क्रान्ति का बहुत-कुछ आधार है, उसके अस्तित्व पर हम विचार करते हैं तो हमारी नज़र एकदम फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर पहुँचती है। पहले-पहल उसीमें समता के सिद्धान्त की आवाज़ उठी। निश्चय ही वह राजनैतिक समता थी, जिसके लिए फ्रांस की क्रान्ति हुई; इसलिए यह मानना होगा कि समता का सिद्धान्त सर्वप्रथम राजनैतिक क्षेत्र में, राजनैतिक रूप में, उदय हुआ। पर इसके बाद उसकी उत्क्रान्ति हुई। समाज में, सामाजिक रूप में, उसे लागू किया गया। होते-होते अब वह वर्गों (sect) के ऊपर भी लागू किया जाने लगा है। स्त्री-पुरुष की समता और उनके समानाधिकार की आज जो गूँज है, वह समता के सिद्धान्त की यही सीढ़ी है; और, इसीपर आज हम आगे बढ़ रहे हैं।

[२]

समता! समानाधिकार!! कितने सुन्दर शब्द हैं ये? और, इनकी स्वाभाविकता में तो सदेन्ह ही क्या? सचमुच समता स्वर्गीय है, उत्कर्ष-कारक और सौख्य-शान्ति-प्रदाता

है; जब कि अ-समता नीचे गिराने वाली और दुःख-अशान्ति-चिन्ता-कलह-उत्पादक अतएव नारकीय है। और समानाधिकार? ये तो प्रत्येक प्राणी के जन्म-सिद्ध स्वत्व हैं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के स्वर-में-स्वर मिला कर कहें तो हम कह सकते हैं—समता और समानाधिकार प्राणि-मात्र के जन्मजात और जन्मसिद्ध स्वत्व हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते, कम-से-कम हम ऐसा मानते हैं। अतएव इस दिशा में, अ-समता के नाश और समानाधिकार की प्राप्ति के लिए, जो भी प्रयत्न हों, वे श्लाघ्य हैं। इसीलिए आज स्त्रियों का जो आन्दोलन चल रहा है, वे पुरुषों के अन्याय-अत्याचार से बंधन-मुक्त हो जाने के लिए जो प्रयत्न कर रही हैं, हम उसके प्रशंसक ही नहीं बल्कि ज़बरदस्त समर्थक हैं।

ओह, कितनी प्रसन्नता होती है उस समय, जब हम भिन्न-भिन्न स्थानों में होनेवाली अपनी बहनों की उत्साह-पूर्ण हलचलों का हाल पढ़ते हैं! और उस वक्त तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहता, जब हम देखते हैं कि हमारे पुरुष-भाई भी उनके इस आन्दोलन में न केवल दिलचस्पी ले रहे हैं बल्कि कहीं-कहीं तो उनसे भी अग्रगण्य हैं। सच-मुच ये शुभ लक्षण हैं। इन्हें देख-देखकर सदियों से निराशा-

भोगी हमारा हृदय कभी-कभी आशा-उमंगों से बाँसों उछल पड़ता है। काश ये सब बातें वस्तुतः भी ठीक ऐसी ही होतीं!

[३]

स्त्रियान्दोलन की आज क्या दशा है ?—नहीं, देखना चाहिए, समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है ?

इसपर विचार करना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक कठिन और साहस का काम है। फिर अभी तो चूँकि हम इस प्रवाह के बीच ही हैं—नहीं कह सकते, ठीक बीच भी पहुँचे हैं या अभी उससे भी इस ओर ही हैं !—इस-लिए यह और भी कठिन और भय-पूर्ण है। इस विचार में पूर्णता का दावा करना ठीक वैसा ही होगा, जैसे दाल के रँधने से पहले ही उसके सुस्वाद या बे-स्वाद होने का निर्णय कर डालना। ऐसी हालत में बहुत डरते-डरते और झिझकते-सकुचाते ही कुछ लिखा जाना सम्भव है। फिर भी यह असम्भव नहीं कि शायद किसीके प्रति कोई अन्याय हो जाय, कोई कड़वी या तीव्र बात लेखबद्ध हो जाय। अलबत्ता, इसमें शक नहीं, होगा वह निर्द्वेष और अलिप्त-भाव से ही। अस्तु।

× × ×

इस सम्बन्ध में ऊपर-ऊपर से जब हम विचार करते हैं तो सब बातें बड़ी सुनहरी प्रतीत होती हैं। अहा, कैसी सुन्दर कल्पना है यह कि स्त्री-पुरुष सब साथ-साथ स्वच्छन्द रहें, साथ-साथ लिखें-पढ़ें, साथ-साथ घर-बाहर के काम-काज करें, और साथ-साथ ही सब धन्धों को करें! स्नेह, समता, पवित्रता, और संवादिता (Harmoney) के सुन्दर और ऊँचे भाव समाविष्ट हैं इस सुखद कल्पना में— और, यूरोप ने आज इस कल्पना को व्यावहारिक रूप भी दिया है। आज वहाँ यह सब होता है। यही नहीं, रहन-सहन और रुचि-अरुचि में भी आज वहाँ समानता का दृश्य दिखाई दे रहा है। स्त्री-पुरुष के विवाह-सम्बन्ध में भी खूब छूट हो गई है। और कुछ देशों में तो नंगे-उघाड़ेपन का भी ख़याल उठने लगा है। * इन सब

* कई देशों में प्रकृतिवादियों का उदय हुआ है। ये प्रकृति से जैसे पैदा हुए वैसे ही नङ्गे रहना पसन्द करते हैं। बक़ौल 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (२६ जून १९३१) हाल के कुछ ही वर्षों में यूरोप में नंगेपन का सम्प्रदाय ऐसे ज़ोरों से फैला है कि अब यह बढ़कर क़रीब-क़रीब एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन ही बन गया है। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्विट-

बातों से जब हम पुरुष उछल पड़ते हैं, तब उन स्त्रियों की खुशी का तो ठिकाना ही क्या, जो सदियों से हम पुरुषों की अधीनता ही नहीं स्वीकार कर रहीं बल्कि हमारे उचित-अनुचित अन्याय-अत्याचार-ज़बरदस्तियों को भी दबे हृदय से नीरव आह और मूक वेदना के साथ बर्दाश्त करती चली आ रही हैं? और कौन आश्चर्य इसमें, कि प्रतिक्रियात्मक भावों से प्रेरित होकर हमारी भारतीय बहनें भी अपनी

ज़र्लैण्ड, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, रूस और स्कैण्डिनेविया के देशों में यह आन्दोलन बहुत ज़ोरों पर है। ६० हज़ार स्त्री-पुरुष तो अकेले जर्मनी में ही ऐसे हैं, जो बिलकुल नंग-धड़ङ्ग साथ-साथ तैरते हैं, बिना ज़रा भी कपड़े के समस्त खेल-कूद और व्यायाम में भाग लेते हैं, और कभी-कभी बिलकुल आदम और हव्वा की तरह ही सामाजिक समारोहों में भी शरीक होते हैं। अभी कुछ महीने पहले बर्लिन में उनका प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें उपर्युक्त सब देशों के प्रतिनिधि आये थे। सोवियट रूस से तो एक सरकारी प्रतिनिधि भी उसमें शरीक हुआ था; और जर्मन राष्ट्र-सभा (रीचस्टैग) की दो स्त्री-सदस्याओं ने प्रमुख भाग लेकर नंगेपन का ज़ोरों से प्रतिपादन किया था।

पश्चिमी बहनों से उत्साह प्राप्त करते-करते उनकी अन्ध-अनुगामिनी बन रही हैं ?

× × ×

श्रीमती सुषमा सेन ने, भारतीय महिला-परिषद् के मद्रासाधिवेशन के अध्यक्ष-पद से; सच ही कहा था—

"हमारे आन्दोलकों की धुन यह है कि पश्चिमी ढंगों और रीति-रिवाजों का अनुसरण करें।"

आज हम क्या पा रहे हैं ? पुरुष पूरे 'साहब' बनने की तैयारी में हैं, तो स्त्रियाँ 'मेमसाहब' बनने की इच्छुक हैं। शिक्षा-शून्य भारतीय स्त्री की आज जो दशा है, उससे हम सन्तुष्ट नहीं हैं—उसे हम बहुत ऊँचे उठते देखना चाहते हैं; परन्तु शिक्षा-प्रणाली आज की कुछ ऐसी बेढंगी है कि जो इसके चंगुल में पड़ता है वही पश्चिमी प्रवाह में बहता है। चरित्र-निर्माण के बजाय हमें तो उसका कुछ और ही असर पड़ता दिखाई दे रहा है। हाँ, 'मेमसाहबी' के कुछ बाह्य लक्षण उनमें ज़रूर आते जा रहे हैं। रहन-सहन ही नहीं, जीवन के हर क्षेत्र में उनमें पश्चिमीपन आता जा रहा है। नैतिकता की परिधि भी कुछ संकुचित ही होती जा रही है।

'हिन्दुस्थान टाइम्स' के प्रतिनिधि ने एक बार शिमला के सभ्य समाज का वर्णन किया था। क्या पूछना उस दृश्य का—सिर से पैर तक विलायती साज-सामान से सज्जित, रंग-बिरंगी, 'गाज' से भी महीन और बढ़िया-बढ़िया साड़ियाँ, ब्लाउज़, यहाँ तक कि कइयों के तो बाल भी कटे हुए, कई ब्रिजिस पहन कर घोड़े पर सवार, और कई शेम्पेन के प्याले तथा सिगरेट के धुएँ उड़ाती हुई ! ※ प्रतिनिधि ने इस दृश्य पर आर्थिक दृष्टि से विचार किया था—भला भारत की ग़रीबी इसे बर्दाश्त कर सकती है ? एक दृष्टिकोण यह भी था कि ऐसे युवक-युवती घर-गृहस्थी के बन्धन में पड़कर क्या सुखी-सन्तुष्ट जीवन-यापन कर सकेंगे ? श्री० 'सी० वी० एन०' ने ऐसी ही और भी बातें प्रकट करके लिखा था कि सीता और सावित्री की भावना आज

※ 'हिन्दुस्थान टाइम्स' के प्रतिनिधि ने इस सम्बन्ध में शिमला-समाज के सुपरिचित कर्नल भोलानाथ की बनाई एक पंजाबी कविता का अंग्रेज़ी अनुवाद भी दिया था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह कविता वहाँ का बिलकुल हूबहू चित्रण है, फिर भी उससे वहाँ की दिशा का कुछ बोध ज़रूर होता है। उनकी कविता का एक अंश देखिए—

हमारी इन देवियों में कहाँ है ? इसपर हमारी 'आधुनिक' महिलाओं ने जो उद्गार प्रकट किये थे, उनसे पश्चिम के अनुकरण की लहर का कुछ पता लगता है। एक श्रीमतीजी ने प्राचीन स्त्रियों का खूब मज़ाक़ उड़ाया; और एक ने तो यहाँ तक लिख डाला कि सीता और सावित्री को दफ़ना दो, उन्होंने हमारा कौन उपकार किया है ? क्योंकि, उन्होंने कहा, Sita could have done better than meekly

---

They eat and drink with a vengeance
and spend the day in toilet;
They swarm the silk stores on the Mall,
And ruin the bank balance of their husbands,
By buying Saris, boots, kerchiefs etc.
Ye girls, (Says *Waris*) have made me bankrupt.
They smoke nothing but the 555 !
And spend their time in Bridge.
And when Warris Shah is feeling thirsty
They offer him a peg of whisky.
They powder their face and rough their lips
And part their hair from a side.
They dance in ball-rooms the latest steps,
They wear high-heeled and expensive shoes,
And pride in competing with the western girl
in fashion.

allow her husband to persist in his foolish decision to go to the forest. × × × And I think Savitri could have better employed her time and energy than by running after Yama to fetch her husband's soul. यही नहीं, उन्होंने यहाँ तक कह डाला—"निस्सन्देह ये कहानियाँ स्त्रियों के मन में यह बात जमाने के लिए ही गढ़ी गई हैं कि पति के बिना उनका कोई (स्वतंत्र) अस्तित्व नहीं है। और इसी भाव के ख़िलाफ़ हमें लड़ना है। इसलिए मेरी यह सम्मति है कि सीता और सावित्री जैसी बावलियों (Opiates) से, जिनके साथ हमें बार-बार घसीटा जाता है, देश के सर्वोत्तम हितों के लिए जल्दी ही हमें अपना पिण्ड छुड़ा लेना चाहिए।" और यह किसलिए? वह कहती हैं, "पति की पूजा को अब हम क़तई बर्दाश्त नहीं करेंगी। हम न तो पति-परमात्मा को चाहती हैं, न पत्नी-देवियों को। हम ऐसे मानवी जीवों को चाहती हैं, जो अपने बल एवं चरित्र की सुन्दरता पर अपना आधार रक्खें। हम ऐसे व्यक्तित्ववाली स्त्रियाँ चाहती हैं, जिनमें अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस हो, जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व पर ज़ोर दें और जो पुरुषों से दलित-पीड़ित होकर पुरुष-

-की दोनों की दृष्टिमें पतित होने से इन्कार करें ।"

दिल्ली की अ० भा० महिला-शिक्षा-परिषद् के समय वहाँ हमारी शिक्षिता बहनों का जो रुख़ रहा, वह वहाँ के पत्र 'महारथी' तक की तीव्र टीका का पात्र हुआ। 'महारथी' ने उनकी शाहख़र्ची, शौक़ीनी आदि का उल्लेख करके भारत की वर्त्तमान दशा में उसे अवांछनीय बताया था। भारतीय महिला-परिषद् की कार्यवाही भी राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्थानी) में न होकर अंग्रेज़ी में होती है !

इस प्रकार अगर कोई यह अनुमान निकाल ले तो अनुचित न होगा कि जागृति और सुधार के नाम पर हमारी स्त्रियाँ पश्चिमी स्त्रियों की ही नक़ल हर बात में करती चली जा रही हैं—बिना इस बात का पूर्ण और समुचित विचार किये कि इसका अन्त क्या होगा और वह हमारे देश की दृष्टि से ठीक भी होगा या नहीं ?

× × ×

यह अस्वाभाविक भी नहीं। किसी देश पर जब किसी दूसरे देश का प्रभुत्व होता है, तब उस देश की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो ही जाती है कि अपनी सब बातों को वह विजित

देश के मुक़ाबले हीन एवं त्याज्य समझने लगता है। फिर जब प्रभुता-प्राप्त देश का दृष्टिकोण सम्पूर्णतया अपने अधीन राष्ट्र की अच्छाइयों को, प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से, नष्ट ही कर देना हो, तब तो इसके सिवा और किसी बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। और विजित राष्ट्र, ख़ासकर जो सम्पूर्णतया अपने स्वार्थ ही के लिए किसी राष्ट्र को अपने अधीनता-पाश में बद्ध रखते हैं, बिना ऐसा ढंग अख़्यार किये रह ही नहीं सकते—यह दूसरी बात है कि "मुँह में 'राम', बग़ल में छुरी" की कूटनीति का अनुसरण करके वे ऊपर से चाहे अधीन राष्ट्र को सुरक्षित और समुन्नत-समृद्ध बनाने की कोरी डींगें हाँका ही करें। आज हमारे देश की जो स्थिति है, वह भी किसीसे अप्रकट नहीं। ऐसी दशा में पश्चिम के अनुकरण की जो लहर हममें बही है, उसे अस्वाभाविक तो हर्गिज़ कहा ही नहीं जा सकता। सचमुच आश्चर्य और अस्वाभाविकता तो उस हालत में होते, जब कि वर्तमान परिस्थितियों में भी ऐसा न हुआ होता।

परन्तु कोई बात स्वाभाविक होने से ही वांछनीय भी हो, यह बात नहीं। अतः, देखना चाहिए, हमारे लिए यह उपयुक्त कहाँ तक है?

[८]

नक़ल अच्छी है, सिर्फ़ दिखावट के लिए। अज्ञान-अबोध दशा में उससे मनबहलाव होता है, थोड़ी देर के लिए आत्म-सन्तोष भी हो जाता है, पर वास्तविक समस्या का उससे कदापि हल नहीं होता। राम ने चन्द्र की नक़ल (चन्द्रहार) देखकर अपनी नासमझी ही के कारण सन्तोष किया था; वास्तव में उन्हें चन्द्रमा थोड़े ही मिल गया था? हमारी अज्ञान बहनें जब किसीके पास सोने की कोई बढ़िया चीज़ देखती हैं, तो झट उसकी चाहना करने लगती हैं; कोई बढ़िया रेशमी कपड़ा देखा, झट उसकी इच्छा करने लगती हैं। उस समय ग़रीबी के कारण वैसे साधन न हों, तो वे क्या करती हैं? नक़ली पर सब्र करती हैं—सोने की जगह झोल के ज़ेवर बनवाये जाते हैं, और रेशम की जगह विलायती 'इमिटेशन सिल्क' का उपयोग किया जाता है। लेकिन हंस के पर लगा लेने से कौआ हंस नहीं बन गया था, उल्टे दुरदुराये जाकर उसे अपने असली रूप पर ही आना पड़ा था। ऐसी दशा में हमारी भारतीय बहनें पश्चिम के अन्धअनुकरण से, जिसपर कि आज वे गतिशील हैं, कहाँ तक आत्मोत्थान और भारतोत्थान करेंगी, यह अभी सन्देहास्पद ही है।

फिर हर जगह सब अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ हों, यह असम्भव है। निस्सन्देह आज का पश्चिम, आज के हमसे, कहीं आगे है। वह प्रगतिशील है; शोधक है, आविष्कारक है, साहसी है, आत्म-विश्वासी है—और, इस सबसे बढ़कर, वह स्वशासित है। पश्चिमी स्त्रियों की दशा भी, स्वर्गीय लाला लाजपतराय का अनुसरण करके कहें तो, भारतीय स्त्रियों से उतनी ही अच्छी है, जितनी कि पश्चिमी पुरुषों की दशा भारतीय पुरुषों की दशा से अच्छी है। साहस, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता आदि गुण उनसे हमारे यहाँ की स्त्रियाँ तो सीख ही सकती हैं; पर हम 'पुरुष' नाम-धारी नर-पुंगव भी इन गुणों को उनसे ग्रहण कर सकते हैं। लेकिन साथ ही उसमें बुराइयाँ भी हैं, और बहुत हैं, यह हमें हर्गिज़ न भूल जाना चाहिए।

× × ×

स्वर्गीय लालाजी अपनी 'दुःखी-भारत' पुस्तक में लिखते हैं—

"पाश्चात्य देशों पर दोषारोपण करने की हमारी बिलकुल इच्छा नहीं है; परन्तु मिस मेयो ने भारतवर्ष के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी धर्माचरण की जो व्यवस्था की है, वह हमें पाश्चात्य

देशों के धर्माचरण के साथ भारतवर्ष के धर्माचरण की तुलना करने के लिए आमन्त्रित करती है। यह कार्य कितना ही अप्रिय क्यों न हो, हमें करना ही पड़ेगा। × × × हम किम्वदन्तियों के आधार पर अपने वक्तव्य न प्रकाशित करेंगे और इस कार्य को पूरा करने का भार यूरोप के वैज्ञानिक लेखकों तथा योग्य निरीक्षकों पर छोड़ देंगे।"

सचमुच लालाजी ने ऐसा ही किया है, और वह पश्चिम के अन्ध-अनुगामियों के लिए दिव्य प्रकाश है। उनकी पुस्तक के दो बड़े-बड़े अध्याय 'पश्चिम में कामोत्तेजना' के नाम से इसी विषय की सप्रमाण सामग्रियों से भरे हुए हैं। यहाँ तो संक्षेप में ही हम उनपर विचार कर सकते हैं।

वहाँ क्या नहीं होता? "पाश्चात्य देशों में विवाह के पूर्व और विवाह के अतिरिक्त विषय-भोग करने के लिए जैसी सुविधायें हैं वैसी भारतवर्ष में मुश्किल से मिलेंगी। × × × इसके अतिरिक्त पश्चिम में विषय-भोग-सम्बन्धी बातों पर स्वतन्त्रता के साथ विचार करनेवाले लोग, चाहे सही हो या ग़लत, अब विवाह के पहले सम्भोग की बातों को जानने की आज्ञा ही नहीं बल्कि उनका अनुभव करने की राय भी देते हैं। × × × 'ऐसे सम्बन्ध इंग्लैण्ड के अधि-

कांश या प्रायः समस्त गाँवों में खूब पाये जाते हैं।'...'कुछ देशों में यह सर्वमान्य प्रथा-सी चल पड़ी है कि स्त्रियाँ क़ानूनी विवाह से पहले ही सम्भोग-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। कभी-कभी वे जिस व्यक्ति से प्रथम बार सम्भोग करती हैं, उसीके साथ विवाह कर लेती हैं; परन्तु कभी-कभी अनुकूल पति पाने से पूर्व वे अनेक व्यक्तियों के साथ सम्भोग कर चुकती हैं। इस प्रकार स्टफोडशायर के कुछ भागों में तो यहाँ तक रिवाज है कि एक बच्चा उत्पन्न हो जाता है तब स्त्रियाँ विवाह करती हैं।...स्वीडन...के अधिकांश लोग इसी प्रकार का जीवन आरम्भ करते हैं'...'डेनमार्क में भी क़ानूनी सम्बन्ध स्थापित होने से पहले स्त्रियाँ अनेक बार गर्भ धारण कर चुकती हैं।' × × सच बात तो यह है कि यूरोप में जहाँ-जहाँ ट्यूटोनिक जाति के वंशज बसते हैं वहाँ-वहाँ स्वतंत्र सम्बन्धों की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है और खूब अच्छी तरह से स्थापित हो गई है।...'जर्मनी में अनुचित सम्बन्धों से उत्पन्न शिशुओं की जन्म-संख्या ही नहीं बढ़ रही है...वरन् आधी या उससे अधिक विवाहितायें भी अपने विवाह-सम्बन्ध से पूर्व ही गर्भ धारण कर लेती हैं। इस प्रकार बर्लिन में नियमानुकूल

जो शिशु जन्म ग्रहण करते हैं उनमें भी ४० प्रतिशत ऐसे होते हैं, जिनका गर्भाधान विवाह से पूर्व हो चुकता है। परन्तु देहातों में...गर्भाधान के पश्चात् होनेवाले विवाहों की संख्या बर्लिन के मुक़ाबले में बहुत अधिक होती है।... कम-से-कम विवाह के पूर्व एक-दूसरे की परीक्षा कर लेने के लिए तो सहवास आवश्यक ही समझा जाता है। क्योंकि 'थैले में बन्द सुअर को ख़रीदना कोई पसन्द नहीं करता।' ...'क़ानून के अनुसार विवाह करनेवाली स्त्रियों में अक्षत-योनि कुमारियों की संख्या अधिक नहीं होती' (यह बात विशेष कर ब्रिटेन के सम्बन्ध में कही गई है) परन्तु ये बातें ऐसी हैं, जिन्हे लोग वैवाहिक पवित्रता के अनुकूल समझते हैं। × × × "

"अमेरिका के एक सच्चे और उत्साही सुधारक श्रीयुत बेन लिण्डसे ने, जो बालकों की अदालत के २५ वर्ष तक जज भी रह चुके हैं, जिन बातों पर प्रकाश डाला है उनका पढ़ना बहुत अच्छा नहीं लगता। परन्तु लिण्डसे ने जो कुछ लिखा है वह इधर-उधर की बातों पर नहीं बल्कि उन सच्ची बातों पर अवलम्बित है, जिनका उसने अपना जजी का कार्य करते समय स्वयं अनुभव किया था × × × जज

लिण्डसे को इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा है कि 'अमेरिका की साधारण बालिका अपने मस्तिष्क को सम्हालने या नियंत्रण करने के योग्य परिपक्व होने से वर्षों पहले कामोत्तेजना का अनुभव करने लगती है।' × × × 'इन हाइस्कूल के छात्रों और छात्राओं के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि जितने युवक-युवतियाँ सहभोजों में और नाच में भाग लेते हैं, या एकसाथ मोटर-गाड़ियों में बैठकर सैर करते हैं, उनमें ९० प्रतिशत युवतियाँ ऐसी होती हैं, जो आलिंगन और चुम्बन में भाग लेती हैं।...इन अनुमानित ९० प्रतिशत के सम्बन्ध में........कुछ बालिकायें ऐसी होती हैं, जो जिन बालकों के साथ घूमने निकलती हैं उनसे ऐसा करने का हठ करती हैं और ऐसे रोमाञ्च उत्पन्न करने वाले सुखों की खोज में छिपे-छिपे चतुराई के साथ उतनी ही अग्रसर रहती हैं जितने कि स्वयं बालकगण।' × × × 'इस प्रकार के अर्द्धसम्भोग का प्रभाव बालिकाओं के शरीर और मन पर इतना गहरा पड़ता है कि पूर्ण-सम्भोग की वे शिकार-सी प्रतीत होने लगती हैं' × × परन्तु चुम्बन, आलिंगन और नृत्य आरम्भ की बातें हैं। इनसे ही अन्त नहीं हो जाता। 'जो लोग चुम्बन और आलिंगन

आरम्भ कर देते हैं उनमें कम-से-कम ५० प्रतिशत यहीं तक नहीं रुके रह सकते। वे और आगे बढ़ते हैं और विषय-भोग-सबन्धी दूसरे प्रकार की ऐसी स्वतंत्रता भी लेने लगते हैं, जो समस्त सभ्य समाजों में घोर अनुचित समझी जाती है'......'मैं यही कह सकता हूँ कि ये अंक हाइस्कूल के छात्रों और छात्राओं के हैं और इतने सत्य हैं कि इनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।' × × १९२०–२१ में डेनवेर की बालकों की अदालत में हाइस्कूल में पढ़ने योग्य आयु की '७६९ बालिकाओं पर पथ-भ्रष्ट होने का मुक़द्दमा चलाया गया था।...उनकी आयु १४ से १७ वर्ष तक थी।' × × 'उन ७६९ बालिकाओं के मुक़द्दमों में कम-से-कम २००० मुक़द्दमे अ-प्रत्यक्ष रूपसे सम्मिलित थे।' × × 'कृत्रिम उपायों के द्वारा गर्भ रोकने की बातें बालिकाओं को ख़ूब मालूम हैं—जितना लोग समझते हैं उससे भी बहुत ज्यादा।"

जिस बहुविवाह के लिए भारत की ख़ूब निन्दा की जाती है, उसके बारे में, "पुलिस का कथन है—संसार के किसी भाग में बहु-विवाह की प्रथा इतनी प्रचलित नहीं है, जितनी कि ईसाइयों से बसे देशों में। संसार के किसी

अन्य भाग में बहु-विवाह के बोझों से बचकर निकल जाना किसी मनुष्य के लिए इतना आसान नहीं है।' शोपेनहार ने भी यही सम्मति प्रकट की थी।"

और स्वयं विवाह? "ऊपर से देखा जाय तो पश्चिम में विवाह की जो प्रथा है वह एक आनन्दमय और पूर्ण-विकसित प्रेम-विवाह की प्रथा प्रतीत होगी। परन्तु मैक्स-नारडौ के समान विद्वान् ने इसे 'विवाह का ढकोसला-मात्र' कहा है। नारडौ का खयाल है कि ऐसे विवाहों की संख्या ७५ प्रतिशत से कम नहीं है, जो 'सुविधा के लिए विवाह' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वे वास्तव में प्रेम-विवाह नहीं हैं। जार्ज हर्थ का अनुमान है कि यह संख्या और भी ऊँची होगी। × × इन बातों को स्वाकार करते हुए यूरोप के स्वतंत्र विचारक लोग विवाह की अपेक्षा निम्न दर्जे का विषय-सम्बन्ध स्थापित कर लेने की ओर इसी भाँति के अन्य पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने की सलाह दे रहे हैं।"

लालाजी की राय है कि "पाश्चात्य नगरों में विषय-भोग एक वैज्ञानिक रूप से संगठित और अत्यन्त उन्नतिशील व्यवसाय हो गया है।"

इन अध्यायों में उन्होंने एक के बाद एक प्रमाण दे-

देकर इस बात को खूब स्पष्ट किया है। यहाँ जगह नहीं कि उन सबका वर्णन किया जा सके, यह सब तो उसीमें पढ़ा जा सकता है। हाँ, यह हम ज़रूर बता देना चाहते हैं कि लालाजी ने इस सबसे निष्कर्ष क्या निकाला? बाल-विवाह के अतिरिक्त, लालाजी ने लिखा है, "हमें भारतवर्ष के रिवाजों और स्थितियों में कोई ऐसी बात देखने को नहीं मिलती, जो पाश्चात्य देशों के रिवाजों और स्थितियों के समान देश के सामाजिक वायु-मण्डल को विषय-वासना से घटाटोप कर देने वाली हो। वास्तव में जूता दूसरे ही पैर में है। आधुनिक औद्योगिक और निवास-सम्बन्धी दशायें, इनसे उत्पन्न सस्ती उत्तेजना की लिप्सा, बड़े-बड़े नगर, व्यापारिक ढंग पर दुर्वासना-सम्बन्धी समस्त संघ—ये सब बातें पाश्चात्य देशों में इतना कामोद्दीपन उत्पन्न कर देती हैं कि भारतवर्ष में उनकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।" और, यह लिखते हुए कि "इस बात के मानने का यथेष्ट कारण है कि भारतवर्ष में इन्द्रिय-रोगों का विस्तार उतना अधिक नहीं है जितना कि पाश्चात्य देशों में," यह कहते हैं—"इतिहास इस बात का प्रमाण दे सकता है कि इस सम्बन्ध में यूरोप से ही 'संसार को ख़तरा' है।"

ये तो हुई पूज्य लालाजी द्वारा प्रस्तुत बातें (इस वर्णन की सब बातें 'दुखी भारत' से ली गई हैं); पर अख़बारी दुनिया के लोग इस सम्बन्धी उन बातों से भी सर्वथा अपरिचित नहीं, जो समय-समय पत्रों में—अधगोरे पत्रों में ख़ास तौर पर—निकलती रहती हैं।

इंग्लैण्ड की अविवाहित माता एवं बच्चों की राष्ट्रीय कौंसिल के अवैतनिक कोषाध्यक्ष सर सी० वेकफ़ील्ड ने, 'अमृतबाज़ारपत्रिका' के लेखानुसार, एक भाषण में हिसाब लगाया था कि इंग्लैण्ड और वेल्स में प्रतिवर्ष २७०० बच्चे कुमारी स्त्रियों से उत्पन्न होते हैं और उनमें से २० प्रतिशत, जो संख्या विवाहित स्त्रियों से उत्पन्न हुई सन्तानों से लगभग दूनी है, पहले ही वर्ष के भीतर अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

सन् १९२७ के 'ब्रिटिश रजिस्ट्रार जर्नल' के आधार पर कुछ दिन-पूर्व खण्डवा के 'कर्मवीर' ने ब्रिटेन की सामाजिक तसवीर' खींची थी—उसी 'ब्रिटेन की, जो आज भारत पर शासन कर रहा है और हम भारतीयों को सभ्य बनाने का दावेदार है। वहाँ उक्त वर्ष में ५८००० जोड़ियाँ २१ वर्ष से भी कम आयु में ब्याही गईं। २४ पति १५ वर्ष

की आयु के थे। तलाक़ की संख्या अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। विधवायें अधिक संख्या में नहीं ब्याही गईं। ९७ फ़ीसदी स्त्री-पुरुषों की शादियाँ कुमारावस्था में ही हुईं; केवल ३२ फ़ीसदी अविवाहित पुरुषों ने विधवाओं के साथ शादी की। अधिकों ने ऐसी युवतियों को अपनी उपपत्नी बनाया, जो आयु में उनकी लड़कियाँ दीखती थीं। १२६५ पुरुष तथा ३८२ स्त्रियों ने ७० वर्ष की अवस्था में शादी की। इनमें से १७ बूढ़ों ने तो निरी बच्चियों से विवाह किया। एक ७० वर्ष की बुढ़िया ने तो ३७ साल के एक पुरुष से विवाह किया। पुनर्विवाह करनेवाली ज़्यादातर विधवायें उम्र में ३० और ४० वर्ष के भीतर थीं। कुल जन्म-संख्या ६५४१७२ में २९०२७ बालकों का जन्म ग़ैरक़ानूनी था (अर्थात् वे वर्णसंकरी थे)। १९२६ में तलाक़ों की संख्या २९७३ थी, इस वर्ष ५४०० तक पहुँच गई—'तलाक़ की अदालत में इतने तलाक़ों का फ़ैसला इससे पहले कभी नहीं हुआ। और इसमें औसत रहा स्त्रियों का २, पुरुषों का १।' "तलाक—वृद्धि के अनेक कारणों में", एक प्रसिद्ध वकील महाशय ने 'सण्डे-एक्सप्रेस' के प्रतिनिधि से कहा है, "एक कारण तो यह है कि नई विवाहित युवतियाँ अपने

पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने की ज़रा भी चिन्ता नहीं करतीं। वे ज़रा-ज़रा सी बातों पर अपने पतियों से झगड़ पड़ती हैं।" उदाहरण देते हुए वकील सा० ने कहा—"मेरे पास (इस सम्बन्धी) जो मुक़द्मे आते हैं वे प्रायः युवक-युवतियों के ही अधिक होते हैं, जो उत्तेजनावश शीघ्र विवाह कर लेते हैं और कुछ मास समुद्र-तट की ओर आमोद-प्रमोद करके 'जीवन से तंग आकर' तलाक़ की तैयारी की बातें सोचने लगते हैं। कई अदालतों में स्त्रियों के आँसुओं के दृश्य तो देखे नहीं जाते। वे मौन रहकर भी 'करुणा' बोलती हैं—इसलिए कि उनका सारा सपना कुछ पखवाड़ों की चाँदनी-बरसती रातों के बाद ही विलास-प्रिय पुरुषों द्वारा तोड़ दिया जाता है। परन्तु युवतियों से अधिक दर्दनाक दृश्य उन देवियों का होता है, जो प्रौढ़ आयु की हैं और जो अदालत में उन सुन्दर युवतियों की ओर घूर-घूर कर सिसकती हैं, जिनकी वजह से ही उनके पतियों ने उनका परित्याग कर दिया है। ऐसे अभागे वे बालक हैं, जिनका जन्म ऐसे माता-पिताओं द्वारा हुआ है, जो क़ानूनन स्त्री-पुरुष नहीं समझे जाते थे!"

स्काटलैण्ड का हाल, इसी दर्म्यान, प्रसिद्ध गोरे पत्र

'पायनीयर' (प्रयाग) में आया था। स्काटलैण्ड के रजि-स्ट्रार-जनरल की १९२८ की रिपोर्ट का वह सार है। इसमें बताया गया है कि इस वर्ष स्काटलैण्ड में ३१२४२ विवाह रजिस्टर हुए; इनमें प्रतिसैकड़ा ८८.१२ नियमानुकूल थे और ११.८८ नियम-विरुद्ध। नियमानुकूल विवाहों की यह संख्या इससे पिछले पाँच वर्षों के औसत से तो २५७२ कम है और पिछले १० वर्ष के औसत से २९२१ कम है। अर्थात् वहाँ नियमानुकूल विवाह की संख्या लगातार घटकर नियम-विरुद्ध विवाहों की वृद्धि हो रही है। मनुष्य की विवाह-वय का औसत २७.९ वर्ष रहा; इनमें पुरुषों की उम्र कम-से-कम १६ वर्ष तक रही और स्त्रियों की १४ वर्ष तक। ८० और ८४ वर्ष के वृद्धों ने भी पुनर्विवाह किये; पुनर्विवाह करने वाली बूढ़ी औरतों की उम्र ७५ और ७७ तक रही। जन्म-संख्या इस वर्ष इतनी कम रही, जितनी कभी नहीं थी (शायद कृत्रिम निरोध के साधनों से); इसलिए जन्म-संख्या पिछले वर्ष से ४६८५ कम हो गई।

अमेरिका का हाल समय-समय 'लिटरेरी डाइजेस्ट' में निकलता रहता है। उद्योग-प्रधान और संसार में सबसे धनी होने के कारण, भोग और विलासिता का यह केन्द्र

है। विवाह स्वेच्छा से होने पर भी, वैवाहिक जीवन में स्थिरता कम है। तलाक़ों का यहाँ बड़ा ज़ोर है। और नेवादा नाम के इसके एक पश्चिमी राज्य का रेनो नगर तो मानों तलाक़ों का पूरा अड्डा ही है। सिर्फ़ छः सप्ताह वहाँ रह लेने से, वहाँ की अदालत में, कोई भी व्यक्ति तलाक़ देने का हक़दार हो जाता है—और वह भी बड़ी आसानी के साथ, सिर्फ़ थोड़े-से मिहनताने से। जबसे यह नया क़ानून बना है, संसार के विभिन्न भागों से वहाँ तलाकेच्छुओं का जमघट लग रहा है। न्यूयार्क 'ईवनिंगन्यूज़' के एक संवाद-दाता के लेखानुसार, ८२ तलाक़ तो क़ानून अमल में आने के पहले ही दिन स्वीकृत हुए—जिनमें प्रत्येक तलाक़ के निर्णया का औसत छः मिनट रहा, हालाँ कि कई का निर्णय तो २-३ मिनट में ही समाप्त हो गया। अगले १२ महीनों में यहाँ ५००० तलाक़ होने का अनुमान लगाया गया है; जिनसे, कहते हैं, मिहनताने के रूप में नगर को कम-से-कम ५० लाख डालर की आमदनी तो होगी ही।* कुछ वर्ष पूर्व जायस हाली के नङ्गधड़ङ्ग 'शेम्पेन' शराब से भरे टब में विहार करने और शराब से मस्त पुरुषों के उसमें से शराब

* 'लिबर्टी' (कलकत्ता); ११ जून १९३१।

के घूँट उड़ाने का सनसनीदार समाचार भी यहीं से आया था। बम्बई के 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' ने तो जायस हाली का चित्र भी प्रकाशित किया था।

स्कर्टों का झगड़ा अभी समाप्त नहीं हुआ। इसके विरुद्ध क़ानूनों की उपेक्षा करके स्त्रियों ने ऊँचे स्कर्ट रखने की बात बहाल रक्खी ही। इधर प्रकृतिवादी-आन्दोलनों की ख़बरें आने लगी हैं, जिनमें नंग-धड़ंग स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहते और सब काम-धन्धे करते हैं। दिल्ली के उर्दू सहयोगी 'रियासत' में इनके चित्र भी आ चुके हैं।

चुम्बन की प्रतियोगिता के चित्र भी हम देखते हैं। हिन्दी के 'विश्वमित्र' में भी एक महिला का चित्र छपा था, जिसके नीचे लिखा था—'इनके होट चूमने के लिए सर्वोत्तम पाये गये।' और सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं की तो शायद आज-कल भरमार है।

स्त्रियों में शराब, धूम्रपान, उपन्यास-नाटकादि के व्यसन बढ़ने की बात ऐसी नहीं, जिसे हम न जानते हों।

इन्हीं बातों का परिणाम है कि पुरुषों का पत्नीव्रत तो अलग, स्त्रियों की पति-भक्ति भी अब भूत की ही बात हो रही है। चोली-ठोली, सिग्रेट और चाय-पान तक पर तलाक़

होते हैं। सच्चा स्नेह दिन-दिन कम ही होता नज़र आ रहा है। और तो और पर पत्नियों की सख़्ती से तंग आकर पति लोग अपने रक्षा-संघ भी संगठित करने लगे हैं! इस सिलसिले में इंग्लैण्ड में एक हट्टे-कट्टे प्रौढ़ पति के उनकी युवती पत्नी द्वारा ख़ूब पीटे जाने की घटना पर विशेष ज़ोर दिया जाता है।

× × ×

गत वर्ष, गुजरात-महिला-परिषद् के अध्यक्ष-पद से, श्रीमती सुलोचनाबहन ने ठीक ही कहा था—

"संसार आज ऐसी उलझन में पड़ा हुआ है कि कहाँ जाकर वह विश्राम लेगा, यह ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। लोग केवल परिस्थिति पर क़ब्ज़ा करके, उसमें उत्तम स्थिति की प्राप्ति के रूप में, अपना अस्तित्व क़ायम रखने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

वाई० एम० सी० ए० की विश्व-समिति (जिनीवा) के अध्यक्ष और उसीकी संसार-भर की शाखाओं के सभापति डॉ० जान आर० मॉट्स ने भी हाल में कुछ इसी ढंग की बातें कही हैं—

"आज हम दुनिया के अत्यन्त ख़तरनाक समय में रह

रहे हैं—ख़ासकर हमारी नामधारी पश्चिमी सभ्यता के तेज़ी से फैलते जाने वाले अनीतिकर प्रभावों के कारण, जो कि राहु की तरह उन भूमियों और जातियों का सर्वनाश किये जा रहे हैं, जो कम ऊँचे पैमाने पर संगठित हैं। साथ ही ऐसी नयी संतति उत्पन्न हुई है, जिसने पुरातन मर्यादाओं को बहुत-कुछ अलग फेंक दिया है और प्राचीन प्रामाणिकता एवं सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना कर रही है।"

और, पश्चिम की, "इन विजयों से क्या स्त्रियों के सुख में कुछ वृद्धि हुई ?" इसका जवाब पश्चिम ही की एक सुप्रसिद्ध विद्वान महिला, जो स्वयं भी एक मशहूर अपराध-शास्त्रविज्ञ (Criminologist) एवं सुविख्यात ग्रन्थकार हैं, इस प्रकार देती हैं—

"जब मुझसे यह पूछा जाता है, तो मैं यही जवाब देती हूँ कि मुझे तो इसमें सन्देह ही है।"

ऐसी दशा में, हमारे लिए, क्या ये बातें वांछनीय हो सकती हैं ?

[५]

हमारी बहनें, भारतीय स्त्रियाँ, प्रगति के नाम पर किस पथ पर आरूढ़ हैं, यह हम देख चुके। जिस पश्चिम के अनु-

करण पर वे प्रगतिशील हैं, उसका कुछ हाल भी ऊपर आ चुका है। अब प्रश्न यह है—ऐसी दशा में, भारत की दृष्टि से, क्या बात तो वांछनीय है और क्या अवांछनीय? इसका निर्णय होना चाहिए; और वह होना चाहिए, जहाँ तक हो सके, स्वयं स्त्रियों ही के द्वारा। अतः, देखना चाहिए, वे क्या कहती हैं।

"हमारी कमज़ोरी का लाभ उठा कर हमारे घर के रहस्यों की हँसी उड़ाने के लिए जो लोग आते हैं उन सबको आज हमारा यही जवाब है कि यदि हमपर अत्याचार होता है, दीवारों के पीछे हमको क़ैद रक्खा जाता है, परदे से हमें जकड़ा जाता है, तो होने दीजिए। यदि हमें चिता में भस्म होना पड़ता है, और पशु-पक्षियों तथा चीज़-वस्त की तरह हमें लूटा व इस्तैमाल किया जाता है, तो होने दीजिए। इससे आपको क्या? हमारा उद्धार तो हमारे अपने ही हाथों में है। × × और यह सब हम करेंगी अपने स्त्रीत्व के ही चमत्कार से।" यह कहते हुए 'भारतीय स्त्री के आदर्श' विषयक अपने भाषणों में श्रीमती सरोजिनी नायडू कहती हैं—

"हमारे स्त्री-वर्ग को सहायता और शान्ति पहुँचाने के नाम पर उन्हें सिर्फ़ अपने स्वार्थ का साधन बनाने के लिए हमें

न तो किसी मित्र की ज़रूरत है, और न मित्र के रूप में किसी शत्रु की ही। यही वह जवाब है, जो आज हम उन्हें देना चाहती हैं। क्योंकि, वह कहती हैं—

"यह मैं जानती हूँ कि मैं तुच्छ हूँ, मैं अयोग्य हूँ। परन्तु फिर भी मैं एक भारतीय नारी—एक हिन्दू स्त्री हूँ। उस प्राचीन नारी की आध्यात्मिक वंशज हूँ कि जो कथाओं और साहित्य के अन्दर प्रस्थापित है। ...ग्रामीण नारी की ही प्रतिबिम्ब मैं हूँ, उससे अधिक कुछ नहीं। मैं वही हूँ, जिसे सीता, सावित्री, दमयन्ती और द्रौपदी ने श्रद्धा, साहस, धैर्य, प्रेम, बुद्धि और आत्मत्याग की एक ऐसी विरासत दी है कि जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-दूसरे को मिलती रही है और जो भारतीय संस्कृति की भित्ति है। और टूटी-फूटी कुटिया से लेकर संगमरमर के महलों में बैठने वाली तक हरएक (भारतीय) स्त्री उसी परम्परा की संरक्षिका है।"

सचमुच यही जवाब है, जो आज के पददलित-परशासित भारत की महिला अपने पर दोषारोपण करनेवालों को दे सकती है—उसे देना चाहिए।

इसका यह मतलब हर्गिज़ नहीं कि भारतीय स्त्रियाँ अपनी वर्तमान स्थिति पर ही सन्तुष्ट रहें। "पुरुष के उद्धार

के लिए स्त्रियों का उद्धार आवश्यक है। पुरुष कदापि स्वतंत्र नहीं हो सकते, जबतक कि स्त्रियाँ भी स्वतंत्र न हों।" यह स्वर्गीय लालाजी का कथन है। महात्माजी भी कहते हैं—"पुरुष तो स्त्री से ही पैदा हुआ है, उसीके मांस और हड्डी से वह बना है।" और युवक-भारत के युवक-नेता श्री सुभाष बोस की घोषणा है—"समाज के अन्दर स्त्रियों का स्थान उच्च होना चाहिए और सार्वजनिक कार्यों में वे भी अधिक-से-अधिक और पूरी होशियारी के साथ भाग ले सकें, इसके लिए उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए।"

जैसा कि 'वेदान्त-केसरी' में स्वामी ईश्वरानन्द ने लिखा था, "स्त्रियों की स्वाधीनता, हिन्दू-समाज के लिए, कोई नया विचार नहीं है।" नई बात तो वास्तव में दूसरी ही है। जर्मनी के प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक काउन्ट हरमेन ए० केसरलिंग के मतानुसार, "समानता प्राप्त करने के लिए स्त्रियाँ यह सब कर रही हैं, यह कहना ठीक नहीं; वस्तुतः तो वे प्रभुता प्राप्त करने के लिए उद्योगशील हैं।" फिर स्वामी ईश्वरानन्द के लेखानुसार, हम यह भूल जाते हैं कि "स्वतंत्रता के साथ-साथ प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य से उद्भूत ज़बरदस्त इच्छाशक्ति और शुद्धता एवं आत्म-संयम की ज्वाला

भी रहती थी।" और जहाँ पर यह बात न हो वहाँ स्त्री-पुरुषों का स्वतंत्रतापूर्वक मिलना-जुलना निश्चय ही खतरनाक है, जैसा कि शनैः-शनैः पश्चिमी राष्ट्र स्वयं ही समझ रहे हैं।"

ऐसी हालत में, श्रीमती सुलोचनाबहन का कहना है—

"हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम उस (पश्चिमी) प्रवाह में बह न जायँ; बल्कि उसके अन्दर तैरते हुए, अपना अस्तित्व बनाये रखकर, कोई रास्ता खोज निकालें।"

और श्रीमती सुषमा सेन भी कहती हैं—

"उनके जो सद्गुण हैं उन्हें ही हमें अपनाना चाहिए। पर इसमें भी इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाय कि हम उन्हें बिलकुल अपना बनालें, उनके लिए अपने राष्ट्रीय दृष्टि-कोण को हम हर्गिज़ न छोड़ बैठें।"

और श्रीमती सुरुचिदेवी (महारानीसाहबा मयूरभंज) ने तो इस सम्बन्ध में बड़े ही सुन्दर उद्गार प्रकट किये हैं—

"बहनो! आज हमारे सामने एक महान् कार्य है। हमें अपने आन्दोलन को सम्पूर्णतया स्वाभाविक और साथ ही राष्ट्रीय भी बनाये रखना है। हमें प्रगति करनी है, पर देश और अपने आपके प्रति सच्चे रहकर। हमें अन्य राष्ट्रों से

सबक़ लेना है, पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए। आइए, हम सेवा के लिए, अपने-आपको अर्पण कर दें—और भारत में परमात्मा के पुण्यधाम की रचना करें!"

उनका यह कहना बिलकुल ठीक ही है—

"यह सच है कि प्रगति की भावना के साथ हमें चलना चाहिए; लेकिन जो कुछ भी सफलतायें हम प्राप्त करना चाहें, यह आवश्यक है कि, वे भारतीय इतिहास और आदर्शों की परम्परा के अनुसार ही हों। जैसे कि भारतवर्ष अपने हिमालय, सिन्धु और गंगा के बिना सच्चा भारत नहीं हो सकता, उसी प्रकार वर्तमान संतति भी उन विशेषताओं के बिना हर्गिज़ देश के प्रति सच्ची नहीं हो सकती, जो कि भारतीय नारीत्व के सर्वोत्तम गुण हैं।"

× × ×

हम भी, बड़ी नम्रता के साथ, अपनी मान्य बहनों से यही कहना चाहते हैं। हम उनकी प्रगति के क़तई विरोधी नहीं; परन्तु पश्चिम के अन्ध-अनुकरण के जिस ढंग पर वे आरूढ़ हैं, जिससे कि जागृति के साथ उनमें उपरिनिर्दिष्ट भावनाओं की उत्पत्ति हो रही है, उसकी ओर विनम्रता के साथ हम उनका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। परदा

मत छोड़ो, यह हम नहीं कहते; हमारा कहना यही है, उसे छोड़ो तो उसके गुण-दोष की दृष्टि से, इसलिए नहीं कि पश्चिम में ऐसा होता है। कपड़े-लत्ते में भी गुण-दोष की दृष्टि से ही विचार हो, इसलिए नहीं कि पश्चिम में ऐसा होता है। स्वतंत्रता और अधिकारों की पुकार भी हो और ज़रूर हो; पर इसी दृष्टि से कि इससे अपने साथ ही समाज और देश का भी कल्याण हो, इसलिए नहीं कि पश्चिम में ऐसा होता है। शराब, तम्बाकू आदि दुर्व्यसन इस बिना पर हर्गिज़ न अपनाये जाय कि 'पुरुष इनका सेवन करते हैं, इस-लिए स्त्रियाँ भी क्यों न करें ?' इसी प्रकार 'चूँकि पुरुषों में आज नैतिकता कम है, इसलिए स्त्रियाँ भी ऐसा करें तो क्या हर्ज ?' इस तर्क को भी दूर ही रखना चाहिए। यही हम अपनी बहनों से कहना चाहते हैं, क्योंकि आज कितनी ही इससे अन्यथा ही रुख पकड़ती दिखाई पड़ती हैं। हमारी दृष्टि में सुधारक की कसौटी, जैसा कि एक बार श्री हरिभाऊ-जी ने 'त्यागभूमि' में लिखा भी था, अपने लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा नहीं बल्कि कम-से-कम रिआयतें चाहना है। सुधारक का मार्ग सुख का नहीं, कष्ट का है; और भोग नहीं बल्कि संयम, दूसरों को (समष्टि को) सुख सुविधा पहुँचाने के

लिए अपने सिर कष्ट-असुविधा का आवाहन करना है। जो परदा इसलिए छोड़ते हैं कि मेम और साहब की तरह हाथ-में-हाथ मिला कर घूमें, वे सच्चे सुधारक नहीं; जो इसलिए परदा छोड़ते हैं कि इससे स्वच्छ वायु-सेवन में विघ्न न पड़े, वही वास्तविक सुधारक हैं। इस भेद को ही हमें समझ लेना है। साथ ही अपने जातीय आदर्शों पर भी हमें सतत ध्यान रखना आवश्यक है। एक शब्द में कहें तो, यही चेतावनी (Note of warning) हम अपनी प्रगतिशील बहनों को देना चाहते हैं, कि सावधान! पश्चिम के अन्ध-अनुकरण में मत बहो। हर बात को श्रेष्ठता और आवश्यकता की कसौटी पर कसो। इसी दृष्टि से उसपर विचार और अमल भी करो। इसीमें आपका, हम पुरुषों का, और हमारे देश भारत का भला है।

१६

अधिकार बनाम कर्त्तव्य

"मानव-जाति की श्रेष्ठतम उन्नति और सेवा-भाव की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक ज़ोर दिया जाय।"

× × ×

"प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि अन्तः-करण में वह चाहे जो सोचे; पर जब बोलने और काम करने का मौक़ा होगा, तब उसका अधिकार अनेक शर्तों और सीमाओं से घिर जायगा। इस प्रश्न का यही वैध और क़ानूनी पहलू है।"

—ला० लाजपतराय

[१]

दुनिया में दौड़ मच रही है। सुदूर कुछ हरियाली दृष्टिगोचर होती है—मरुभूमि में ओसिस समझ कर, पिपासा-निवृत्ति की आशा से, तृषित समुदाय उसी ओर दौड़ा चला जा रहा है। परन्तु क्या यह दौड़ फलदायक होगी? क्या सचमुच इससे उसकी पिपासा शान्त होगी? अथवा, कहीं मृग-मरीचिका तो यह न सिद्ध होगी?

सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य सुख की तलाश में है। मनुष्य ने इसीके लिए अपने बुद्धि-बल से समाज की कल्पना और रचना की है, उसमें नाना फेर-बदल किये हैं तथा विभिन्न सम्बन्धों एवं धर्म-कर्त्तव्यों को जन्म दिया है। परन्तु चिरस्थायी शान्ति, अबाध सुख, या निरानन्द, वह अभीतक पूर्ण-रूपेण नहीं प्राप्त कर पाया है। फिर-फिर प्रयत्न होते हैं, थोड़ी-बहुत सफलता मिलती और नहीं भी मिलती है; परन्तु सफलता जिसे कहना चाहिए वह

बात अभीतक सिद्ध हुई हो, ऐसा नहीं कह सकते।

इसी सफलता-असफलता की भूल-भुलैया में उलझे हुए मानव-मस्तिष्क ने कालान्तर में अधिकारों की पुकार को जन्म दिया। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च विप्लव में, पहले-पहल, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा हुई। बाद में, और देशों ने भी इसे अपनाया। इसी प्रकार, देखते-देखते, कुछ ही काल में, सर्वत्र अधिकारों की गूँज मच गई। न्याय, स्वतंत्रता और समता उसके त्रिमुख बने।

स्त्रियों ने भी, पुरुषों की देखा-देखी, इसे अपनाया—और खूब अपनाया, इसमें शक नहीं। स्वतंत्रता और समता की पुकार जहाँ शुरू में राजनैतिक रूप में उठी थी, बाद में उसने सामाजिक रूप भी धारण कर लिया; और, फिर, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध को भी स्पर्श किये बग़ैर न रही। उत्पीड़ित जनता की नाईं, स्त्रियों ने भी समता की दुहाई के साथ पुरुषों के ख़िलाफ़ 'जहाद' बोला; और बहुत-कुछ विजय-लाभ भी किया।

मगर, क्या इससे समाज की सुव्यवस्था बढ़ी और सृष्टि में स्थायी सुख-शान्ति का बीज वपन हुआ? अथवा, स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध में ही कुछ सरसता आई?

[२]

अधिकारों के मूल पर ज़रा विचार करें।

इसमें शक नहीं कि प्रत्येक प्राणी अपने जन्म के साथ कुछ-न-कुछ अधिकार लेकर आता है। वह सृष्टि में अवतीर्ण हुआ है तो उसके लिए स्थान चाहिए ही। भूमि के किसी-न-किसी अंश पर उसके शरीर को जगह मिलनी ही चाहिए। उसके हाथ-पैर फैलने, उनके गति पाने के लिए भी जगह चाहिए। जितने भी अङ्ग उसे मिले हैं, उनका मिलना मानों इस बात का स्वयं-सिद्ध प्रमाण है कि उनके विकास और सञ्चालन की विधाता ने उसे छूट दी है। हाथों को उसे हिलाना-डुलाना चाहिए, पैरों को चलाना चाहिए, जीभ का विकास करके उसके सहारे मुँह चलाकर खाना चाहिए, इत्यादि-इत्यादि जितनी भी अङ्ग-गत क्रियायें हैं उनका करना उसका जन्मजात एवं स्वयं-सिद्ध स्वत्व है। अपने विकास, पूर्ण विकास के लिए वह मुक्त है—स्वाधीन है—आज़ाद है। पुरुष-स्त्री का यहाँ भेदभाव नहीं है। विधाता की सृष्टि में सब सम-समान हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से, जैसा जिसे सुयोग हो, हरएक को उन्नति करने का अधिकार है—उसे ऐसा करना चाहिए। अपना सुख या कल्याण (Wellbe-

ing) मनुष्य का लक्ष्य है और स्वतंत्रता उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन। यही अधिकारों की मूलभूत कल्पना है।

क्या यह ठीक है? हाँ, बशर्तें कि दुनिया में सिर्फ़ अपना ही अस्तित्व हो; अपने ही आराम-सुविधा से काम हो; और किसीसे कोई वास्ता न हो। 'स्व' का भाव ही इसमें सब-कुछ है; 'पर' का कोई ख़याल ही नहीं है। 'मैं' खूब बढ़ूँ, यह तो उचित ही है; परन्तु इसके अन्दर तो दूसरे को गिराने का भी भाव है। अमुक मेरे मार्ग में बाधक हो रहा है, उसे क्यों न गिरा दूँ—क्यों न ख़त्म कर दूँ? क्या यह मेरा अधिकार नहीं है? जब अपना सुख या कल्याण ही मेरा लक्ष्य है, तो दूसरे किसीको अपने बस-भर मैं बढ़ने ही क्यों दूँ? उचित हो या अनुचित, किसी भी उपाय से मुझे उसको गिराना ही चाहिए—यह मेरा अधिकार है और उसका उपयोग करने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। अधिकार की भाषा में कहें तो, 'जब मैं दुनिया में पैदा हुआ हूँ तो जो-जो अन्नादि कुदरत से मुझे मिले हैं उन सबका चाहे-जैसा उपयोग मैं कर सकता हूँ—ऐसा करने का मुझे पूर्ण अधिकार है और मुझे ज़रूर ऐसा करना चाहिए। अपनी शक्ति की कमी, किसी काम को करने की अपनी

असमर्थता ही, भले मुझे किसी काम को करने से रोके; नहीं तो और किसी भाव से, नैतिक या सामाजिक अथवा पारमार्थिक दृष्टि से, मैं अपने अधिकार का उपयोग करने से क्यों रुकूँ ?' यदि विनोद न समझा जाय तो, अधिकारों की भाषा में, हम यह भी कह सकते हैं—'ईश्वर ने हमें हाथ दिये हैं, उन्हें हिलाने-डुलाने और उनसे दबाने-दबोचने की शक्ति दी है, तो हम चाहे उससे किसी भूखे के लिए खाना बनावें, चाहे किसीका गला भी क्यों न घोट दें ? मेरा हाथ किसीको सहारा दे सकता है तो किसीका गला भी घोट सकता है—मैं, चाहूँ तो, क्यों न चाहे-जिसका गला उससे घोट दूँ ? क्यों न किसीकी आँख फोड़ दूँ ? क्यों न किसीकी नाक काट डालूँ ? क्यों न किसीके घूँसा मार-कर उसके प्राण ले लूँ ? दाँतों से किसी आदमी को ही क्यों न भँभोड़ डालूँ ? लात से चाहे-जिसको क्यों न मार डालूँ ? चलते हुए किसी को भी क्यों न ठुकराऊँ ? मुँह से चाहे-जिसको गालियाँ क्यों न दूँ ? हाथ से चाहे-जिसकी टोपी क्यों न उछालूँ ? जब जो जी में आवे, उसे करने का मुझे पूर्ण अधिकार है—मैं वैसा ही क्यों न करूँ ?'

इस प्रकार अधिकारों की जो भावना है, वह ख़ुदग़र्ज़ी की

भावना है; अपने सिवा दूसरे के हित-अहित का उसमें न कोई ख़याल है, न उसकी गुञ्जाइश ही। इसीलिए, अधिकारों की भूख उच्छृङ्खलता की प्रेरक है। यह मनुष्य को अक्खड़, खुदग़र्ज़ और घमण्डी बनाती है। और यही कारण है कि इतने दिनों से इसका प्रचार होते रहने पर भी जिन ग़रीबों-पीड़ितों के नाम पर इसका प्रारम्भ हुआ था उनकी हालत में इससे ज़रा भी सुधार नहीं हुआ है। इटली के उद्धारक महामना मैज़िनी के शब्दों में कहें तो, "जिन लोगों ने क्रान्तियों को जन्म दिया, उन्होंने उनका आधार व्यक्ति के अधिकारों पर रक्खा है; और इसमें शक नहीं कि क्रान्तियों ने स्वतन्त्रता विजय भी करली—वैयक्तिक स्वतन्त्रता, शिक्षा की स्वतन्त्रता, विश्वास की स्वतन्त्रता, व्यापार की स्वतन्त्रता, यहाँतक कि हरएक के लिए हरएक बात की स्वतन्त्रता उन्होंने प्राप्त करली।" मगर चूँकि भौतिक कल्याण ही उनका लक्ष्य था, इसलिए नतीजा यह हुआ कि "विश्वास की स्वतन्त्रता ने तो श्रद्धा का सफ़ाया कर दिया। शिक्षा की स्वतन्त्रता ने नैतिक विद्रोह खड़ा कर दिया। और, स्व-सुख या कल्याण को ही अपना मुख्य ध्येय मानकर, बिना किसी समान-शृंख-ला और धार्मिक विश्वास एवं उद्देश्य की एकता के, सब

मनुष्य अपने-अपने मनमाने रास्ते चलने लगे—बिना इस बात का कुछ ख़याल किये कि ऐसा करते हुए कहीं वे अपने भाइयों के सिर तो नहीं कुचल रहे हैं—भाई कोरे कहने के, दरअसल तो उनके शत्रु ही न ?" मैज़िनी के ही शब्दों में कहें तो, "धन्य है अधिकारों का यह सिद्धान्त, जिसके बदौलत आज हम इस बुरी हालत को आ पहुँचे !"

इसमें शक नहीं कि "यूरोप के इतिहास में एक समय ऐसा था, जब मनुष्य के अधिकारों पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। पर", स्वर्गीय ला० लाजपतराय के लेखानुसार, "उसके बाद, ५० वर्ष के अन्दर ही, यह मालूम हो गया कि मनुष्य के अधिकार का सिद्धान्त बिलकुल ग़लत और सत्यानाशी था। × × यह न केवल तत्त्वतः भ्रमपूर्ण ही बल्कि व्यवहारतः भी सत्यानाशी प्रमाणित हो चुका है।" इसीलिए, "ज़माना हुआ, अधिकार की यह कल्पना मटियामेट हो चुकी है।" और यह ठीक भी है। क्योंकि, बक़ौल मैज़िनी, "कौन यह कहेगा कि 'अपने अधिकारों के लिए लड़ते रहो', जबकि मनुष्य के लिए उन्हें छोड़ देने के बजाय उन के लिए लड़ते रहना ज़्यादा महँगा पड़ रहा हो ?"

[३]

अधिकार हैं और ज़रूर हैं, यही नहीं बल्कि संसार में उनका उपयोग भी है। परन्तु, 'अति सर्वत्र वर्जयेत।' कोई बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो, जहाँ उसमें अति हुई नहीं कि वह अपना वास्तविक सौन्दर्य खो बैठती है—उसकी खूबी नष्ट हो जाती है। इसीलिए पूर्णता संसार का व्यवहार नहीं आदर्श ही रहा है। यही बात अधिकारों पर भी लागू होती है। अधिकार बुरी चीज़ नहीं है, बशर्त्ते कि 'पूर्ण'ता का दावा न किया जाय—किसी मर्यादा का प्रतिबन्ध उस-पर लगा रहे। 'मर्यादा' के 'भक्त' होकर राम अमर हो गये हैं; कोई वजह नहीं कि अधिकार भी मर्यादित होकर सृष्टि को अपनी देन क्यों न दे सकेंगे? अतएव, बक़ौल ला० लाजपतराय, "जितने अधिकार हैं, सब परस्पर-सम्बद्ध हैं—पूर्ण या अनियंत्रित अधिकार के आधार पर तो कोई समाज एक दिन भी नहीं ठहर सकता।" और बक़ौल मैज़िनी, "अधिकारों का अस्तित्व तो निश्चय ही है; परन्तु, जब एक व्यक्ति के अधिकारों का दूसरे के अधिकारों से संघर्ष उपस्थित हो, तब हम अधिकारों से भी ऊँची किसी चीज़ का सहारा लिये बग़ैर उसका समन्वय और निपटारा कैसे

कर सकते हैं ?" उसका कहना है—"अधिकारों का सिद्धान्त हमें उठाने और विघ्न-बाधाओं को नष्ट कर डालने में तो समर्थ करता है, लेकिन राष्ट्र का निर्माण करने वाले समस्त मूलभूत आधारों में दृढ़ एवं स्थायी सम्बन्ध पाने के योग्य नहीं बनाता। अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य भौतिक सुख या कल्याण मान कर, केवल कल्याण के सिद्धान्त से, हम स्वार्थी—भौतिक वस्तुओं के पुजारी ही बनेंगे और नव्य-निर्माण के द्वारा अपनी पुरानी वासनाओं की ही पूर्ति करते हुए, कुछ ही महीनों में, नये वातावरण को गन्दा कर डालेंगे। इसलिए ऐसे सिद्धान्त से ऊँचे किसी ऐसे सिद्धान्त की हमें खोज करनी चाहिए, जो मनुष्यों को सुमार्ग बतलावे, स्वार्थ-त्याग की उपयोगिता सिखलावे, और मनुष्य को किसी एक व्यक्ति या सबकी शक्ति पर निर्भर किये बग़ैर अपने साथियों के साथ मिल-जुल कर रहने की शिक्षा दे।"

और, वह सिद्धान्त ? वह सिद्धान्त, उसके लेखानुसार, —कर्त्तव्य।

कर्त्तव्य ! सचमुच कर्त्तव्य ही ऐसा सिद्धान्त है, जो इस उलझन को सुलझा सकता है। वह कर्त्तव्य का भान ही है, जो अधिकार की अ-मर्यादा पर 'ब्रेक' लगाता है। अधिकार

आक्रमण करता है और कर्तव्य रक्षा। एक विध्वंसात्मक है, दूसरा रक्षणात्मक। अधिकार अन्धा है, उसमें दूसरे का बिलकुल ख़याल नहीं—'स्व' का कल्याण ही मुख्य है; कर्तव्य मानों उसका प्रकाश है—उसमें 'पर' के हित का भी समावेश है। इसीलिए, स्वर्गीय लालाजी का मत है, "जिस तरह शरीर के सभी अवयव-सम्बन्ध विभिन्न अवयवों के पारस्परिक कर्त्तव्य पर निर्भर हैं, उसी तरह मनुष्य-समाज-रूपी शरीर का अस्तित्व भी मनुष्य-रूपी प्रत्येक अवयव के कर्त्तव्य पर निर्भर है। शरीर के किसी भी अवयव को पूर्ण अधिकार नहीं होता। सबसे पहली बात यह है कि व्यक्ति-मात्र के सब अधिकार दूसरों के वैसे ही अधिकारों से मर्यादित होते हैं और इसीसे समाज के पारस्परिक कर्त्तव्यों की सृष्टि होती है। किसी भी सुव्यवस्थित समाज में व्यक्ति-विशेष को ऐसा काम करने का अधिकार नहीं होता, जिससे दूसरे की हानि हो। यही नहीं बल्कि समाज के जो लोग विशेष उन्नत होते हैं उन्हें सबके कल्याण के लिए अथवा समाज के अन्य व्यक्तियों के लाभ के लिए अपने स्वार्थों का भी बलिदान करना पड़ता है। ग़रीबों की रक्षा, असहाय और अनाथों की सहायता इत्यादि कार्य इसी कोटि में हैं।"

और विश्व-पूज्य महात्मा गाँधी के शब्दों में कहें तो, "अपना फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) अदा करने पर स्वत्व आप-से-आप आते हैं।"

इस प्रकार, ज़रा लच्छेदार भाषा में कहें तो हम कह सकते हैं कि, अधिकार और कर्त्तव्यों का जोड़ा है। अधिकार स्वाभाविक पर अ-मर्याद हैं, और कर्तव्य के रक्षा-बन्धन ने उन्हें मर्यादित कर रक्खा है। दोनों परस्पर-पूरक हैं; एक-दूसरे से एक-दूसरे की शोभा है; और दोनों का सम्मिश्रण ही वास्तविक कल्याण का दाता है। वही हमारा धर्म है।

अतएव, जैसा कि मैज़िनी ने कहा है, "मनुष्यों को हमें यह विश्वास कराना चाहिए कि वे, जो सब केवल एक ही परम-पिता परमेश्वर के पुत्र हैं, उन्हें इस भूतल पर सिर्फ़ एक ही क़ानून या नियम का पालन करना चाहिए; हममें से हरएक को अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए ज़िन्दा रहना है; कम-अधिक सुखी होना नहीं बल्कि अपना और दूसरों का विकास करना मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है; और अपने भाइयों की भलाई के लिए अन्याय एवं अत्याचार के ख़िलाफ़ लड़ना हमारा न केवल अधिकार बल्कि कर्त्तव्य है—समस्त जीवन का महा-कर्त्तव्य—ऐसा कर्तव्य कि पाप-भागी हुए बग़ैर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

[४]

स्त्रियों के अधिकार ? हाँ, उनके भी अधिकार हैं, यदि पुरुषों को कोई अधिकार हों। पुरुषों को मानना चाहिए कि जो बात वे कर सकते हैं, स्त्रियाँ भी वैसा करने की हक़दार हैं—न करें या न कर सकें, यह उनकी विशेष परिस्थिति या बलाबल की बात है; अधिकार का इसमें कोई प्रश्न नहीं है। अधिकार तो अबाध और अ-मर्याद है—दुनिया की कोई ऐसी बात हो नहीं कि जो अधिकार की सीमा में न आ जाती हो, बशर्ते कि उसे करने का सामर्थ्य करनेवाले में हो। अधिकार तो सामर्थ्य का चेला है। Might is Right—'जिसकी लाठी उसकी भैंस', यही अधिकारों का मूल-मंत्र है। देने या लेने का तो अधिकारों के मैदान में कोई सवाल ही नहीं है। हाँ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका, अपने अमली रूप में आने से पहले उनका कर्तव्य की कसौटी पर कसा जाना वांछनीय है, यदि व्यवस्था को हमें क़ायम रखना है।

स्त्रियाँ आज अधिकारों की जो आवाज़ उठा रही हैं, उसे अस्वाभाविक तो कहा ही नहीं जा सकता। पुरुषों के द्वारा उन्हें सहना पड़ा है—और काफ़ी सहना पड़ा है; इसलिए,

इसमें अचरज की भी कोई बात नहीं। परन्तु यह चाहे स्वाभाविक हो, चाहे आश्चर्य की बात न हो, प्रतिक्रिया भी चाहे न हो, फिर भी क्या इसे उचित कह सकते हैं ? स्त्रियाँ अपने अधिकार लें और ज़रूर लें, इससे हमें झगड़ा नहीं; पर शर्त यही है कि केवल अधिकार की दृष्टि से नहीं बल्कि कर्त्तव्य की दृष्टि से भी उसपर विचार करें और कर्तव्य समझ कर ही उसे करें। इस बात की क्या ज़रूरत कि चूँकि पुरुष अमुक काम या बात करते हैं, इसलिए हम भी ऐसा ही करें ? यह तो नक़ल हुई—और नक़ल कभी अच्छी, उत्कृष्टकारक नहीं हो सकती। यह भी याद रखना चाहिए कि नक़ल करना, जिसकी नक़ल की जाती हो उससे, अपना छोटापन स्वीकर करना है। क्या पुरुष भी कभी यह कहते सुने गये हैं कि चूँकि स्त्रियाँ साड़ी पहन कर अच्छी लगती हैं इसलिए हम भी साड़ी पहना करें ? या पुरुषों ने स्त्रियों के ईयरिंग आदि का ही अनुसरण किया है ? यह तो तृष्णा है, जो कि पुरुष और उसके कार्यों को अपनेसे और अपने कार्यों से अधिक श्रेष्ठ एवं सुखकर मानने के कारण हमारी माताओं और बहनों में उठ रही है—और, यह सब जानते हैं, तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती। तृष्णा में विवेक का भी अभाव ही

रहता है। और अधिकार भी, जैसा कि हम पहले देख चुके, विवेक एवं कर्तव्य-ज्ञान के बिना सृष्टि को केवल दुःखमय ही बना सकते हैं, समाज की व्यवस्था तो उनसे नहीं ही चल सकती। अतएव स्त्रियाँ सब-कुछ करें, पर करें विवेक-द्वारा कर्त्तव्य-निरीक्षण के रूप में। जो उन्हें कर्त्तव्य दीखे उसे करें, और जो कर्तव्य न दीखे उसे हर्गिज़ न करें। यही श्रेयस्कर है।

भारतीय आदर्श भी कर्त्तव्यों का ही पुजारी है। अधिकार हैं ज़रूर, पर नैतिक एवं आध्यात्मिक मर्यादाओं से नियंत्रित हैं—अबाध नहीं। संसार के महात्माओं ने भी यही उपदेश किया है। बकौल लालाजी, सब महान् धर्म-सम्प्रदाओं की भी यही शिक्षा है। बुद्ध, ईसा और गाँधी का यही उपदेश है। और नित्य का अनुभव भी हमें यही सिखलाता है। अतएव हम अधिकारों को त्याग तो न दें, पर अधिकार के साथ कर्त्तव्य का भान हमें ज़रूर रहना चाहिए। ऐसा न होने पर अधिकार उच्छृङ्खलता का रूप ले लेता है; और उच्छृङ्खलता एवं स्वच्छन्दता सामाजिक व्यवस्था को केवल अस्त-व्यस्त ही कर सकती हैं।

१७

हमारा लक्ष्य

"यदि पूछा जाय कि एक शब्द में वह लक्ष्य बताओ, जिसको ध्यान में रखने से विद्यापीठों में—क्या पुरुषों के और क्या महिलाओं के—भूल न होगी, तो वह शब्द 'मातृ-पूजा' है।"

—श्री भगवानदास (काशी)

"मैं हृदय से प्रार्थना किया करता हूँ कि और चाहे जिन बातों में हम लोगों को पच्छिम का अनुकरण करना पड़े, 'मैन वर्सेस वूमन', स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता, विरोध, कलह की दुर्दशा भारतवर्ष को न भोगनी पड़े। घर-घर में गौरी और शंकर और गणेश विराजें। रुद्र, काली, भूत-प्रेत-प्रमथगण का देवासुर-संग्राम न मचे।"
—यह वह सामयिक पुकार है, जो पण्डित-प्रवर बा० भगवानदास ने उठाई है। क्योंकि, उन्हींके शब्दों में, "दैव की गति से,अपने पापों के उदय से, भारतवर्ष कुछ काल से पश्चिम के पीछे बँध गया है, और जातीय जीवन के प्रत्येक अंग में यहाँ के नव-शिक्षित सज्जन उसीका अनुकरण करने में देश का भी, अपना भी, कल्याण मानते हैं।"

बा० भगवानदास जैसे विद्वान् भी पश्चिम के अनुकरण की बुराई को अनुभव करने लगे हैं, यही नहीं बल्कि उन्होंने उसके खिलाफ़ आवाज़ भी उठाई है, यह हर्ष की बात है।

उनके मतानुसार, " अवश्य भारत के पतन में स्त्रियों का अनादर हेतु हुआ। × × किन्तु पश्चिम की अन्ध-श्रद्धा और अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। यही शर्त है।"

प्राचीन भारत में स्त्रियों का आदर होता था—ऐसा आदर कि दुनिया में कहीं उसकी समता मिलना मुश्किल है, यह उनके दिये हुए उदाहरणों से झलकता है। पुरुष के नाम के पहले स्त्री का नाम होना—जैसे लक्ष्मीनारायण, सीताराम, पार्वतीशंकर आदि—इसी बात का तो प्रमाण है कि पुरुष से स्त्री को महत्ता दी गई है। लक्ष्मी, सरस्वती, अन्नपूर्णा में सब दुनियवी आकांक्षाओं का समावेश हो जाता है। यही सब बताते हुए उन्होंने कहा है—"यदि पूछा जाय कि एक शब्द में वह लक्ष्य बताओ, जिसके ध्यान में रखने से विद्यापीठों में, क्या पुरुषों के और क्या महिलाओं के, भूल न होगी, तो वह शब्द 'मातृपूजा' है।"

उनका कहना है, "माता शब्द के पूरे अर्थ को मन में बैठाना चाहिए। कितना स्वार्थत्याग, कितना विनयन, कितनी तपस्या सन्तान के हित के लिए इस एक शब्द में भरी है! मातृत्व के आदर से देश में ये सब भाव फैलेंगे। और इनके फैलने से सब पुण्य का और कल्याण का उदय होगा।"

सचमुच यही बात है, जिसकी स्त्री-स्वातन्त्र्य के मार्ग पर बढ़ते समय ध्यान में रखने की ज़रूरत है। मातृ-पूजा के भावों को हृदय में धारण कर हम इस दिशा में कितने ही आगे बढ़ें, हम सुरक्षित रहेंगे; और यदि हमने इसकी अवहेलना की, तो ख़तरा सामने है। उस हालत में विकार के शैतानी भावों को अवसर मिलेगा, और आश्चर्य नहीं कि वे हमपर क़ाबिज़ होकर हमें कहाँ से कहीं बहका ले जायँ। अतः मातृ-पूजा, आदर-पूर्ण मातृ-भाव के लक्ष्य का हममें उदय हो, यही हमारी कामना होनी चाहिए।

परन्तु इसके लिए जहाँ पुरुषों का प्रयत्न वाञ्छनीय है, वहाँ साथ ही स्त्रियों की तदनुरूप तैयारी भी वैसी ही अपेक्षित है। निस्सन्देह हमारी माँ-बहनों को मातृ-रूप धारण करना होगा, सच्चे रूप में अपने अन्दर मातृत्व की भावना प्रस्थापित करनी पड़ेगी, माता के महान् पद के अनुकूल महानता और विशालता अपने हृदय और दृष्टिकोण में लानी होगी; तभी वे पुरुषों की मातृ-पूजा को सफलतापूर्वक निबाह सकेंगी, और तभी पुरुष भी मातृ-पूजा के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित होंगे। यह कहना सरासर ग़लती होगी कि पुरुषों ने अपनेको नहीं गिरा लिया है, स्त्रियों के प्रति पुरुषों के

अन्याय और दुर्व्यवहार का भी हम समर्थन नहीं करते, साथ ही पुरुष के सुधार और सावधानी के भी हम ज़बर-दस्त हामी हैं; परन्तु इसीलिए हम स्त्रियों को भी नीचे गिरते नहीं देखना चाहते—जो बुराई पुरुष करते हैं या करने लगे हैं वही स्त्रियाँ भी करने लगें तो उससे उनकी अपनी दशा तो नहीं ही सुधरेगी, परन्तु सम्मिलित-रूप में समस्त सृष्टि को भी लाभ के बजाय हानि ही होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। बाबू भगवानदास के ही शब्दों में कहें तो, "यह सचमुच बुरा है कि पुरुष स्वार्थी और दुष्ट हैं; परन्तु यदि इसीलिए स्त्रियाँ भी स्वार्थी बन जायँ तो संसार से अच्छाई नष्ट होकर गड़बड़ मच जायगी।" क्योंकि, "यदि पुरुष पृथ्वी का नमक है तो माता सर्वत्र उसका माधुर्य है; यदि वह माधुर्य अपना स्वाद खोदे तो फिर जीवन में मिठास काहेसे होगी?" अतः एक ओर जहाँ पुरुष मातृ-पूजा की तैयारी करें, स्त्रियाँ मातृ-हृदय धारण करने की प्रयत्नशील हों—यही परम-वाञ्छनीय है।

परिशिष्ट

स्त्री-आन्दोलन

"स्त्रियों का आन्दोलन आज संसार की बड़ी-से-बड़ी हलचलों में से एक है और एक ऐसी हलचल है कि जिसके अन्दर संसार-भर के मानव-समाज के जीवन का निर्णय समाविष्ट है।"

—श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

उपोद्घात

स्त्री-आन्दोलन की आज लहर-सी आ रही है। जिधर देखो उधर ही स्त्रियों की कोई-न-कोई हलचल दृष्टिगोचर होती है। ऐसा मालूम पड़ता है, स्त्रियाँ अब चेत गई हैं और अपने उद्देश्य को सिद्ध किये बिना न तो ख़ुद चैन लेंगी और न पुरुषों को ही चैन लेने देंगी। सचमुच स्त्रियों की शक्ति अपार है। जीवन के प्रत्येक अंग में वे विद्यमान हैं। मातृ-रूप धारण करके वे हमें संसार का दर्शन कराती हैं; बहन के रूप में निःस्वार्थ और शुद्ध स्नेह का अमृत बरसाती हैं; और पत्नी के रूप में, अर्द्धाङ्गिनी बनकर, जीवन-पथ को तय करने में हमारी सर्वश्रेष्ठ सहायक—जीवन-सङ्गिनी—बनती हैं। यही कारण है, जो आदिकाल से सृष्टि के उत्थान और पतन में उनका गहरा हाथ रहा है। सृष्टि का वे एक अंग ही नहीं, उसका आधा आधार हैं। अतएव उनकी हलचल भी सृष्टि के आरम्भ से ही चली आ रही हो तो क्या आश्चर्य? और, बात है भी सचमुच ऐसी ही।

स्त्रियों की समस्या भी उसी समय उत्पन्न हो गई, जब कि स्त्रियों की उत्पत्ति हुई और उन्हें अपनेसे भिन्न-वर्गीय पुरुष के बीच रहने का अवसर हुआ। इसीको हल करने के लिए मानों आदिकाल में ही समाज-रचना की धुन सवार हुई—फिर वह रचना आज की अपेक्षा कितनी ही भिन्न, और हम 'उन्नत' लोगों की निगाह में अपूर्ण, क्यों न हो। फलतः पुरुष जैसे अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए युद्धादि नाना प्रयत्न करते रहे, वह

सम्भव नहीं कि स्त्रियाँ भी अपनेको प्राप्त साधन और परिस्थिति के अनुसार कुछ-न-कुछ हलचल न मचाये रही हों। क्योंकि, असन्तोष मानव-हृदय का एक सामान्य गुण है; और अपनी स्थिति में सुधार की आकांक्षा तथा उसके लिए हलचल साधारण नियम और मुख्य लक्षण। यह बात दूसरी है कि अपने प्रयत्न में सफलता कितनी और किस हद तक मिलती है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रयत्न सब करते हैं और करते रहते हैं, यदि दुनिया में रहना चाहें—विरक्त बनकर दुनिया से अलग न जा बैठें। और भला स्त्रियाँ ही क्यों इसका अपवाद हों? यही कारण है कि स्त्रियों की हलचल भी शुरू से ही चली आ रही है—यह दूसरी बात है कि कभी वह किसी रूप में और कभी दूसरे रूप में रही है और समय-समय कम-ज़्यादा होती रहती है।

आदिमकाल का तो कहना ही क्या, जबकि न तो सभ्यता का उदय हुआ था और न समाज-सङ्गठन का ही कोई ठीक-ठिकाना था। ईश्वर की देन—जैसा क़ुदरत के द्वारा भगवान ने सृजा था, उसी स्वाभाविक अवस्था में, स्त्री-पुरुष सब रहते थे और पशुओं की भांति अपना काल-यापन करते थे। परन्तु फिर उनमें सभ्यता का बीज-वपन हुआ और समाज-संगठन की नींव पड़ी। पुरुष और स्त्री, मूल में एक पर सृष्टि में भिन्न-वर्गीय होने के कारण, स्वभावतः उसके मुख्य आधार एवं अंग बने—और, सामञ्जस्य (Harmony) बना रहने के लिए, यह आवश्यक हुआ कि समाज के ये दोनों अंग परस्पर-विरोधी न बनकर एक-दूसरे के सहायक हों। और अनुशासन संगठन का आधार ठहरा, अतएव यह अनिवार्य हुआ कि दो में से किसी एक अङ्ग को दूसरे पर प्रधानता रहे। पुरुष चूँकि शारीरिक दृष्टि से स्त्री से श्रेष्ठ है, वह बलिष्ट है और उसकी प्रकृति भी स्त्री से अपेक्षाकृत बाह्य-प्रधान एवं उग्र है, अतएव उसे बाहरी दुनिया का शासन मिला; और स्त्री चूँकि क़ुदरतन कोमल है, दया-माया की गुण-प्रधान तथा स्थिति-पालक एवं स्थिरता-प्रधान (घरेलू) और शान्त है, अतः वह गृह की रानी

रानी। काम दोनों के हिस्से आया; पर सृष्टि के विकास में स्त्री जहाँ बीज को धारण कर उसकी रक्षा और वृद्धि करने वाली एवं भावी सृष्टि की पोषण-कर्त्ता हुई, तहाँ पुरुष उस बीज का बोने वाला और उसकी वृद्धि-पोषण के साधन जुटाने वाला होने के सबब तथा बाहरी दुनिया से टक्कर लेने वाला होने की वजह से स्वभावतः उसका संरक्षक अतएव उसपर कुछ हावी हुआ। भीतरी क्षेत्र—गृह—में तो अवश्य रानी का ही शासन रहा; पर बाहरी दुनिया में राजा ही प्रधान हुआ। आलंकारिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं, एक गृह-सचिव हुआ और दूसरा पर-राष्ट्र-सचिव। सृष्टि-विकास के लिए दोनों ही के काम समान-रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु फिर भी एक को घर में ही रहना पड़ा और दूसरे को बाहर के स्पर्श में रहना आवश्यक हुआ, अतः बाहरी साधनों का एक-छत्र अधिपति एवं बल-प्रधान और शासकवृत्ति होने के कारण पुरुष किसी क़दर स्त्री पर हावी हो गया। फलतः स्त्री के प्रति पुरुष के भाव और व्यवहार का प्रश्न ही स्त्रियों के लिए एक ख़ास बात हो गई। वही मानों आरम्भ की उनकी समस्या हुई; और आज भी, किसी-न-किसी रूप में, उनकी समस्या का मुख्य प्रश्न वही है।

प्राचीन काल

आधुनिक विचारों का जन्मस्थान यूरोप है और यूरोप का प्राचीनतम सभ्य देश यूनान माना जाता है। वहाँ के प्राचीन उच्च साहित्य (Classical Literature) की बड़ी ख्याति है। उसमें स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का जो वर्णन है, उसका यदि हम ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो उस समय के स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दृष्टि-कोण को मोटे तौर पर हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) पहला काल तो ईसा के लगभग १००० से ७०० वर्ष पूर्व का—अर्थात्, प्राचीन प्रवासों और आक्रमणों का काल (Greek Viking Age)।

(२) दूसरा ईसा के ७०० से ४०० वर्ष पहले का—अर्थात्, स्थिरता और सर्वोच्च संस्कृति का काल (Greek Classism) ।

(३) तीसरा तबसे रोमन प्रभुत्व के समय तक—अर्थात्, ईसा के ४०० से १०० वर्ष पहले का काल (Hetrogeneous) ।

इनमें पहला काल तो स्त्री के प्रति पुरुष के वीर-भाव के लिए प्रसिद्ध है । होमर के महाकाव्य 'ओडेसी' और 'ईलियड' में इसकी झलक है । इसमें शक नहीं कि स्त्री सब तरह पुरुष के अधीन रहती थी; किन्तु आम तौर पर उसके साथ वीरों की तरह, बहादुराना, बर्त्ताव होता था और उसकी इज्ज़त की जाती थी । नीत्शे के ये शब्द मानों उस समय का हूबहू चित्रण हैं—"पुरुष युद्ध के लिए शिक्षा पायगा और स्त्री योद्धा के मनोरंजन के लिए; और सब प्रमाद है ।" वह युद्धों का ही ज़माना था, दैनिक जीवन की वे मानों साधारण चर्या ही न हों, अतः उस समय ऐसा ही आदर्श सामने रहा हो तो क्या आश्चर्य ?

दूसरा काल स्थिरता और सर्वोच्च संस्कृति का काल है। शायद इसी धुन में स्त्रियों की इतनी अवज्ञा हुई कि उनसे घृणा भी की जाने लगी । इसीलिए शायद यह काल स्त्री के प्रति घृणा-भाव के लिए प्रसिद्ध है । इस काल में स्त्रियों के प्रति पुरुषों के भाव बड़े विचित्र हो गये थे । अमोरगा का साइमोनाइड्स कहता है—"ईश्वर की अबतक की कृति में स्त्रियाँ ही सबसे बड़ी बुराई हैं । यदि किसी समय वे उपयोगी भी प्रतीत होती हैं, तो भी शीघ्र ही वे अपने स्वामियों के लिए कष्टकर बन जाती हैं । किसी स्त्री के साथ रहने वाला पुरुष कभी भी पूरा दिन शान्ति से, बिना किसी झगड़े-टण्टे के, नहीं बिता सकता; यहाँ तक कि अपने सबसे बड़े दुश्मन, क्षुधा, को भी सरलता से वह घर से बाहर नहीं हँकाल सकता । और ज्योंही कभी पुरुष अपने घर में सुखी होने का इरादा करता है—ईश्वर की कृपा से कहो या मनुष्यों की मदद से—स्त्री हमेशा शिकायत का कोई-न-कोई बहाना ढूँढ ही निकालती है और लड़ने को कटिबद्ध हो जाती है ।

और अगर आपके पत्नी हो, तब तो बग़ैर किसी आपत्ति के भय के आप किसी अतिथि को निमंत्रण भी नहीं दे सकते।" यही नहीं, उसने स्त्रियों को दस क़िस्मों में बाँट कर गधा, लोमड़ी, कुत्ता आदि से उनकी उत्पत्ति बतलाई है। उसके कथनानुसार, सिर्फ़ एक प्रकार की स्त्रियाँ ऐसी हैं कि उनको जो पावे वही भाग्यवान है; और उनकी उत्पत्ति होती है मधुमक्खी से। एक दूसरे साहब (हिप्पोनेक्स महाशय) कहते हैं—"जीवन-भर में सिर्फ़ दो दिन ऐसे हैं कि जब आप अपनी पत्नी से आनन्दित होते हैं—एक तो उसके पाणिग्रहण पर और दूसरे उसकी मृत्युशय्या पर।" और आयोनियन्स ने तो यहाँ तक लिखा है कि स्त्रियाँ किसीकी वफ़ादार हो नहीं हो सकतीं। उन्होंने ऐसी-ऐसी कहानियाँ(Stories from Miletus) लिखी हैं, जिनसे यही ज़ाहिर होता है कि मौक़ा मिला नहीं कि स्त्री तुरन्त प तिको चकमा देकर पाप की ओर अभिमुख करती है। इसी लिए शायद स्त्रियों को उस समय कठोर नियंत्रण में, परदे के अन्दर, रक्खा जाता था, ताकि विश्वासघात और चरित्रहीनता की गुंजाइश ही न रहे; और इसकी सज़ा भी बड़ी कठोर थी। सुस्ती और लोभीपन पुरुषों की निगाह में उनका सबसे बड़ा अपराध माना जाता था। पुरुष स्त्रियों पर कड़ा नियंत्रण रखते थे, प्रोफ़ेसर हीबर्ग के कथनानुसार, शायद उसीका बदला वे उनके जीवन को जितना भी हो सके असुविधाजनक बना कर लेतीं थीं।

तीसरे काल में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो भाव-व्यवहार रहा, उसमें घृणा और वीरता का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है। इसीलिए इसे अर्द्ध-वीरत्व और अर्द्ध-घृणा (Semi-heroic, Semi-misogynic) का काल कहते हैं और मध्ययुग पर भी इसकी छाप है—उसका मूल ही वस्तुतः इसमें है। हेरोडोटस, थूसीडाइडीज़ और पेरीक्लीज़ इस समय के महान् राजनीतिज्ञ एवं इतिहासकार हुए हैं। स्त्रियों के प्रति ये वीर-भाव रखते थे; किन्तु इन्होंने उनका कोई ख़ास उल्लेख नहीं किया। क्योंकि, इनके मतानुसार, राजनीति स्त्रियों का नहीं पुरुषों का काम था।

पेरीक्लीज़ के शब्दों में कहें तो, "स्त्री की सबसे बड़ी प्रतिष्ठा इसमें नहीं है कि जिस स्थिति के लिए प्रकृति ने उसे उपयुक्त बनाया है उससे नीचे गिरे; और सबसे अच्छी स्त्री वही है, जो निन्दा या स्तुति किसी भी बात के लिए पुरुषों की ज़बान पर कम-से-कम आती हो।" प्लेटो इस समय का महान् दार्शनिक हुआ है। उसकी लिखी सोफ़ोक्लीज़ की कथा मशहूर है। उस प्रसिद्ध कवि और सेनाध्यक्ष से जब उसके बुढ़ापे में पूछा गया कि प्रेम के बारे में दरअसल उसके क्या विचार हैं, तो उसने जवाब दिया—"हिश! मैं तो खूब बचा; और ऐसा अनुभव करता हूँ, जैसे कोई गुलाम अपने बुरे मालिक से मुक्त हो गया हो।" कुछ ही शब्दों में कहें तो अर्द्ध-वीरत्व और अर्द्ध-घृणा के भाव को यों व्यक्त कर सकते हैं—'स्त्रियाँ और उनके प्रति पुरुष का प्रेम एक आवश्यक बुराई है, जिससे एक असली मर्द जहाँ तक हो थोड़े ही शब्दों में अपना छुटकारा कर लेता है; क्योंकि स्त्रियों का जितना गुण-गान (fuss) करो उतनी ही असहिष्णु वे बनती जाती हैं।' प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू भी इसी समय में हुआ। उसके शब्दों में कहें तो, "पति और पिता अपनी पत्नी और बच्चों पर शासन करते हैं, जो सब स्वतन्त्र हैं (अर्थात् गुलाम नहीं हैं), किन्तु उनके शासन के प्रकार विभिन्न हैं—बच्चों पर तो पूर्ण शासन है पर पत्नी पर वैध। क्योंकि चाहे प्रकृति के नियमों में अपवाद भी क्यों न हों, पर पुरुष प्रकृत रूप में स्त्री की अपेक्षा नेतृत्व (Command) के अधिक उपयुक्त है—जैसे कि बड़े-बूढ़े और वयस्क लोग अपनेसे छोटे तरुणों और अपरिपक्व व्यक्तियों से श्रेष्ठ, ऊँचे दर्जे के, होते हैं।" और "ऐसी किसी भी मैत्री में, जिसका आधार उच्चता या श्रेष्ठता पर हो, उस उच्चता के अनुसार श्रद्धा-भक्ति भी चाहिए ही। अर्थात् जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, या अधिक उपयोगी है, अथवा ऊँचे दर्जे का है, उसे अपनेसे नीचे दर्जे वाले से उसकी बनिस्वत ज़्यादा श्रद्धा-भक्ति पानी ही चाहिए (वह पाने का हक़दार है), जितनी कि वह स्वयं उसे प्रदान करता है।"

इसके बाद यूनान का पतन होकर रोम-निवासियों की सत्ता स्थापित हुई। रोम-साम्राज्य, आधुनिक विज्ञान-युग के पूर्व, यूरोप का अत्यन्त समुन्नतकाल माना जाता है। रोम-साम्राज्य से ही यूरोप में सार्वजनिक व्यवस्था और संगठन का आरम्भ हुआ बताते हैं। रोम की प्रधानता के समय में स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस प्रश्न पर विचार करते हुए कुमारी यूजिन ए० हेकर लिखती हैं—"स्त्री से इस बात की आशा की जाती थी कि वह यावज्जीवन अपने पिता, पति या अन्य संरक्षक के अधीन रहेगी और बिना उनकी आज्ञा के कुछ न करेगी। निस्सन्देह प्राचीन काल में यह अधिकार इतना बड़ा था कि बिना सार्वजनिक रूप से स्त्री का न्याय हुए पिता या पति, कुटुम्ब के लोगों की राय लेकर, उसकी हत्या कर सकते थे।" और "स्त्रियों पर संरक्षण की इतनी पराधीनता का कारण," उनके लेखानुसार, "यह था कि वे 'स्वभाव की चञ्चल होती थीं,' 'शरीर से निर्बल होती थीं,' और 'राजनियमों से अनभिज्ञ होती थीं'।" रोम-साम्राज्य के वैवाहिक नियम वह इस प्रकार बतलाती हैं—"समस्त दक्षिणी देशों की भाँति—जहाँ स्त्रियाँ कम आयु में ही युवती हो जाती हैं—रोम में भी बालिकाओं का प्रायः कम आयु में ही विवाह कर दिया जाता था। रीति के अनुसार बारह वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर वे विवाह के योग्य समझी जाती थीं। प्राचीनकाल में तीन भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा स्त्रियाँ पत्नी बनाई जाती थीं—(१) विक्रय-प्रहसन द्वारा। (२) शपथ द्वारा। यह विवाह एक विचित्र संस्कार के साथ होता था और जो इस रीति से विवाह करते थे वे स्त्री-पुत्र समेत पादरी होने के योग्य समझ लिये जाते थे। (३) कुछ समय तक एकसाथ निवास द्वारा। इस नियम के अनुसार कोई भी स्त्री किसी मनुष्य की पत्नी समझ ली जाती थी, यदि वह उसके साथ एक वर्ष पर्यन्त रह लेता था और इस समय के भीतर वह एक के बाद दूसरी, ऐसी तीन रातों से अधिक के लिए उससे पृथक् नहीं होती थी।" इस प्रकार, 'रोम वालों के यूरोप में स्त्री केवल विलास की सामग्री-

मात्र थी।' ईसा के पवित्र धर्म का उदय हुआ, परन्तु "ईसाई-धर्म के विचारों से स्त्रियों का स्थान ऊँचा उठाने में बिलकुल सहायता नहीं मिली। कुमारी हेकर ने लिखा है कि जेनेसिस के मतानुसार स्त्री ही मनुष्य-जाति के पतन का कारण है। सेण्ट जेरोम का यह कहना था कि सब प्रकार की बुराइयाँ स्त्री से ही उत्पन्न होती हैं। सेण्ट आगस्टिन का तर्क यह था कि पुरुष ने तो परमात्मा की आकृति पाई है, परन्तु स्त्री ऐसी नहीं है। वह कहता है कि 'स्त्री को अपने पति पर शासन करने की आज्ञा नहीं है; वह साक्षी नहीं दे सकती, ज़मानत नहीं कर सकती और न कचहरी का कार्य कर सकती है।' पितागण इस बात पर अधिक ज़ोर देते हैं कि बेटियाँ अपने माता-पिता की आज्ञा के विरुद्ध जो विवाह करती हैं, वह विवाह नहीं, व्यभिचार है।"

इसके बाद हम इतिहास के उस काल में प्रवेश करते हैं, जो मध्ययुग के नाम से प्रसिद्ध है। और उसमें हम क्या पाते हैं?

मध्ययुग

मध्ययुग, यूरोपीय इतिहास का, वह समय है, जब ईसाई-धर्म अपनी जड़ जमा चुका था और सारे यूरोप में ज़ोरों के साथ उसका प्रसार हो रहा था। धर्माचार्य पोप की सत्ता इसी समय बढ़कर राजशक्ति की स्पर्धा करने लगी थी, और इसी समय उसका एकच्छत्र अधिकार बढ़कर अपनी चरम-सीमा पर पहुँचा था। यहाँतक कि अन्त को उससे उकता कर यूरोप को 'रिफ़ार्मेशन-पीरियड' का आवाहन करना पड़ा था। अस्तु।

मध्ययुग में भी और नहीं तो क़ानूनन तो स्त्री पिता, पति या अन्य संरक्षक के उसी प्रकार अधीन रही, जैसे कि प्राचीन काल में। जहाँतक स्त्री से सम्बन्ध है, सृष्टि में उसे सदैव द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। हर हालत में, मध्ययुग में, इस बात की बड़ी सावधानी रही है कि उसे शक्ति तो दूर, किसी प्रकार का अधिकार भी न दिया जाय—सिवा उसके

सङ्कुचित गृह-क्षेत्र के, जिसके अन्दर, दूसरी ओर, उसे पूरा सम्मान प्राप्त था। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकालीन व्यक्तियों ने स्त्रियों का ख़याल हर तरह रक्खा। वह इस प्रकार कि इससे पहले स्त्रियों के पुरुषों के अधीन होते हुए भी पुरुषों पर यह ज़िम्मेवारी न थी कि वे उनकी रक्षा-परवरिश करें ही, मध्यकाल में क़ानून-द्वारा पुरुष रिश्तेदारों पर निश्चित रूप से यह भार डाल दिया गया।

परन्तु मध्यकाल की असली समस्या तो ख़ास तौर पर स्त्री-पुरुषों की जन-संख्या की असमता (Disproportion) ही रही है।

उस समय के पूरे अङ्क मिलना तो सम्भव नहीं; परन्तु जो भी अधूरे अङ्क मिलते हैं उनसे प्रकट होता है कि मध्यकाल में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से इतनी बढ़ी, जितनी वर्त्तमान काल में कभी नहीं सुनी गई—यहाँ तक कि जो यूरोपीय महासमर लाखों-करोड़ों पुरुषों के संहार के लिए विख्यात है उसके बाद भी इतनी असमता तो नहीं हुई। जो कुछ अङ्क प्राप्त हैं, स्वभावतः वे शहरों की ही आबादी के हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि चौदहवीं सदी के अन्त में मुख्यतः शहरों की आबादी में स्त्री-पुरुषों का अनुपात ११० : १०० से लेकर १२५ : १०० तक था; और वयस्क, विवाह-योग्य आयुवाली, स्त्रियों का औसत तो ख़ास तौर पर पुरुषों से सामान्यतः २० सैकड़ा अधिक (अर्थात् १२० : १००) था। आजकल आम तौर पर यह अनुपात १०५ : १०० है, अर्थात् अधिकांश यूरोपीय देशों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ५ सैकड़ा अधिक हैं। यहाँ तक कि जिन देशों की यूरोपीय महा-समर में सबसे अधिक बर्बादी हुई है, जैसे जर्मनी और फ्रांस, उनमें भी स्त्रियों की वृद्धि १० सैकड़ा से अधिक नहीं हुई। रूस का अपवाद ज़रूर माना जाता है, पर वहाँ भी स्त्रियों की १६ सैकड़ा से अधिक ज़्यादती नहीं है, जो कि मध्यकाल की स्त्री-वृद्धि के अनुपात से कहीं कम अनुपात। अतः उस समय यह समस्या कितनी भयावह रही होगी, कि इन अतिरिक्त स्त्रियों का क्या किया जाय, यह कहने की ज़रूरत नहीं।

स्त्रियों की इस वृद्धि के मुख्य कारण ये बताये जाते हैं:—

(१) उस समय अक्सर संग्राम और गृह-युद्ध (Feuds) होते रहते थे, यात्राओं और उनमें भी ख़ास कर समुद्री यात्रा में जान-माल के संरक्षण की कोई व्यवस्था न थी, और पुरुषों को ही ख़ास कर इन दोनों बातों का सामना करना पड़ता था; अतः उनपर ही इन ख़तरों का असर हुआ।

(२) प्लेग या ताऊन की महामारियाँ इस समय अक्सर होती रहती थीं, और उनमें पुरुषों का स्त्रियों से अधिक मरना स्वाभाविक ही है; क्योंकि पुरुष शारीरिक बल में स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं, और उस समय आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों के अभाव में शारीरिक श्रम अधिक करना पड़ता था, जो सामूहिक रूप में पुरुषों ही के हिस्से आता था।

(३) तीसरा कारण माना जा सकता है पुरुषों का हिंसात्मक व्यवहार और असंयम—ख़ासकर शराब पीने में।

यह कहा जा सकता है कि ये कारण तो प्राचीन काल में भी थे तो फिर तब क्यों न स्त्रियों की संख्या बढ़ी, मध्यकाल ही में क्यों ऐसा हुआ? इसका जवाब यह है कि प्राचीन काल में अक्सर नवजात कन्याओं का वध करके, जैसा कि अब भी कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत प्रचलित है, अथवा किसी-न-किसी रूप में बहुविवाह क़ायम रखकर उस वृद्धि को सुलझा लिया जाता था; और सभ्यता की वृद्धि के साथ, मध्ययुग में, ऐसे जंगली-पन में किसी हद तक कमी हो जाना स्वाभाविक ही था—हालां कि यह नहीं कह सकते कि उस समय ऐसा होना बिलकुल बन्द ही हो गया था। जो हो, यह निश्चित है कि उस समय स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बहुत काफ़ी बढ़ गई थी और सवाल ज़ोरों से दरपेश था कि इनके गुज़ारे की क्या व्यवस्था हो, जिससे समाज-श्रृङ्खला में कोई गड़बड़ी न पड़े?

ख़ुशी की बात है कि उस समय कुटुम्ब का भाव ज़ोरों पर था, और क़ानून ने पुरुष रिश्तेदारों पर अपने अधीन स्त्रियों का दायित्व डाल ही दिया

था। अतः बहुत-सी स्त्रियों ने तो अपने भाई, बहनोई आदि के ही यहाँ शरण पाई। कह सकते हैं कि आजकल की स्वावलम्बी स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने भाई-बहनोइयों पर हुकूमत-सी चलाती हैं वह स्थिति उन परावलम्बी स्त्रियों की नहीं हो सकती, और वास्तव में थी भी नहीं; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आज की अपेक्षा ममत्व, अपनेपन का भाव, उनमें अधिक होता था, और स्वयं भी उस घर में रमी होने से अपने भाई-बहन की सन्तति को भी वे अपनी-सी ही समझ कर उसी प्रकार उनके उत्कर्ष में भागीदार बनती थीं, जैसे स्वयं उनकी माता—और, इस प्रकार दुहेरा मातृ-स्नेह पाकर, सन्तति अच्छा ही असर पाती थी। साथ ही उनके सादा रहन-सहन और निःस्वार्थ स्नेह-सेवा से बालक में सादगी-सरलता और शुद्ध स्नेह के ही भावों का उदय होता था, जो कि आज की स्थिति में सम्भव नहीं। आज तो स्वावलम्बी भुआ-मौसी अपने भतीजे-भानजों में, अपने आदर्श और व्यवहार के द्वारा, फ़ैशन और विलासिता के ही प्रभाव ही डालती हैं।

फिर उस समय मशीनों का चलन न था, अतः काम करने के लिए धन्धे भी अनेक थे। यह ज़रूर है कि व्यापार-मण्डलों में व्यापारिक नियमों के अनुसार पुरुषों का ही प्रवेश था, परन्तु व्यवहार में स्त्रियाँ अपने पति आदि के लगभग सभी धन्धों में कम-ज़्यादा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकती थीं। तथापि सबसे महत्वपूर्ण जिन धन्धों में हम मध्यकालीन स्त्रियों को लगा हुआ पाते हैं, वे हैं—ऊनी तथा सूती कपड़े की बुनाई, वेणी-बन्धन (बाल सँवारना), सिलाई, चमड़े की कमाई और काट-छाँट आदि, कसीदा, सुनारी, गोटा इत्यादि। इसके अलावा कुछ धन्धे ऐसे हैं, जिनमें स्त्रियों को नियमों की कोई बाधा न थी और स्त्रियों के लिए पूर्णतः खुले—जैसे नौकरानी का काम, बाज़ार से सौदा-सुद लाना-लेजाना, नहलाना-धुलाना, नक़ल करना, गाना-बजाना इत्यादि। दाई, पोर्टर आदि के काम तो वे करती ही थीं, पर स्त्रियों के चिकित्सक होने तथा पढ़े-पढ़े

आदमियों को अच्छा करके कर की माफ़ी तथा अन्य सन्मान पाने के प्रमाण भी मिलते हैं। यही नहीं प्रत्युत् उस समय की स्त्रियों के जासूसी-विभाग की नौकरी करने के उदाहरण भी उपलब्ध हैं, जैसा कि हाल के यूरोपीय महायुद्ध में हुआ था।

परन्तु ये धन्धे कितने ही क्यों न हों और उनमें स्त्रियों के प्रवेश की गुंजाइश भी चाहे जितनी दिखाई दे, फिर भी मध्यकाल की स्त्रियों की समस्त बहुसंख्या का हल उनसे सम्भव न था। साथ ही उस समय की तमाम औद्योगिक नीति की जड़ यह थी कि सब क्षेत्रों में पहले पुरुष को प्रवेश मिले और स्थानिक आवश्यकताओं से अधिक नौकर न रक्खे जायँ। फिर यह भी ध्यान रखने की बात है कि यंत्रों से नहीं किन्तु हाथों से और शरीर-शक्ति के बूते ही काम होता था, अतः प्रत्येक धन्धे में एकसाथ एक-दो से अधिक सहायकों की—काम करने वालों की—ज़रूरत भी न रहती थी; और एक ही जगह साथ-साथ सब स्त्रियों का काम करना, जैसे आजकल फ़ैक्टरी-सिस्टम में होता है, उस समय बड़े-बड़े शहरों में भी सम्भव न था। अतः इन सब काम-धन्धों के बाद भी बहुत-सी विधवाओं और अनाथाओं का शेष रह जाना स्वाभाविक था—और थोड़े-थोड़े समय में उग्र संक्रामक महामारियों तथा समय-समय होते रहनेवाले संग्रामों एवं गृहयुद्धों से यह संख्या और बढ़ती ही रही।

निश्चय ही यह समस्या बड़ी टेढ़ी समस्या थी, परन्तु फिर भी इसका सामना किया ही गया। इसके लिए ख़ास तौर पर जो उपाय अमल में आये, संक्षेप में वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) ऐसे विहारों (Nunneries) की स्थापना हुई, जिनमें संसार से विरक्त स्त्रियों ने आश्रय गृहण किया। ये स्त्रियाँ परिव्राजिकायें (Nuns) कहलाईं और इनकी वृत्ति बहुत-कुछ संन्यस्त-वृत्ति-सी समझनी चाहिए। तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में इनकी संख्या बहुत बढ़ी थी।

(२) सभी स्त्रियाँ संसार-विरक्त ही हो जायँ, ऐसा सम्भव न था।

अतः ऐसे गृहों की भी स्थापना हुई कि जिनमें वे स्त्रियाँ रह सकें, जो अकेली-दुकेली हों और जिनकी वृत्ति ज़्यादा वैरागीपन की न हो तथा जिनमें लौकिकता का आधिक्य हो। उस समय के दानियों की उदार सहायता से मध्यकाल के अधिकांश समय में ऐसे गृहों की स्थापना हुई।

(३) चूँकि उस समय विलासिता का ज़ोर न था और रहन-सहन सादा तथा कम-ख़र्चीला था; इसलिए ऐसे लोग भी कम न होते थे, जो इतनी सम्पत्ति छोड़ कर मरते थे कि अगर ढंग से चलें तो उनकी विधवायें या अविवाहित लड़कियाँ मामूली तौर पर उससे अपना गुज़र कर सकती थीं। इसके लिए उन्हें सुविधा भी थी। अपने यहाँ के मठ (Convent) या म्युनिसिपैलिटी में उस रक़म को जमा कराकर अपनी मृत्यु-पर्यन्त वे कुछ बँधी रक़म पाती रह सकती थीं।

(४) बहुत-सी स्त्रियों ने आपसी भाई-चारे का भी उपयोग किया। अलग-अलग रहने में कितने झंझट व कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, इसका ख़याल कर अनेक निराश्रय स्त्रियाँ अपनी ऐसी ही साथिनों के गुट बना-बना कर एकसाथ रहने और संसार-यात्रा तय करने लगीं। इससे उनकी कठिनाइयाँ और असुविधायें घट गईं। होते-होते, आगे चलकर, यह क्रम भगिनीवाद (Sisterhood) में परिणत हो गया। उनका एक निश्चित दर्जा बना और उसके सदस्यों के पारस्परिक कार्यों का नियंत्रण एवं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। पन्द्रहवीं सदी में तो इसे बहुत बल मिला, और इसके थोड़े-बहुत अवशेष तो अद्यपि क़ायम हैं।

(५) जो स्त्रियाँ बिल्कुल अकेली और निराश्रय रहीं, उनके लिए तेरहवीं सदी में 'ईश्वरी-गृहों' (God's houses) तथा आश्रमों (Beguinages) की स्थापना हुई। इनकी शुरुआत सबसे पहले जर्मनी में हुई और फिर बेलजियम, हालैण्ड इत्यादि में भी इनका प्रसार हो गया। धनी स्त्री-पुरुषों द्वारा दिये गये दान तथा अपनी मृत्यु पर इनके लिए

छोड़ी गई सम्पत्ति से इनका संचालन होता था और ग़रीब, अनाथ एवं निस्सहाय स्त्रियाँ इनमें आश्रय पाती थीं।

(६) कुछ स्त्रियों का आवारा रहना भी निश्चित ही हैं। मध्यकाल के अख़ीर में तो इनकी संख्या बहुत बढ़ चली थी। इनमें वेश्याओं का तो समावेश हैही, परन्तु सेनाओं के साथ भी काफ़ी ऐसी स्त्रियाँ रहती थीं। यहाँ तककि लड़ाई के मैदान में भी, पैदल ही नहीं बल्कि घुड़सवार सेना के साथ भी, ऐसी स्त्रियाँ मौजूद रहती थीं। उत्तरार्द्धकाल में हम इनके उद्धार के लिए रक्षा-गृहों की स्थापना होते हुए भी पाते हैं; परन्तु उनका असर कहाँ तक हुआ, यह कहना कठिन है।

इस प्रकार इन हलचलों के द्वारा एक ओर तो स्त्रियों ने अपनी संख्या-वृद्धि की समस्या को हल करने की कोशिश की, दूसरी ओर परिव्राजिकाओं और भगिनियों ने समाज-सेवा की दिशा में भी क़दम बढ़ाया। परन्तु इस अच्छाई के साथ हम कुछ बुराई भी मिली हुई पाते हैं। जो संस्थायें शुरू में अच्छाई के लिए बनी थीं, आगे जाकर जैसे-जैसे उनकी स्थिति जमती गई स्त्रियों को अधिकाधिक अवकाश मिलने लगा और आर्थिक चिन्ता भी कम होती गई। फलतः पतन का प्रारम्भ हुआ। हम देखते हैं कि मध्यकाल में धर्म एवं धार्मिकता पर ज़ोर दिये जाने पर भी उक्त आश्रमों आदि पर उसका विशेष ज़ोर न रहा, उनमें से ज़्यादातर हमेशा लौकिक संस्थायें ही रहीं। फलतः उनमें संयम की मात्रा कम होने लगी और नाच-गान, भोग-विलास के सभी अवसरों पर आश्रमवासिनियाँ न केवल उपस्थित ही रहने लगीं बल्कि उनमें प्रमुख भागीदार भी हुईं। और एक बार गिरी नहीं कि फिर गिरती ही चली गईं। यहाँतक कि आगे जाकर कहीं-कहीं वेश्याओं में ही उनकी गणना होते हुए भी हम पाते हैं।

वेश्याओं के प्रति इस काल में निम्न और अपमानपूर्ण व्यवहार नहीं होता था। पतित की अपेक्षा उन्हें किसी क़दर दुर्भागी, चपल और गुम-राह जीव माना जाता था; और एक आवश्यक बुराई के रूप में उन्हें सहन

किया जाता था, जिसने हर हालत में बड़ी बुराइयों से लोगों को बचाया। वेश्याओं के पास जाना या रखेली रखना अपमान की बात न थी। परन्तु वेश्यावृत्ति पर नियंत्रण रक्खा जाता था। उन्हें प्रायः नगर के किन्हीं निश्चित मकानों में रहना पड़ता था। उन्हें बलात्कार से बचाने के लिए कड़े नियम थे; और वहाँ होने वाले सब जुर्मों पर दुहेरी सख़्ती से सज़ा दी जाती थी। घूमने-फिरने और चर्च जाने की उन्हें आज़ादी मिली हुई थी। कभी-कभी उनके सार्वजनिक स्नानों की भी व्यवस्था की जाती थी। साथ ही कोई-न-कोई रोज़ी भी (Employment) उन्हें दी जाती थी। 'उल्म' में उन्हें एक निश्चित परिमाण में नियमित रूप से सूत कातना पड़ता था, अन्यथा २ हेलर देने पड़ते थे। मकान-मालिक को इससे दुगुनी रक़म उसमें शामिल करनी पड़ती थी और फिर इस प्रकार एकत्र हुई रक़म से उनमें की बीमार और बेरोज़गार स्त्रियों की मदद की जाती थी। गुप्त व्यभिचारिणियों पर ये कड़ी नज़र रखती थीं, क्योंकि उनसे इनके रोज़गार को धक्का लगता था। इनकी सामाजिक स्थिति आज की अपेक्षा उस समय भिन्न थी। समस्त सार्वजनिक समारोहों में इन्हें निमंत्रित किया जाता था और अन्य आमंत्रितों के समान ही इन्हें भी स्थान मिलता था। ग़ैर-सरकारी समारोहों में भी ये उपस्थित रहतीं और नाचतीं व शुभ बधाइयाँ गाती थीं, जिसपर इन्हें बख़्शीशें मिलती थीं। राजकुल के व्यक्ति जब नगर घूमने निकलते, तो इनके चकले सजाये जाते थे; और कभी-कभी तो सरकारी ख़र्चे से इन्हें नई पोशाकें भी प्रदान की जाती थीं। सन् १५१६ तक ज़्यूरिच में यह रिवाज था कि जब कोई विदेशी राजदूत वहाँ आता तो वहाँ के मेयर, शेरिफ़ तथा वेश्याओं के साथ उसे दावत खानी पड़ती थी। इन बातों पर हम कितना ही नाक उठावें, पर असल बात यह है कि मध्यकाल में, कम-से-कम बारहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक तो ज़रूर ही, इन बातों को अपने नियंत्रण में रखने का प्रयत्न किया गया था। यही कारण है कि उस समय की जन-संख्या के परिमाण में बहुत कम स्त्रियाँ इसमें फँसीं। अधिकांश नगरों

में २-३ ही वेश्यायें रहती थीं; और ज़्यादा-से-ज़्यादा जो संख्या कहीं मिलती है, वह १५ है। अर्थात् ८००० से ९००० आबादी वाले मध्यकालीन नगर में आम वेश्याओं की संख्या ज़्यादा-से ज़्यादा २० से ३० तक ही होती थी। फिर मध्यकाल में इन पतित बहनों को सुधारने के भी अनेक प्रयत्न हुए, खास कर पादरियों के द्वारा। १२२५ में रुडोल्फ़ नाम के एक पादरी ने ऐसी कुछ स्त्रियों को सदाचार की ओर परिवर्त्तित करके एक नियमित आश्रम (Beguinage) में एकत्र किया था। अन्य वेश्याओं ने जवाब दिया—"महाशय, हम ग़रीब और कमज़ोर हैं; और किसी तरह हम अपना निर्वाह कहीं कर सकतीं। हमें रोटी और पानी दो तो हम खुशी से तुम्हारा आदेश मानेंगी।" दो साल बाद रुडोल्फ़ महाशय ने ऐसा भी कर बताया। पोप से चिट्ठी प्राप्त की, जिसमें उन्होंने यह वादा किया गया कि उसके द्वारा ईमान्दारी का जीवन बिताने के लिए परिवर्त्तित की गई स्त्रियाँ सेण्ट मेरी मैग्डालीन के संघ (Order of St. Mary Magdalene) में भर्त्ती हो सकेंगी। १२४६ में धर्माचार्य नवें ग्रेगरी ने उनके लिए मठ (Convents) स्थापित करने की आज्ञा दी, और शीघ्र ही उनका निर्माण भी शुरू हो गया। परन्तु यह निश्चय हुआ कि जो स्त्रियाँ अपने समस्त व्यवहार से यह प्रकट करदें कि गम्भीरता के साथ उन्होंने दुराचार से मुख मोड़ लिया है, उन्हें ही शपथ देकर मठ में रक्खा और बाक़ायदा परिव्राजिका (Nun) बनाया जाय। फिर क्या था, चर्च ने जिस रास्ते का प्रारम्भ किया, अनेक नागरिकों ने भी उसका अनुसरण करके रक्षा-गृहों की शुरुआत कर दी, जो कि अधिकांश में पूर्व-कथित आश्रमों की ही तरह संचालित किये गये। पादरियों का उत्साह तो इस दिशा में अदम्य था। बिशप जोहॉन वॉन डर्फीम ने १३०९ में कहा— "जब गुलाम को मुक्ति मिलती है तो उसे स्वतंत्र मनुष्यों के समस्त अधिकार मिल जाते हैं; अतएव स्त्रियों के साथ भी, जो कि पाप की गुलाम रह चुकी हैं, सुधरे जीवन में परिवर्त्तित होते ही वैसा ही व्यवहार क्यों न होना चाहिए? ऐसा न करना

युक्तिसंगत न होगा।" और, अपने संरक्षण में लेकर, उसने उन्हें सब कलङ्क से मुक्त कर दिया। सर्व-साधारण को हिदायत की गई कि उनका ज़िक्र करते समय पुरानी बातों का उल्लेख न किया जाय; और जो ऐसा करते, उन्हें विशिष्ट कठोरता के साथ दण्ड दिया जाता था। पर इसके साथ ही, इतने प्रयत्नों के होते हुए भी, यदि कोई स्त्री पुनः अपने पुराने ढंग पर जा पड़े तो बस उसे डुबो ही दिया जाता था। फिर भी इन 'गृहों' में रक्षा और निश्चिन्तता इतनी थी कि बाद में जाकर ऐसी औरतें भी इनमें प्रवेश करने को ललचाने लगीं, जो वस्तुतः पतित नहीं थीं। झूठमूठ ही अपनेको पतित बता-बता कर इनमें उनका प्रवेश करना इतना बढ़ा कि अन्त में शेम्पिग्नी (Champigny) के बिशप साइमन को १२९७ में, पेरिस में, इस बात पर ज़ोर देना पड़ा कि इनमें प्रवेश करने-वालियों को पहले शपथ-पूर्वक यह बतलाना चाहिए कि सिर्फ़ इनमें प्रवेश पाने के लिए ही वे पतित नहीं बनी हैं।

इस प्रकार कहना चाहिए कि मध्यकाल में भी स्त्रियों का प्रश्न मौजूद था और उस समय उसे हल करने का प्रयत्न भी किया गया। और मध्य-कालिक स्त्रियों का यह आन्दोलन कहीं ज़्यादा मुश्किल था, क्योंकि जन-संख्या की कहीं ज़्यादा श्रेणियों को वह स्पर्श किये हुए था। यह सच है कि मध्यकाल इसे पूरा हल नहीं कर सका; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके हल का प्रयत्न करते हुए, वह कई सुन्दर संस्थायें हमें दे गया। अब यदि उनमें कोई ख़राबी है और हम उससे अच्छी कोई चीज़ उसके बजाय रख सकते हैं, तो यह हमारा फ़र्ज़ है कि हम उसे हटा कर नई को स्थान दें। वर्त्तमान काल ने, आधुनिक सन्तति ने, ऐसा करने का प्रयत्न शुरू किया है। वही वर्त्तमान आन्दोलन का जनक है।

वर्त्तमान आन्दोलन

'रिनेसां' और 'रिफ़ार्मेशन' के साथ आधुनिक युग का आगमन हुआ। 'रिनेसां' का अर्थ नवजीवन या नवीन जागृति है; परन्तु इतिहास में इससे

प्राचीन यूरोपीय साहित्य, विद्या तथा कलाओं के प्रति उस उत्साह का बोध होता है, जो चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में इटली में उत्पन्न हुआ और जिसने अपने प्रभाव के कारण यूरोप में एक नया युग उपस्थित किया। और जो बात इटली में साहित्य तथा कलाओं के लिए सत्य हुई, उत्तरी देशों में—इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि में—वैसे ही विचार धर्म के सम्बन्ध में उठे। वहाँ सर्व-साधारण प्राचीन धार्मिक अन्ध विश्वासों में टीका-टिप्पणी करने लगे, जो कि अबतक भय का कारण समझा जाता था। इस भाँति 'रिनेसां' से ही नवीन काल के आरम्भ में 'रिफ़ार्मेशन' की उत्पत्ति हुई। इनके द्वारा, साहित्यिक एवं बौद्धिक जागृति ने यूरोप में प्राचीन जीवन बदल कर नये जीवन का संचार किया। इन्हींके कारण स्वतंत्रता की वह तरङ्ग उठी, जो हालैण्ड से चलकर एक के बाद दूसरे देश में फैलने लगी। यही स्वतंत्रता की तरङ्ग अमेरिका के स्वातंत्र्य-युद्ध का कारण हुई और वहाँ से लौटकर यही फ्रांस की राज-क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई।

सन् १७८९ में फ्रांस की वह प्रसिद्ध राजक्रान्ति हुई, जो आधुनिक संसार की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। न्याय, स्वतंत्रता और समता के नाम पर इसका उदय हुआ; और पीड़ितों ने इसकी सफलता से आशा का उत्साहप्रद सन्देश पाया। इसने संसार में ऐसा परिवर्त्तन कर दिया कि जिसने पुरानी की जगह अनेक नई धारणाओं को जन्म दे डाला। मनुष्य के अधिकारों की सुप्रसिद्ध घोषणा का श्रेय इसीको है; और उसका मूल सिद्धान्त यही था कि सब मनुष्य एकसमान पैदा हुए हैं, आर्थिक और सामाजिक दशायें ही उन्हें विभक्त किये हुए हैं। स्वतंत्रता और न्याय इसके आधार थे। जैसा कि सब जानते हैं, दो पीढ़ियों के अन्दर-अन्दर सारे यूरोप में इनका प्रसार हो गया; और जन्म, सम्पत्ति, दर्जा या स्थिति सबके विरुद्ध विद्रोह का भाव जागृत हुआ। था तो यह आन्दोलन वास्तव में राजनैतिक, क्योंकि पश्चिमी और उत्तरी यूरोपीय

राष्ट्रों की तत्कालीन राजनैतिक सत्ताओं के विरुद्ध उठाया गया था; परन्तु बाद में कई इन सिद्धान्तों को अन्य बातों में भी लागू करने लगे, यहाँ तक कि होते-होते अन्त में समाज पर भी इनका स्पर्श हुआ। कुटुम्ब-पद्धति या स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध पर इन्हें लागू करने की तो शुरू में कोई इच्छा या कल्पना ही नहीं थी। फ्रांस की राजक्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में बेबीफ़ (Baheuf) ने स्त्रियों की मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ उद्गार प्रकट किये तो; परन्तु उसने अन्य अनेक चीज़ों की भाँति स्त्रियों को भी संयुक्त सम्पत्ति बनाने के विचार प्रकट किये और उसके तत्कालीन साथी ऐसे निष्कर्ष के लिए तैयार न थे, अतः फ्रांस की राजक्रान्ति स्त्री-मुक्ति और धर्म-मुक्ति से अलग ही रही—उनपर इसने अपना सीधा असर न डाला। परन्तु जब मध्यमवर्ग की राजनैतिक क्रान्ति को शीघ्र ही व्यावहारिक परिणाम प्राप्त हो गया तो फिर उसका दूसरा परिणाम सामाजिक क्रान्ति ही हो सकता था। फिर भी इसको समय लगा और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य (१८४६) से पहले ऐसा न हुआ, जबतक कि समाजवाद के जन्मदाता प्राउढन (Proudhen) ने अपने ग्रन्थ में इसका उल्लेख न किया। इसके बाद भी पहले तो सामाजिक स्थिति पर ही वे इन सिद्धान्तों को लागू करते रहे, कुटुम्ब का उसमें समावेश नहीं किया गया, परन्तु बाद में स्वातन्त्र्य-वादियों ने कुटुम्ब के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों पर भी इन सिद्धान्तों को लागू करना शुरू कर दिया—अर्थात् सामाजिक क्रान्ति और व्यवस्था के मूलस्थान पर ही आघात किया गया। फलस्वरूप एक नये आन्दोलन की नींव पड़ी, जो बाद में यूरोप-भर में छा गया और अब दुनिया-भर में अपने क़दम बढ़ा रहा है। यही आज का स्त्री-आन्दोलन है।

वर्तमान आन्दोलन स्त्रियों के प्रश्न को एक नवीन रूप में रखता है। इसमें शक नहीं कि जब आरम्भ ही हुआ होगा तो उसमें पहले स्त्रियों का अधिक महत्व रहा होगा। समाज और सभ्यता का विकास तो पीछे हुआ, उस समय कोई बन्धन तो थे ही नहीं, अतः स्त्रियाँ गृहस्वामिनी एवं

से अधिक पुरुषों के साथ मनमाना सम्भोग करती रही होंगी और नियम-बन्धन न होने से उनकी सन्तति स्वभावतः पिता की अपेक्षा जन्मदात्री माता को ही जानती-मानती रही होगी। यही कारण है, आरम्भ में हम वंश भी पिता के नहीं माता के नाम पर चलता हुआ पाते हैं, जो मातृ-वंश (Motherkin) के नाम से कहीं-कहीं अभी भी थोड़ा-बहुत विद्यमान है। ऐसी दशा में यह भी स्वाभाविक ही है कि तत्कालीन सन्तति जहाँ पिता को जानती-पहचानती भी न होगी, वहाँ जन्मदात्री के रूप में माता का स्नेह उसे होगा और अपनी शक्ति भर मातृ-सम्मान रखने तथा मातृ-स्मरण का ख़याल भी उसे होता ही होगा। अतः मातृ रूप स्त्रियों ही की इच्छा-अनिच्छा पर बहुत-कुछ पुरुषों का दारोमदार रहता होगा। उस समय स्त्रियों का राज्य होने की जो बात कुछ लोग कहते हैं, सम्भवतः उसका यही मूल है—और इसमें सन्देह नहीं कि इन सब बातों को स्त्रियों के शासन में शुमार भी किया जा सकता है। परन्तु समाज और सभ्यता के भाव जैसे-जैसे घर करते गये, हम देखते हैं, पुरुष का प्रभुत्व बढ़ता और स्त्री का घटता ही गया। यह हम देख ही चुके हैं कि यूनान का सबसे ऊँचा काल वही माना जाता है, जो स्त्री की पराधीनता के लिए विख्यात है; और जब ढील पड़कर वीरत्व और घृणा के मिश्रित भाव पैदा हुए, यूनान का पतन भी उसके साथ शीघ्र ही हो गया। रोमनों के समुन्नतकाल में 'स्त्री केवल विलास की सामग्री-मात्र' थी। जो हो, प्राचीन और मध्यकाल के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि उस समय कैसी भी उथल-पुथल क्यों न होती रही हों, स्त्री पुरुष के अधीन ही रही है। "जहाँ तक इतिहास से पता चलता है क़ानून या व्यवहार किसीमें भी स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार कभी नहीं मिले हैं। जबकि पुरुषों के साथ सारी कठिनाइयाँ और आपदायें उन्होंने झेली हैं, वैसे ही अधिकार या सुविधायें उन्हें कभी भी नहीं दी गईं।"

प्राचीन काल में हम स्त्रियों का जो प्रभु पाते हैं, वह सिर्फ़ कुटुम्ब के

अन्तर्गत उनकी उपयोगिता और महत्व सम्बन्धी सैद्धान्तिक वादविवाद
(Academic discussion)का ही, उसके बाहर तो केवल अपवाद-रूप
में; और अमली रूप में तो वह विवाद कभी कोई उल्लेखनीय परिणाम
लाया ही नहीं। मध्यकाल में भी स्त्री को पुरुष के अधीन ही रहना
पड़ता था, जबतक कि कुटुम्ब में या उसके बाहर कोई ऐसा पुरुष मौजूद
हो कि जिसपर वह निर्भर रह सके। उस समय स्त्रियों का जो प्रश्न उठा, वह
सिर्फ़ और बिलकुल जन-संख्या के ऊपर—परन्तु उसमें भी पुरुष के
अधिकार या शासन की अपेक्षा की गई हो, ऐसा नहीं मालूम पड़ता।
"इतिहास में यह बात प्रमुखता से मिलती है कि समस्त धर्मों और
समयों में, थोड़े-बहुत रूप में, स्त्री पराधीन ही रही है। परन्तु अब
इसके विरुद्ध विद्रोह उठा है। पुरुषों के कार्यों के ही अधीन रहने से
स्त्रियाँ सन्तुष्ट नहीं हैं और अपनेसे सम्बन्धित शासन में भागीदार होने
का दावा करती हैं।"

वर्त्तमान आन्दोलन फ्रांस की राजक्रान्ति से गृहीत न्याय, स्वतंत्रता
और समता के नाम पर उदय हुआ है। अतः यह स्त्रियों के प्रति पुरुषों
के अन्याय-अत्याचार का तो विरोधी है ही; पर साथ ही उसका यह भी
दावा है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों के ही समान हैं और उन्हें भी स्वतन्त्रता का
वैसा ही हक़ है, जैसा कि पुरुष अपने लिए समझते हैं। स्त्रियों को यह
पुरुषों का अर्द्धांग नहीं बल्कि उनकी अपनी स्वतन्त्र हस्ती मानता है; और
इसलिए उसका दावा है कि सभी क्षेत्रों में स्त्रियों को भी वैसी ही स्वत-
न्त्रता और अधिकार दिये जायँ, जैसे कि पुरुषों को प्राप्त हैं या दिये जायँ।
श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के शब्दों में कहें तो, "वर्तमान आन्दोलन जीवन के
प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ स्त्री की पूर्ण समता का इच्छुक है, वह आधु-
निक क़ानूनी और रिवाजी अयोग्यताओं से उनकी पूर्ण मुक्ति चाहता है।"
नारीवाद या स्त्री-स्वातन्त्र्य (Feminism) आज के स्त्री-आन्दोलन
का नाम है। राजनैतिक मताधिकार (Suffrage) तो उसका ऐसा रूप

है कि सभी उससे परिचित हैं, परन्तु यही उसका सम्पूर्ण रूप नहीं है। उसके अन्य रूप को, मोटे तौर पर, हम निम्न भागों मे बाँट सकते हैं:—

(१) आर्थिक स्वतन्त्रता-(Economic Feminism) स्त्रियों का कहना है कि स्त्रियों का पुरुषों पर आर्थिक परावलम्बन ही उनकी सारी कठिनाइयों, कष्टों और आपदाओं का मूलकारण है। यदि स्त्रियों को भी वह सुयोग प्राप्त हो जाय तो फिर पुरुष उनके साथ कोई बुरा व्यवहार, अन्याय-अत्याचार, ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करेंगे—कर ही नहीं सकते। अतः इसके द्वारा उनका दावा है कि स्त्रियों को भी सम्पत्ति और कमाई के सम्बन्ध मे पूरी आज़ादी और अधिकार रहें, जिनका कि पुरुष उपभोग करते हैं; और इसके उपयुक्त बनने के लिए, उनकी माँग है, स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही और उतना ही अवसर व सुविधायें अपना ज्ञान एवं योग्यता-वृद्धि की दी जायँ। अर्थात् वैसी ही और साथ-साथ पढ़ाई हो, खेल-कूद आदि हों, और सब नौकरियों, व्यापारों, काम-धन्धों एवं कौंसिल-सभादि के निर्वाचन और पद-स्थान भी उनके लिए वैसे ही खुले कर दिये जायँ।

(२) न्यायिक स्वतन्त्रता (Juridical Feminism)। मतलब यह है कि न्याय की दृष्टि में, क़ानूनन, स्त्रियों का दर्जा व अधिकार और मर्यादायें बिलकुल पुरुषों के समान रहें। क़ानून जिन कामों के करने में पुरुष पर कोई बन्धन नहीं लगाता, कोई वजह नहीं कि स्त्रियों पर ही कोई बन्धन उन कामों के लिए क्यों लगाया जाय? उनके मतानुसार पुराने वैवाहिक नियम एकपक्षीय हैं, उनमें स्त्री की उपेक्षा और पुरुष का पक्षपात किया गया है, अतः उनमें फेर-बदल होकर स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही पूर्ण अधिकार मिल जाने चाहिएँ। ऐसे क़ानून बन जायँ कि स्त्रियाँ पुरुषों के कहे पर ही चलने को बाध्य न हों, किन्हीं विशेष स्थितियों में पति से न पटने की हालत में उन्हें पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने (तलाक़) का हक़ हो, पति से सम्बन्ध-विच्छेद पर वे उससे गुज़ारे की

हक़दार हों, गृह में जैसे पुरुष अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी
होता है वैसे ही स्त्री को भी अपने पिता की सम्पत्ति का एक हिस्सा मिले,
पति की सम्पत्ति में आधी पर उसका अधिकार रहे, पति-मृत्यु पर वही
उसकी विरासत की हक़दार हो, बच्चों पर पति की भांति उसका भी पूरा
हक़ हो, इत्यादि; और इसी प्रकार विभिन्न काम-धन्धों में भी वे अपना
पूर्ण और अबाध प्रवेश एवं पुरुषों के समान ही वेतन-मजूरी के 'स्केल'
तथा साथ ही अपनी विशिष्ट सुविधाओं—जैसे गर्भावस्था के समय—की भी
दावेदार हैं। विभिन्न निर्वाचन-सभाओं का ज़िक्र किया ही जा चुका है।

(३) सन्तति-निरोध की स्वतन्त्रता (The Propaganda of
sterility or 'Voluntary maternity')। चूँकि स्त्रियों की संख्या पुरुषों
के अपेक्षाकृत अधिक है; इसलिए सभी स्त्रियों का विवाह होगा ही, यह
निश्चय नहीं। अतः स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कोई व्यापार-
धन्धा सीखना चाहिए। और व्यापार-धन्धे में कितनी भी स्वतन्त्रता-सुविधा
हो, फिर भी बच्चों का साथ निश्चित-रूपेण असुविधाकारक है। अतः,
उनका कहना है, जहाँतक हो बच्चे कम-से-कम पैदा किये जायँ। जो बच्चे पैदा
करना हद है, वह भी सभी के लिए नहीं। परन्तु संसार में रह कर ब्रह्म-
चर्य का पालन तो मुश्किल है, संयम के लिए बड़ा बल चाहिए, अतः
कृत्रिम उपायों से सन्तानोत्पत्ति को रोकने का प्रयत्न शुरू किया गया है।
पति जब चाहे तभी स्त्री से सम्भोग कर सके, इस बात को तो वे मानतीं
ही नहीं; परन्तु उनकी इच्छा से सम्भोग होने पर भी इस बात का ख़याल
रखना चाहती हैं कि उसका असर कहीं गर्भ-स्थिति न हो जाय; नहीं तो
सन्तानोत्पत्ति के कष्टों की भी आपदा झेलनी पड़ेगी और फिर बच्चे की
परवरिश का झंझट ही नहीं, उसका एक नया ख़र्च भी बढ़ जायगा। इसी-
लिए वे सन्तति-निरोध की स्वतन्त्रता की दावेदार हैं।

इस प्रकार आज स्त्रियों के आन्दोलन ने जो रूप धारण किया है, वह
उनकी पहले की हलचलों से बिलकुल भिन्न है। स्वातंत्र्य-वादिनियों

(Feminists) का तो आम तौर पर यह कहना है कि मध्यकाल में स्त्रियों की जो ज़्यादती थी, उसीके सबब यह उत्पन्न हुआ है। वह इस प्रकार कि संख्याधिक्य के कारण जो स्त्रियाँ विवाह से वंचित रहीं, उनके सामने उदर-पूर्त्ति का सवाल ज़ोरों से प्रस्तुत हुआ; और उसीके फलस्वरूप स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता अतएव कल्पना उत्पन्न हुई। बस, इसे प्रगति का नाम दिया गया; क्योंकि इसके द्वारा स्त्री पुरुष के आश्रय बग़ैर रहने में समर्थ हुई और पुरुष के अत्याचारों से त्राण का भी एक अस्त्र उसे मिल गया। और फिर, आर्थिक स्वतन्त्रता के बाद, उसे क़ायम रखने की दृष्टि से, यह स्वाभाविक था कि स्त्रियाँ स्वशासन-संस्थाओं और शासन-परिषदों तथा सार्वजनिक नौकरियों के निर्वाचन, प्रतिनिधित्व एवं पद-अधिकार की ओर भी मुख़ातिब हों; क्योंकि वही तो वस्तुतः सारे जीवन-क्रम का नियंत्रण और संचालन करते हैं। स्त्री-स्वातंत्र्य की उत्पत्ति के बारे में आम कल्पना यही है। परन्तु ऐतिहासिक और वास्तविक दृष्टि से देखें तो बात सचमुच ऐसी है नहीं। इसमें शक नहीं कि "स्त्रियों की शिकायत तो बहुत पुरानी हैं—उतनी ही पुरानी, कि जितना पुराना यह संसार है; परन्तु," श्रीमती रामेश्वरी नेहरू लिखती हैं, "उनके निवारणार्थ संगठित प्रयत्न अभी थोड़े ही समय से होने लगे हैं।" हो सकता है कि स्त्रियों का संख्याधिक्य भी किसी हद तक इसकी शुरुआत में सहायक रहा हो; किन्तु वस्तुतः तो इसके बीज बोये गये हैं, जैसा कि हम ऊपर देख चुके, कोई सौ वर्ष पूर्व फ्रांस की राजक्रान्ति द्वारा प्रचलित स्वतंत्रतावादी आन्दोलन (Liberalistic movement) के परिणाम-स्वरूप फैलने वाले विचारों से, और मध्यमवर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्रियों के साहित्यिकपन—कुछ-न-कुछ लिखने के शौक़ में उसका श्रीगणेश हुआ है। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान् हेवलाक एलिस ने लिखा है—"वह आधुनिक विचारों का बीज-काल अठारहवीं सदी ही थी, जब हमारे महान् बाबा-परबाबाओं को स्त्री की स्थिति की परम्परागत धारणाओं में ज़बर्दस्त क्रान्ति करने की धुन सवार हुई।

और न्याय, स्वतंत्रता व समता की जो भ्रमात्मक पुकार दुनिया भर में मचाई जा रही थी उसे ही उत्साह-पूर्वक यहाँ-वहाँ स्त्रियों पर भी लागू किया गया।"

आधुनिक स्त्रियाँ इसीपर गतिशील हैं। सर्वत्र अधिकारों की आवाज़ उठ रही है और हलचल, उथल-पुथल एवं संगठन का ज़ोर है। बहुत-कुछ उन्होंने पा लिया है, बहुत-कुछ पा रही हैं, और बहुत-कुछ पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। पुराने बन्धन और श्रृंखलायें शिथिल पड़ गई हैं, प्राचीन मर्यादायें टूट गई हैं, पुरातन के स्थान पर नूतन की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है, मानों स्त्रियाँ अबतक चली आई सृष्टि को एक नया ही रूप देंगी। वह रूप कैसा होगा, यह जानने के लिए हमें उनकी वर्त्तमान उथल-पुथल—इस नवीन आन्दोलन के प्रारम्भ और प्रसार का सिंहावलोकन करना चाहिए।

उथल-पुथल

फ्रान्स

स्त्रियों का वर्तमान आन्दोलन जिस आधार पर उठा वह फ्रांस की ही देन होने के कारण कोई आश्चर्य नहीं, यदि वहींसे इसका प्रारम्भ भी हुआ हो। निस्सन्देह वहाँ ऐसा प्रयत्न हुआ भी। जिन भावनाओं को फ्रांस ने जन्म दिया उनको उसने अपनाने का भी प्रयत्न किया; यह दूसरी बात है कि इस प्रयत्न में उसे सफलता न मिली, और परिणाम-स्वरूप स्त्रियों की और भी बदतर हालत वहाँ होगई।

इस आन्दोलन की सबसे पहली किरणें हम पाते भी वहीं हैं। कहते हैं कि स्वातंत्र्य-वादिनियाँ तो वहाँ मध्यकाल से ही होती आई हैं। यही नहीं किन्तु अठारहवीं शताब्दी में रूसो को छोड़ कर अन्य दार्शनिकों ने भी क्रान्तिकारी स्त्री-स्वातंत्र्य के भावों के बीज बोये। फलतः अठारहवीं शताब्दी के अन्त में स्त्री-स्वातंत्र्य की कल्पना कुछ उठ भी पड़ी थी। यह

भावना क्रान्ति-सम्बन्धी विचार-धारा के साथ-साथ प्रायः समस्त यूरोप में कुछ-कुछ उठ रही थी। इंग्लैण्ड में मेरी वूल्सटन क्राफ्ट की किताबें (Thoughts on the education of daughters तथा The Vindication of the rights of women) निकलीं, जर्मनी में काण्ट के मित्र थियोडोर गॉटलिच वॉन हिप्पल के दो विवेचनात्मक ग्रन्थ (१७९२ और १८०१ में) प्रकाशित हुए, इधर फ्रान्स में उस समय का आखरी तत्त्ववेत्ता कोण्डरसीट लगन और उत्साह में स्त्री-स्वातंत्र्य के इन सब हिमायतियों से बाज़ी मार रहा था। उसने न केवल स्त्रियों के मताधिकार बल्कि किसी हद तक उनके शासन-सभाओं (Governing bodies) में चुने जाने की भी माँग प्रस्तुत की और अपने महान् ग्रन्थ में लिखा, बौद्धिक विकास की यह आवश्यक शर्त है कि "पुरुष-स्त्री के बीच क़ानूनी अयोग्यतायें उत्पन्न करने-वाली उन दुर्भावनाओं का बिलकुल अन्त कर दिया जाय, जो स्वयं उनके लिए भी नाशक हैं कि जिनके वे अनुकूल हैं।" बस, राजक्रान्ति के बाद, इन्हीं भावनाओं से फ्रान्स में वर्त्तमान स्त्री-आन्दोलन के श्रीगणेश का प्रयत्न किया गया; राजक्रान्ति में स्त्रियों के भी भागीदार होने के कारण क्रान्तिकारी क्लबों एवं अन्य संस्थाओं में स्त्रियों का जो प्रभाव था, उसके कारण यह ऊँचाई पर पहुँचा; बाद में रॉब्सपियरी और उसके साथियों के स्त्रियों से अप्रसन्न हो जाने पर इसका ह्रास शुरू हुआ; और अन्त में जब राष्ट्रीय सरकार (Convention) ने, स्वातंत्र्य-विरोधियों के प्रयत्न से, स्त्रियों के क्लबों आदि को बन्द करके स्त्री-विरोधी नेपोलियनी विधान की प्रस्थापना करनी शुरू की तब इसका बिलकुल अन्त हो गया।

इस प्रकार वर्त्तमान स्त्री-आन्दोलन का सर्वप्रथम संगठित प्रयत्न क्रान्ति-कालीन फ्रांस की स्त्रियों का मिलता है। यद्यपि यह नहीं कह सकते कि पूरे अर्थ में वे स्वातन्त्र्य-वादिनी ही थीं, क्योंकि 'उनमें से अधिकांश विशाल मानव-हित की ओर इतनी प्रेरित थीं कि स्त्री-स्वातन्त्र्य और उसके विरोध का उन्हें ध्यान भी न था।' जिन स्त्रियों का इसमें

प्राधान्य रहा, वे भी ऐसी थीं कि अपने उग्र विचारों के बावजूद भी उन्होंने घर के प्रेम व काम-धन्धे की उपेक्षा नहीं की थी। सच तो यह है कि क्रान्ति-काल में स्वतंत्रता व समता के जो आकर्षक भाव उठे उन्होंने, तथा उसमें उन्हें पुरुषों के साथ जो आगे आने का अवसर प्राप्त हुआ उसने, उनके अन्दर बाह्य-जीवन की लालसा उत्पन्न की। आत्म-विश्वास तो बढ़ ही चुका था, फलतः वे उस ओर प्रवृत्त हुईं; किन्तु सफल न हो सकीं। परिणाम यह हुआ कि सामाजिक रूप में तलाक और सम्पत्ति के बटवारे में हिस्से के दो लाभ तो उन्हें ज़रूर हुए, पर राजनैतिक रूप में तो उनकी स्थिति पहले से भी रद्दी हो गई। सच तो यह है कि "क्रान्ति और किसी उद्देश्य में इतनी विफल नहीं हुई, जितनी कि समानता की स्थापना में। मूलतः यह मध्यमवर्ग का आन्दोलन था, अतएव विभिन्न श्रेणियों की सिर्फ़ थोड़ी-सी असमानताओं को ही यह रद्द कर पाया। स्त्री-पुरुष की असमानता तो, उक्त दो सुधारों के बावजूद भी, इसने और भी इतनी अधिक बढ़ा दी कि जितनी पहले कभी न थी। क्योंकि क्रान्ति से पहले तो स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध अस्पष्ट प्रथाओं पर क़ायम थे; पर अब क़ानून-द्वारा उनकी व्याख्यायें हुईं, जो आम तौर पर स्त्रियों के विपरीत ही हुईं।" इसके बाद नेपोलियनी विधान की वे धारायें बनीं, जो आज तक जारी हैं। इनमें की एक धारा के अनुसार स्त्री को पति की आज्ञाकारिणी रहने का विधान है, एक के अनुसार विवाह के लिए जहाँ अभिभावकों की सम्मति आवश्यक है वहाँ यदि उनमें परस्पर मत-भेद हो तो पिता की सम्मति को पर्याप्त बताया गया है, एक के अनुसार स्त्री को पति की स्वीकृति बिना किसी क़ानूनी कार्यवाही के करने की मनाही की गई है, एक के अनुसार उसे सरकारी काग़ज़-पत्र देखने के अनुपयुक्त ठहराया गया है, और एक धारा के अनुसार बच्चों के वयःप्राप्त होने तक अकेले पिता को ही उनपर अधिकार दिया गया है। इस धक्के के बाद फ्रांस की स्त्रियाँ फिर नहीं उठीं; और यद्यपि गृह में उन्हें पर्याप्त सम्मान एवं स्वतंत्रता

प्राप्त है, फिर भी मताधिकार की दिशा में तो वे आज ब्रिटेन की स्त्रियों से भी कहीं पीछे हैं।

स्केण्डिनेविया

इसके बाद हम स्त्री-स्वातंत्र्य का सर्व-प्रथम उदय पाते हैं स्केण्डि-नेविया में। स्केण्डिनेविया की स्त्रियों को बहुत अधिक समय से पुरुषों के समान शिक्षा-संबंधी सुविधायें प्राप्त हैं; उन्होंने बहुत पहले राजनैतिक शक्ति प्राप्त करली है और अब औद्योगिक एवं व्यावसायिक (Professional) जीवन में पूर्ण एकता तथा विवाह एवं कौटुम्बिक जीवन में अधिक-से-अधिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए दृढ़-निश्चय हैं। विवाह होने पर स्त्री अपना धन्धा छोड़ कर अपने पति के अधीन हो जाय, ऐसा कोई विचार यहाँ नहीं है। फ्रांस की ही तरह यहाँ भी "इस आन्दोलन का प्रथम बीजारोपण श्रमजीवियों द्वारा स्त्रियों के लिए कारख़ानों के दरवाज़े खुल-वाने—जिनमें कि वे पहले ही सरलतापूर्वक पहुँच चुकी थीं—या विवाहित दशा में और अधिकार प्राप्त करने की लड़ाई से नहीं हुआ; और न कृषक-समुदाय की ओर से स्त्री-मुक्ति की आवाज़ उठाई गई, जिसमें कि सरलता-पूर्वक दोनों वर्गों की योग्यता का सम्बन्ध और परस्पर के श्रम का बटवारा स्वभाविक रूप में बिना किसी बाहरी दख़ल-दरामद के स्थापित है। परन्तु इसकी आवाज़ तो उठी मध्यमवर्ग की विदुषियों द्वारा—और वे लोग इसमें उनके सहयोगी एवं समर्थक हुए, जो अपने स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के कारण फ्रांस की क्रान्ति के समानता के विचारों के इस आख़िरी निष्कर्ष का विरोध नहीं कर सकते थे। भौतिक उद्देश्यों से तो स्त्रियों की मुक्ति इस क़दर स्वतंत्र है कि कम-से-कम नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क में तो मुख्यतः साहित्यिक एवं सौन्दर्यमूलक भित्ति पर ही वह उठी है।"

सन् १८२२ की बात है, जब जॉन लुड्विग हीबर्ग (John Ludvig Heiberg) ने आध्यात्मिक भाषणों के लिए एक निमंत्रण भेजा, जिसमें

अन्य बातों के साथ यह भी कहा गया—"वह तत्त्वज्ञान की एक ऐसी प्रस्तावना प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो समस्त शिक्षित व्यक्तियों की समझ में आजाय। निस्सन्देह यह आशा इतनी जीवन्त है कि वह यह मानने को राज़ी नहीं कि इन भाषणों का पुरुषों तक ही परिमित रहना आवश्यक है; किन्तु यह विश्वास करने का साहस करते हैं कि शिक्षित स्त्रियाँ भी जहाँ अपनी उपस्थिति का गौरव प्रदान करेंगी वहाँ साथ ही इस विषय के गम्भीर वाद-विवाद में भी भाग लेंगी। क्योंकि चाहे साधारणतया पुरुष अधिक तेज़ एवं युक्तिसंगत बुद्धि और वाद-विवाद की अधिक योग्यता रखते हैं, किन्तु दूसरी ओर स्त्रियाँ भी आम तौर पर सत्य को शीघ्र ग्रहण करने का अधिक निश्चित और अचूक गुण रखती हैं......और लेखक के विचारानुसार, ज्ञान-प्राप्ति के लिए दूसरा गुण भी पहले जैसा ही प्रभावशाली है।" यह सच है कि ये भाषण दिये नहीं गये, परन्तु स्केण्डिनेविया में स्त्री स्वातंत्र्य की दिशा में हलचल की शुरुआत इसीलिये हुई। यह बात नहीं कि इसका विरोध न हुआ हो। विरोध हुआ और ज़ोरों से हुआ, परन्तु इस बार स्वातंत्र्य-वादिनियों को ऐसा सुयोग मिल गया कि जैसा पहले कभी नहीं हुआ था; और इसने उन्हें तथा उनके आन्दोलन को ऐसा क्रियात्मक महत्व दे दिया, जिसकी उसे अभीतक कमी थी और ऐसा न होता तो वह कमी बराबर बनी रहती। यह सुयोग था एक बिलकुल नई आर्थिक पद्धति का आरम्भ, जिससे कि शीघ्र ही न केवल आर्थिक उत्पत्ति का बल्कि राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों का भी पुनर्संगठन करना आवश्यक हुआ; और अन्त में कौटुम्बिक जीवन पर भी उसका असर पड़ा। यह नई आर्थिक पद्धति और कुछ नहीं, प्रसिद्ध औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम था, जो आधुनिक विज्ञान-युग के कारण हुई थी। पहले के साधनों के बजाय, विज्ञान की सहायता से, नये-नये यंत्रों का आविष्कार और प्रचार हुआ कि जिससे अल्प-समय में और कम लोगों की एवं स्वल्प सहायता से अधिकाधिक उत्पत्ति होने लगी। इनमें ताक़त

और विचार की ज़रूरत उतनी न पड़ती थी; अतः स्त्रियों के लिए उन्हें अपनाकर स्वावलम्बन, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना सुलभ हो गया। और फिर इस दिशा में वढ़ीं सो वढ़ती ही गईं। फलतः स्त्री-पुरुषों की साथ-साथ पढ़ाई होती है और स्त्रियों को पुरुषों की तरह ही निर्वाध रूप से पढ़ने की—न केवल कुछ या ज़्यादा वल्कि जो कुछ भी वे चाहें वही पढ़ने की—स्वतंत्रता मिल गई है। आधुनिक वैवाहिक क़ानूनों ने शनैःशनैः कुटुम्ब में पिता को अधिकार से वंचित करके उसके असर को विलकुल कमज़ोर कर दिया है और इन देशों की स्त्रियों को, फिर वे चाहे विवाहित हों या अविवाहित, अमली तौर पर हरेक वात में—सिवाय वच्चों और विवाहित दम्पती की सम्पत्ति के वटवारे के—पुरुषों के समान अधिकार मिल गये हैं। डेनमार्क का आख़िरी क़ानून तो इस दिशा में पूर्णता को ही जा पहुँचा है और उसने स्त्री-पुरुष को सव वातों में न्यायतः समान वना दिया है—यहाँ तक कि वच्चों और संयुक्त सम्पत्ति के निपटारे के हक़ में भी। साथ ही कृत्रिम प्रतिवन्धों अथवा दूसरे उससे भी विनाशक साधनों से सन्तति-निग्रह के पक्ष में भी नार्वे, डेनमार्क आदि में ज़ोरों से आन्दोलन जारी है; और तलाक़ तो अव मामूली वात ही है।

ग्रेट व्रिटेन

इंग्लैण्ड में भी इसकी शुरुआत मध्यमवर्ग के स्वतन्त्रतावादी स्त्री-पुरुषों के साहित्यिकपन से ही होती है और उन्हींके द्वारा इसके संगठित प्रयत्नों की शुरुआत हुई। पहले यहाँ की स्थिति भी कुछ अच्छी न थी। १७६२ ई० में व्लैकस्टोन ने लिखा था—"प्राचीन क़ानून के अनुसार पति भी अपनी स्त्री को साधारण दण्ड दे सकता है। उसके वुरे वर्त्ताव के लिए पति को भी उत्तर देना पड़ता है, इसलिए क़ानून ने यह उचित समझा कि उसे स्त्री को गृह-सम्वन्धी दण्डों द्वारा, कठोर परिश्रम द्वारा, वच्चों के द्वारा, ऐसे व्यवहारों से रोकने का अधिकार दिया जाय, जिनके

लिए गृह-स्वामी या माता-पिता को भी कतिपय अवस्थाओं में उत्तरदायी होना पड़ता है।" और "इंग्लैण्ड के सिविल क़ानून ने पति को अपनी स्त्री पर शासन करने के लिए वही या उससे भी कड़ा अधिकार दिया था। इस क़ानून के अनुसार कुछ अनुचित कार्यों के लिए उसे अपनी स्त्री को कोड़ों और डण्डों से पीटने की आज्ञा थी और दूसरे कुछ अपराधों के लिए मामूली दण्ड देने की आज्ञा थी।" तृतीय जार्ज के शासन-काल में जिस स्त्री पर हत्या का अभियोग लगाया जाता था वह घसीट कर जीवित जलादी जाती थी। 'सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में यह हाल है कि १९ वीं सदी के तीन-चौथाई भाग के समय तक विवाहित अवस्था में स्त्री को यह अधिकार नहीं था कि वह बिना अपने पति की अनुमति के अपनी भूमि किसी और के नाम लगा दे।' विधवा को पति-दत्त उपहार के रूप में उस भूमि का एक-तिहाई भाग जीवन-पर्यन्त तक के लिए मिलता था, जिसे पति वैवाहिक जीवन में किसी रईस की ओर से युद्ध करने के बदले में पाता था। वैवाहिक जीवन के समय में स्त्री अपने नाम पर जायदाद-सम्बन्धी कोई लिखा पढ़ी नहीं कर सकती थी। पोलक और मेटलैण्ड ने लिखा था—"हमारा क़ानून पति और पत्नी दोनों के बीच में किसी प्रकार की सम्मिलित सम्पत्ति की व्यवस्था नहीं करता—चल-सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी नहीं। विवाह के समय जो भी चल-सम्पत्ति स्त्री के पास रहती है, वह सब पति की हो जाती है; और वैवाहिक जीवन के समय में स्त्री को जो भी सम्पत्ति प्राप्त होती है उस सबपर पति का अधिकार हो जाता है। और पति बिना उसकी अनुमति के उसके दिये हुए समस्त ऋणों को नालिश करके वसूल कर सकता है।" 'क़ानून द्वारा स्वीकृति'—सहवास-वय—'प्राचीन साधारण क़ानून के अनुसार केवल १० या १२ वर्ष मानी जाती थी। १८८५ में यह १३ वर्ष थी। १८८५ में, श्री स्टेड के प्रयत्न से, १६ वर्ष की गई।' 'स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने का आन्दोलन भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में आरम्भ हुआ है। स्त्रियों को

मताधिकार मिलने का आन्दोलन तो अभी हाल की बात है।' अस्तु।

स्त्रियों की राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवाज़ यहाँ सबसे पहले १७९२ में मेरी वूल्स्टन क्राफ्ट ने अपनी पुस्तक (Vindication of the rights of women) द्वारा उठाई—जबकि फ्रांस में कोण्डरसीट ने यह आवाज़ उठाई थी। प्रसिद्ध कवि शेली उसका दामाद था, उसने अपनी रचनाओं में स्त्री-पुरुष की समानता की उस भावना को सजीव रूप दिया है। १८१० में सिडनी स्मिथ ने 'एडिनबर्ग रिव्यू' में स्त्रियों की उच्च शिक्षा के साधनों की वृद्धि के पक्ष में एक ज़ोरदार लेख लिखा। १८१३ में श्रीमती एलिज़ाबेथ फ्राय ने लोगों की इस धारणा को धक्का लगाकर कि 'स्त्री का स्थान घर ही है' न्यूगेट के क़ैदियों में जाना शुरू कर दिया और वहाँ क़ैदियों की पढ़ाई के लिए एक शाला स्थापित की। इसके बाद १८३२ के 'रिफ़ार्म बिल' की स्वीकृति पर बड़ी हलचल मची, क्योंकि इसके द्वारा क़ानून में स्त्रियों को अयोग्य क़रार दिया गया। इससे पहले यहाँ के क़ानून में पुरुष या स्त्री के बजाय व्यक्ति शब्द था, जो चाहे व्यवहार में कैसे ही आ रहा हो पर उसमें पुरुष के साथ स्त्री का भी समावेश हो सकता था, इस विधान के द्वारा व्यक्ति शब्द बदलकर पुरुष कर दिया गया। मतलब यह कि स्त्रियों को व्यवहार में ही नहीं वरन् सिद्धान्त में भी सारे राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। जेम्स मिल इसमें प्रधान रहा बताते हैं, जिसने १८२३ में 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के पाँचवें भाग के परिशिष्ट-रूप अपने 'शासन' शीर्षक लेख में प्रातिनिधिक सरकार के संरक्षण एवं सुविधाओं में स्त्रियों के भागीदार होने के सारे दावे को रद कर दिया और कहा—उनके पति व पिताओं के मताधिकार से उनके हित परोक्ष-रूपेण संरक्षित हैं। इसपर स्त्रियों में हलचल तो मची, पर कुछ हो न सका। १८६० में पार्लमेण्टरी सुधारों का सवाल फिर पेश हुआ; और अख़बारों में तथा सभा-समितियों में, जहाँ-जहाँ पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष मिलते, प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों की चर्चा होने

लगी। तब स्त्रियों ने भी अपने मताधिकार के प्रश्न को एक नया—व्यावहारिक राजनीति का—रूप देने की सोची। सौभाग्य से इस बार जन स्टुअर्ट मिल जैसा प्रभावशाली और योग्य पुरुष उन्हें मददगार मिल-गया, जो स्त्रियों की पराधीनता पर एक तर्कपूर्ण ग्रन्थ (The subjection of women) लिखकर स्त्रियों की समता के समर्थकों में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका है। जॉन मिल था तो जेम्स मिल का ही बेटा, पर बाप के विपरीत यह स्त्री-पुरुष की समानता का हामी हुआ—ऐसा ज़बर्दस्त कि इसके उत्साह और बुद्धि ने पिछले सब स्वातन्त्र्य-वादियों को मात कर दिया। श्रीमती फ़ासेट का तो कहना है—"न केवल इंग्लैण्ड में बल्कि सारी दुनिया के स्त्री-आन्दोलन का यह बड़ा सौभाग्य था कि अग्रगण्य राजनैतिक तत्ववेत्ताओं एवं विचारकों में उस जैसा एक पुरुष उसका नेता और हिमायती था।" उसने लेखन-द्वारा तो स्त्रियों का पक्ष-समर्थन किया ही; परन्तु विश्वविद्यालयों एवं बौद्धिक हलचल के समस्त केन्द्रों में भी एक ऐसा 'स्कूल' निर्माण कर दिया, जहाँ से स्त्री-आन्दोलन के अनेक प्रमुख नेता और समर्थक निकले हैं। १८६५ में अपने इन्हीं विचारों को लेकर वह पार्लमेण्ट में भी पहुँच गया। फलतः १८६७ में जब 'रिफ़ार्मबिल' पेश हुआ तो इसने उसमें से पुरुष शब्द को निकाल कर व्यक्ति शब्द रखने का संशोधन उपस्थित किया। उसपर इसने ऐसा सुन्दर और प्रभावपूर्ण भाषण दिया कि लोग स्तब्ध रह गये और जॉन ब्राइट तक ने इसके पक्ष में मत दिया। फिर भी ८० के विरुद्ध १९६ के बहुमत से संशोधन गिर गया और मूल प्रस्ताव ही पास हुआ। बस, इसी समय से इंग्लैण्ड में स्त्री-मताधिकार वाली संस्थाओं की स्थापना शुरू हुई। क़रीब-क़रीब एकसाथ ही लन्दन, मैंचेस्टर, एडिनबर्ग, ब्रिस्टल, और बर्मिंघम इन पाँच जगह इसके लिए पाँच संस्थायें बनीं; इन्होंने ही फिर बढ़ते-बढ़ते स्त्री-मताधिकारिणी संस्थाओं के राष्ट्रीयसंघ (National Union of Women's suffrage Societies) का रूप धारण कर

लिया, जो आगे चलकर इस दिशा में यहाँ सबसे बड़ा सगठन बन गया। ये संस्थायें तो शुरू से ही सिर्फ़ मताधिकार का ही काम करती रहीं; परन्तु इनमें लगे हुए व्यक्तियों ने इससे बाहर भी स्वतंत्र रूप में बड़े उत्साहपूर्वक स्त्री-जीवन को उठाने वाले अन्य कार्यों का प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप क़ानूनों में बहुत-कुछ फेर-बदल हुए भी। यह सच है कि १८६८ के चुनाव में मिल साहब पार्लमेण्ट में न चुने जा सके, परन्तु जैकब ब्राइट्स ने वहाँ उनका स्थान ग्रहण कर लिया। फलतः स्त्रियों के मताधिकार का विधान फिर पेश किया गया। ४ मई १८७० को ९१ के विरुद्ध १२४ के बहुमत से उसकी द्वितीयावृत्ति स्वीकृत भी होगई, परन्तु सरकारी विरोध के कारण वह आगे न जा सका और १२ मई को सेलेक्ट-कमिटी में जाने के प्रस्ताव पर ९४ के विरुद्ध १२० के बहुमत से वह अ-स्वीकृत हो गया। फिर भी १८६९ में स्त्रियों को म्युनिसिपल मताधिकार प्राप्त हो गया; और १८७० में जब नया शिक्षा-विधान स्वीकृत हुआ तो स्त्रियों को स्कूल-बोर्डों में मत देने का ही नहीं, उनमें चुने जाने का भी अधिकार मिल गया। इसी साल (१८७०) विवाहित स्त्रियों के साम्प-त्तिक अधिकार सम्बन्धी भी एक विधान स्वीकृत हुआ। इस सम्बन्धी एक पृथक् ऐक्ट से विवाहिता स्त्रियों को अपनी स्वयं-उपार्जित सम्पत्ति रखने का तो हक़ मिल गया, पर और किसीकी सम्पत्ति रखने का नहीं। अस्तु। १८७० के आसपास होने वाले परिवर्तनों से स्त्रियाँ अधिकाधिक संख्या में उद्योग-धन्धों में शरीक होने लगीं; उनकी तनख़्वाहें बढ़ीं व काम के घण्टे घटे, साथ ही उनकी शिक्षा में भी वृद्धि हुई। शिक्षा की वृद्धि से मताधिकार का आन्दोलन भी बढ़ा। १८९५ में फिर स्त्री-मताधिकार का प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ, पर इस बार भी रद हो गया। इसके बाद, १९०५ से, हम मताधिकार की दिशा में संगठित आन्दोलन होता हुआ पाते हैं। १९०२ में स्त्रियों का सामाजिक एवं राजनैतिक संघ बना था, उसने अब उग्र रूप धारण किया। साहित्य और प्रचार ही नहीं, आम तौर पर हुल्लड़-

बाज़ी, पुलिस से छेड़छाड़, खिड़की-दरवाज़ों का तोड़ना-फोड़ना, आग लगाना, अधिकारियों का अपमान तथा अन्य छोटी-मोटी दुर्घटनायें भी रोज़मर्रा की बातें हो गईं। फल-स्वरूप सज़ायें हुईं, परन्तु वहाँ भी अन-शन कर-करके उन्होंने अधिकारियों को तंग कर डाला। श्रीमती एमिली पेङ्कहर्स्ट इसकी नेत्री बनीं। हलचल इतनी बढ़ी कि १९११ में प्रधान-सचिव श्री आस्क्विथ ने स्त्रियों के दावे के संशोधन को सरकारी 'रिफार्म बिल' में पार्लमेण्ट के विचारार्थ शामिल कर लिया; परन्तु इस बार पार्लमेण्ट के अध्यक्ष ने यह कह कर उसे रोक दिया कि ऐसी हालत में तो नया बिल ही बनाना होगा। फलतः स्त्रियाँ फिर निराश हुईं और फिर वही हलचल शुरू हो गई। परन्तु शीघ्र ही महायुद्ध शुरू हो गया और उसमें स्त्रियों का सहयोग आव-श्यक ही नहीं हुआ बल्कि ऐसा क्रियात्मक और उपयोगी रहा कि उसके बाद स्त्रियों को मताधिकार देने से इन्कार करना मुश्किल हो गया—यही नहीं, पुरुषों के लड़ाई के मैदान में चले जाने आदि से ज़्यादातर कामों में स्त्रियों को ही लगना पड़ा और उससे उनका आत्म-विश्वास एवं साहस भी ऐसा बढ़ गया कि जिसे रोका नहीं जा सकता था। फलतः १९१६ में पार्लमेण्ट के दोनों हाउसों के सदस्यों की एक संयुक्त समिति युद्ध-जनित दृष्टि से नये शासन-सुधारों के विचारार्थ जो बैठी उसके सामने स्त्रियों के प्रवेश का भी प्रश्न रहा; और उसने उसका समर्थन किया। १९१७ में हाउस ऑफ़ कामन्स में वह स्वीकृत हो गया और १९१८ में सम्राट् की स्वीकृति से क़ानून बन गया। इसने स्त्रियों को बिलकुल पुरुषों के समान ही तो मताधिकार नहीं दिया, किन्तु उम्र के थोड़े भेद के साथ वह स्वीकार हो गया और बीच की जो बाधायें थीं उन्हें १९१९ के क़ानून (Sex disqualification Removal Act) ने ख़तम कर दिया। फलतः आज स्त्रियों के लिए सिद्धान्ततः पुरुषों के प्रायः सब रास्ते खुले हैं—निर्वाचन में उन्हें स्वतन्त्रता है और सब काम-धन्धों में भी उनका प्रवेश है। न केवल मताधिकार बल्कि सदस्यता का हक़ भी उन्हें मिल गया

है और अनेक नौकरियों के अलावा आज वे पार्लमेण्ट की सदस्य भी हैं। लेडी एस्टर वह महिला है, जिन्हें सर्वप्रथम पार्लमेण्ट में बैठने का गौरव प्राप्त है। साथ ही विवाहिता स्त्रियों पर जो थोड़ी-बहुत बाधायें थीं वे भी हट गई हैं। आज इंग्लैण्ड की स्त्रियाँ भी अन्य यूरोपीय देशों की नाईं स्वतन्त्र हैं और उसके उपनिवेश तो कई उससे भी पहले इस सम्बन्ध में क़दम बढ़ा चुके हैं। न्यूज़ीलैण्ड में १८९२ से स्त्रियों को मताधिकार है। आस्ट्रेलिया में १९०२ में ही उन्हें फ़ीडरल पार्लमेण्ट का मताधिकार मिल गया था, हालांकि कुछ राज्यों में राजपरिषद् के मताधिकार कुछ बाद में मिले। अन्यत्र भी कुछ ऐसे ही पहले-पीछे हुआ, पर हो गया है क़रीब-क़रीब सब जगह।

अमेरिका

मिस मेयो के देश अमेरिका में १८८० तक रेवरेण्ड नाक्स लिटिल के समान व्यक्ति मौजूद थे, जिसने फ़िलाडेलफ़िया के गिर्जा-घर में व्याख्यान देते हुए कहा था कि 'पत्नी बनने में ही स्त्री का महान् गौरव है।...पति के प्रति उसका यह कर्त्तव्य है कि वह आँख मूँद कर उसकी आज्ञाओं का पालन करे। ऐसा कोई पाप नहीं है कि जिसमें पुरुष के पड़ जाने पर स्त्री-द्वारा उसका त्याग न्यायोचित कहा जा सके। पति के किसी भी पाप के कारण स्त्री को विवाह-विच्छेद जैसी भयंकर वस्तु की प्रार्थना न करनी चाहिए।' १८४८ में जब सेनेका फाल्स न्यूयार्क में स्त्रियों की पहली महासभा हुई तो अमेरिका के समाचारपत्रों ने उसकी दिल्लगी उड़ाई थी और कहा था कि यह भीड़ 'परित्यक्ता पत्नियों, वंध्या स्त्रियों और कुछ वृद्धा कुमारियों द्वारा एकत्र की गई है।' परन्तु यहाँ इसके बीज तो उसी समय बोये जाने शुरू हो गये थे, जब कि दासता के विरुद्ध तीव्र भाव उठकर दासता की कड़ियों से ग़ुलामों के उद्धार का महान् प्रयत्न शुरू हुआ। यह

दूसरी बात है कि यह ज़ोर पकड़ सका 'केवल गत-शताब्दी में'। औद्योगिक क्रान्तिजन्य स्थिति के फलस्वरूप स्त्रियों को प्राप्त सुयोग से इसे बल मिला और फिर यह वहाँ बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि आज अमेरिका इस दिशा में किसीसे पीछे नहीं है—बल्कि कई का तो कहना है कि इस ओर झुकते-झुकते उसका बहुत-कुछ स्त्रीकरण (Feminization) ही हो गया है। आज वहाँ की स्त्रियाँ काफ़ी स्वतंत्र हैं। "यूरोपीय स्त्रियों की भाँति उन्हें मताधिकार मिल गया है। × × सहशिक्षा का खूब प्रसार है, स्त्रियों के अपनी रोज़ी आप कमाने में दिक्कत बहुत कम हो गई है, और तलाक़ यूरोप से भी कम मुश्किल है।"

जर्मनी

जर्मनी के बारे में एक बार 'आज' में डा० विश्वनाथ मुकर्जी ने लिखा था—"इस विषय में यदि किसी देश की स्त्रियों ने सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है तो वह जर्मनी ही है।" उनके लेखानुसार, वहाँ आन्दोलन तो पहले से होना शुरू हो गया था, पर आश्चर्यजनक सफलता यूरोपीय महायुद्ध के बाद थोड़े ही दिनों में मिली है। इसके पूर्व राष्ट्रीय परिषदों के सदस्य-निर्वाचन का अधिकार उनको केवल नाम-मात्र के लिए था, परन्तु अब वे स्वयं निर्वाचन-प्रार्थी होकर यथारीति प्रतियोगिता करने के बाद अपनी योग्यता को भलीभाँति प्रमाणित करके सदस्य-पद को प्राप्त कर रही हैं। अब तो बड़ी जर्मन व्यवस्थापक सभा, प्रादेशिक सभाओं और मंत्रि-मण्डल में—कहीं भी योग्य महिला-सदस्य की कमी नहीं दिखलाई देती। और श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के लेखानुसार "जर्मनी व फ़िनलैण्ड की पार्लमेण्टों में ही सबसे अधिक संख्या में स्त्रियाँ मौजूद हैं।" शिक्षा तो लड़के-लड़कियों की एकसां है ही।

टर्की

टर्की में कोई २०-२५ वर्ष पहले स्त्रियों को स्वतंत्रता से सूर्य-स्पर्श भी मुश्किल था। परदा इतना कड़ा था कि कुछ न पूछिए। लम्बा कुर्त्ता और उसके ऊपर बुर्क़ा यहाँ की स्त्रियों की आम पोशाक थी। इसके विपरीत उनका ज़रासा भी व्यवहार न केवल समाज में बल्कि क़ानूनन भी उनके तथा उनके अभिभावकों के लिए कष्ट-प्रद था। लेकिन आज स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। परदा तो ग़ायब हो ही गया, पर पोशाक भी बदल गई है। पहले जहाँ बुर्क़ा आवश्यक था, और लड़के-लड़कियों के लिए भी टोप लगाना ईसाइयत का चिन्ह समझा जाता था, वहाँ उसी टर्की में आज यूरोपीय पोशाक ही मुख्य पोशाक बन गई है। स्त्रियों की रहन-सहन बदल कर बिलकुल यूरोपीय हो गई। वे बाल कटाती हैं, उन्हें टेढ़े-तिरछे काढ़ती हैं, 'स्कर्ट,' 'स्टाकिंग', हैट-रुमाल, एड़ीदार जूते, तरह-तरह के शृंगार-पदार्थ इत्यादि का व्यवहार करती हैं। सरकारी दफ़्तरों में पुरुषों की बराबरी से काम करती हैं। पुरुषों के साथ हँसती-खेलती, घूमती-फिरती, खाती-पीतीं, यहाँ तक कि नाचने-गाने भी लगी हैं—कई तो सिग्रेट का धुआँ उड़ाने में भी पुरुषों से बाज़ी ले गई हैं। और कोर्टशिप, स्वेच्छया विवाह, तलाक़ तो व्यावहारिक रूप में परिणत हो गये हैं। सच तो यह है कि इन सब बातों में तुर्की स्त्रियाँ यूरोप के दूसरे किसी भी देश की स्त्रियों से पीछे न रहने के लिए जी-जान से कटिबद्ध हैं। और यह सब हुआ कैसे? "हम मुक्त हो गईं, जबकि पुरुष नहीं देख रहे थे!" 'लिटरेरी डाइजेस्ट' के अनुसार यह वह जवाब है, जो तुर्की स्त्रियाँ देती हैं। वह लिखता है—"मर्द इस समय लड़ाई में लगे हुए थे। दूसरे शब्दों में उन्होंने लड़ाई के ध्यान में इस बात पर कभी ध्यान ही नहीं दिया कि उनकी बहू-बेटियाँ कब मैदान में निकल पड़ीं, कब उन्होंने परदे को तिलाञ्जलि देदी, कब अपने बाल कटा डाले, कब 'ईसाई' टोप लगाने लगीं, और इन सबसे बढ़कर यह

कि पुरुषों के सामने नाचने-गाने भी लगीं! निश्चय ही यह परिवर्तन साधारण न था; परन्तु जब उच्च श्रेणी की कन्यायें भी दफ़्तर का काम करने लगीं—क्योंकि सारे नौजवान युद्धक्षेत्र चले गये थे—तब, तुर्की स्वातंत्र्य-वादिनियों के कथनानुसार, यह सब अवश्यम्भावी था।" निश्चय ही यह स्थिति तुर्की स्त्रियों की स्वतंत्रता में बड़ी सहायक हुई, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि यहाँ भी इस संबंधी विचारों का प्रचार तो इससे पहले शुरू हो चुका था। 'एशियाटिक रिव्यू' में श्रीमती मार्गरेट स्मिथ इसकी शुरुआत १९०८ में होनेवाली वैध क्रान्ति से बतलाती हैं। क्योंकि "उसके दो साल पहले वहाँ जो गुप्त षड्यंत्रकारी दल स्थापित हुआ था, जो बाद में ऐक्य एवं प्रगति-संघ (Society of union and progress) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसमें अमीने हनूम नामक एक प्रसिद्ध लेखिका स्त्री भी सदस्य थी; और जब क्रान्ति फूट पड़ी, तो पुरुषों के समान ही स्त्रियों ने भी हल्ले-गुल्ले में भाग लिया था। 'तमीने' प्रगतिशील पत्र था। × × यह पत्र स्त्रियों की मुक्ति का पक्षपाती था और इस बात का प्रतिपादन करता था कि शिक्षा में स्त्री-पुरुषों का समान-भाग हो और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों के ही समान रहे।" १९११ में तुर्कियों की सांस्कृतिक प्रगति के लिए सबसे पहला राष्ट्रीय क्लब 'तुर्क ओजक' क़ायम हुआ, उसमें एक स्त्री भी सदस्य चुनी गई। पश्चात् स्त्री-स्वातंत्र्य के भावों और अपनी सदस्याओं को सुसंस्कृत बनाने के उद्देश्य से स्त्रियों ने 'ताली निसवाँ' नामका सर्व-प्रथम स्त्री-क्लब स्थापित किया, जिसने १९१२ के बाल्कन-युद्ध के समय अपना अस्पताल भी खोला था। १९१३ में एक स्त्री धर्मादा-विभाग की अध्यक्ष नियुक्त हुई, जिसके अधीन मसजिदों के सब स्कूल थे, और एक स्त्री कन्या-शालाओं तथा छोटे सम्मिलित (लड़के-लड़कियों के) स्कूलों की इंस्पेक्टर-जनरल और सलाहकार बनाई गई। इससे स्त्री-आन्दोलन को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। इसी समय से 'ओजक' की सभाओं में स्त्री-पुरुष दोनों की सम्मिलित उपस्थिति शुरू हो गई।

इसके बाद यूरोपीय महासमर शुरू हो गया, उसमें पुरुषों के लग जाने से स्त्रियों को स्वतंत्र बनने का जो अवसर प्राप्त हुआ, उसका ज़िक्र किया ही जा चुका है। महायुद्ध के बाद का काल तो उनके क्रमिक विकास का समय ही समझिए। नारी-अधिकार-रक्षक-संघ (Society for the Defence of the Rigts of Women) प्रस्थापित हुआ, जिसके उद्देश्य थे—"तुर्की स्त्रियों के बाहरी ढंग को बदलना; विवाह-प्रणाली में सामान्य बुद्ध्यनुसार सुधार करना; घर में स्त्रियों को सुरक्षित करना; माताओं को अपने बच्चों को आधुनिक ढंग पर शिक्षित करने के उपयुक्त बनाना; तुर्की स्त्रियों को सामाजिक जीवन में दीक्षित करना; स्त्रियों को अपने गुज़ारे के लिए ख़ुद कमाने को उत्साहित करना; और वर्तमान बुराइयों के निवारणार्थ उनके लिए काम का पता लगाना; कन्याओं को अपने देश के उपयुक्त शिक्षा देने के लिए महिला-शालायें खोलना और जो स्कूल मौजूद हैं उनमें तदनुसार सुधार करना।" १९२५ में 'तमीने' अख़बार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि यदि हमें टर्की का सच्चा पुनरुद्धार करना है तो सबसे पहले स्त्रियों को सामाजिक जीवन में लाना चाहिए। और मुस्तफ़ा कमालपाशा के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार ने किया भी ऐसा ही। उसने स्त्रियों की पुरानी सब अयोग्यताओं को क़ानून में से निकाल ही नहीं दिया, क़ानून-द्वारा स्त्रियों को यूरोपीय स्त्रियों की तरह वेष-भूषा, रहन-सहन आदि रखने के लिए भी प्रेरित किया जा रहा है। फलतः आज टर्की पूर्णतः यूरोपीय साँचे में ढलता जा रहा है और उसी अनुसार तुर्की स्त्रियाँ भी यूरोपीय स्त्रियों की नाईं 'मुक्त' बनती चली जा रही हैं।

रूस

रूस का हाल सबसे अनोखा है। ज़ारशाही के समय यहाँ स्त्रियों की बड़ी बुरी हालत थी। अधिकांश कुटुम्बों को संयुक्त रखने वाली दो बातें मुख्य थीं—स्त्री व बच्चों की पति व पिता पर निर्भरता और कुटुम्ब

वासियों का भोजन, वस्त्र तथा दैनिक व्यवहार की अन्य वस्तुओं के लिए स्त्रियों पर निर्भर रहना। स्त्री अपने बाल्यकाल से लेकर अन्त तक सदा पुरुष के अधीन रहती थी। वह पिता की पुत्री थी और पति की पत्नी थी, उसकी माता की इच्छा की कोई गिनती न थी। सिर्फ़ धर्म-विवाह जायज़ थे; और विवाह के समय पादरीसाहब स्त्री को उपदेश देते थे—'पत्नी को अपने पति से डरकर चलना आवश्यक है।' क़ानून के अनुसार वह बाध्य थी कि 'कुटुम्ब के प्रधान की हैसियत से पति की आज्ञा माने, उसके साथ प्रेम-पूर्वक रहे, उसकी इज़्ज़त करे और बिना किसी मर्यादा के उसकी आज्ञा-पालन करे, तथा गृहस्वामिनी के रूप में समस्त आनन्द और श्रद्धा उसे प्रदान करे।' स्त्री का अपने पति के साथ रहना आवश्यक था—अपनी इच्छा से यदि वह कहीं चली जाय तो पति को पुलिस के ज़रिये उसे पकड़वा मँगाने का हक़ था, और पति के प्रति वफ़ादारी न रखने वाली स्त्री क़ैद करली जाती थी। पति की आज्ञा बिना न तो उसे कोई काम-धन्धा मिल सकता था, न कहीं जाने का पास-पोर्ट ही। तलाक़ का निर्णय चर्च-कोर्ट पर था, किन्तु उसकी सीमा बहुत संकुचित थी—स्त्रियों को तो ऐसा करने की गुन्जाइश बहुत कम थी; हाँ, पुरुषों के लिए किसी भी निर्दोष स्त्री को ग़ैरवफ़ादार सिद्ध कर बच्चों को उससे छीन लेना आम बात थी। पैतृक सम्पत्ति का केवल चौदहवाँ भाग लड़की को मिलता था, शेष १३ हिस्सा लड़के या लड़कों को मिलता था; और विवाहोपरान्त स्त्री की सारी सम्पत्ति एवं रुपया-पैसा उसके पति के नियंत्रण में चला जाता था। किसान स्त्रियों को काम के साथ गालियों की बौछार भी सहनी पड़ती थी। लड़के पढ़ने जाते, लड़कियाँ घर पर छोटे बालकों को रखतीं और घर व खेत के छोटे-मोटे काम किया करती थीं। विवाह का निर्णय पिता पर था, और वही अपनी कन्या का पति चुनता था। शहरों की मजूर स्त्रियों का हाल भी कुछ अच्छा न था। १९१२ तक तो उनका संरक्षक कोई विधान भी न बना था। १९१२ में एक क़ानून (Social

Insurance Law) बना, पर उसमें प्रतिबन्ध इतने थे कि कुछ उपयोगी न हुआ। अनेक स्त्रियों को वेश्यावृत्ति पर बाध्य होना पड़ता था। अनेक अनपेक्षित (Unwanted) बालकों को कुए व नदियों में फेंक दिया जाता था। अनाथालय (Foundling Homes) ऐसे बालकों से भरे हुए थे, जिनको क़ानून से कोई संरक्षण प्राप्त न था। स्त्रियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था न थी। पुरुषों के विद्यालयों में उनका प्रवेश न था, बहुत थोड़े विद्यालय उनकी पढ़ाई के लिए थे और बहुत योग्य एवं उत्साही स्त्रियाँ ही उनमें अध्ययन कर सकती थीं। ऐसी पढ़ी-लिखी स्त्रियों को अवश्य काफ़ी आज़ादी और सहानुभूति थी, जिससे वे जैसे चाहें रह सकती थीं—जबतक उनके कार्य राजनैतिक न हों तबतक तो निश्चय ही। परन्तु यूरोपीय महायुद्ध ने इस स्थिति में ज्वारभाटा उत्पन्न कर दिया। महायुद्ध में रूस की जितनी हानि हुई और किसी मित्र-राष्ट्र की वैसी हानि नहीं हुई। लड़ाई में जो गये उनमें से अनेक तो लौटे ही नहीं, और बहुतसे बरसों बाद लौटे। इसके बाद राजक्रान्ति और गृह-युद्ध शुरू हुए, इससे और गड़बड़ मची और कौटुम्बिक बन्धन ढीले पड़े। रोटी कमाने वालों के चले जाने से कुटुम्बीजन इधर-उधर काम की तलाश में लगे। स्त्रियाँ कल-कारख़ानों में पुरुषों के स्थान लेने को टूटने लगीं; पर पुरुषों की वापसी पर उन्हें वहाँ से हटना पड़ा। तब शहर में रोज़ी के लाले पड़े और फिर गाँवों की ओर लोगों का प्रवाह बढ़ा, लेकिन गाँवों में भी ज़मीन से कोई ख़ास उत्पत्ति न हुई। ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा कि पुरुष-स्त्री, बहन-भाई, माता-बच्चे के सब सम्बन्ध ढीले पड़ गये और प्रत्येक को अपनी-अपनी जान बचाने की फ़िक्र पड़ी। यहाँ तक कि माँओं ने अपने बच्चों को बेचा और उनके माँस को क्षुधा-पूर्त्ति का साधन बनाया; लोग एक-दूसरे को मार-मार कर खाने लगे। दूसरा वर्ष शुरू हुआ, और वह भी ऐसाही। इसके बाद साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। केरेन्स्की के शासन के आरम्भ में तो इस ओर ध्यान नहीं दिया गया मालूम पड़ता,

कौटुम्बिक सम्बन्धों के पुराने क़ानूनों को बदलने का उस समय कोई प्रयत्न नहीं हुआ प्रतीत होता; परन्तु बोलशेविक सरकार के अमल में आने के एक मास के अन्दर ही, जब कि वह अभी भी अपने जीवन के लिए लड़ ही रही थी, उसने विवाह एवं कुटुम्ब के समस्त आधार को ही बदलना शुरू किया। फलतः कुटुम्ब से लेकर राज्य तक किसी भी सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष का जो भेदभाव है, जहाँ तक क़ानून और घोषणा से सम्बन्ध है, सोवियट रूप में उसे दूर कर दिया गया है। उसके प्रथम निर्णयों (First decrees) ने विवाह की व्याख्या एक ऐसे सम्मिलन (Union) से की, जो चाहे जब किया और तोड़ा जा सकता है। उसमें राज्य का मतलब सिर्फ़ यही है कि उनके बच्चों की काफ़ी देख-भाल और परवरिश हो। स्वीकृत मातृत्व (Recognised motherhood) को सामाजिक रूप देकर सरकार द्वारा उसकी रक्षा और पोषण Endow) करना स्वीकार हुआ। अविवाहित स्त्री-पुरुषों के संयोग से होनेवाले बालकों के सिर से अवैधता के कलङ्क को हटा दिया गया। स्त्री-पुरुष के समान कार्य और समान वेतन का सिद्धान्त स्थापित किया गया और स्त्रियों को नागरिकता के पूरे अधिकार-कर्त्तव्य दे दिये गये। परन्तु "अच्छे क़ानून बनाना एक बात है और उन क़ानूनों को जीवन-व्यवहार में लाने जैसी परिस्थिति पैदा करना एक दूसरी बात है। और," यारोस्लावस्की नामक एक प्रमुख कम्यूनिस्ट का कहना है, "यहाँ हमको स्पष्ट कहना होगा कि अपने सारे जीवन-क्रम का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण किये बग़ैर हम इस समस्या को हल न कर सकेंगे।" यही क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण आज यहाँ जारी है। अभी उसकी समाप्ति नहीं हुई है, अतः यह कहना मुश्किल है कि कुटुम्ब-जीवन का अन्तिम रूप क्या होगा और अन्त में जाकर स्त्रियों का दर्जा व स्थिति क्या होंगे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यहाँ स्त्रियों को पत्नी, माता और नागरिक के रूप में पुरुषों को पूर्ण समानता मिल गई है, उस समानता का पूर्ण रूप से उपयोग कर

सकने के योग्य उन्हें बनाने का प्रयत्न हो रहा है; और इसके लिए जिन काम-धन्धों के लिए उन्हें पहले घर में रहना पड़ना था उन्हें सामाजिक रूप दिया जा रहा है। पुरुष-स्त्री आर्थिक रूप में एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और बच्चों की परवरिश के लिए संयुक्त रूप से ज़िम्मेवार हैं, जब कि कम्यूनल गृह, दिन के शिशुग्रह, सार्वजनिक भोजनालय इत्यादि धीरे-धीरे स्त्रियों के काम-धन्धों को अपनाते जा रहे हैं। गर्भावस्था के लिए छुट्टी, भत्ते आदि की रिआयतें स्त्रियों को मिल गई हैं। पश्चिमी देशों में स्त्रियों की राजनैतिक अधिकार-प्राप्ति ने स्त्रियों को अपनी सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के लिए अच्छी तरह लड़ने का केवल अस्त्र प्रदान किया है, जिन आर्थिक अधिकारों के बिना और सब बहुत नगण्य हैं वे अन्त में आते हैं, वहाँ सोवियट रूस में इसके विपरीत सबसे पहले उन्हें आर्थिक अधिकार ही दिये गये। यह तो मान ही लिया गया था कि क्रान्ति से जो कुछ मिलेगा वह स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से मिलेगा। फलतः नये विधान ने बिना किसी वर्ग (Sex), विश्वास या राष्ट्रीयता के भेदभाव के अठारह वर्ष के उन सब व्यक्तियों को सोवियटों के निर्वाचन में मत देने तथा चुने जाने के एक-से अधिकार निश्चित कर दिये, जो कि सामाजिक दृष्टि से किसी उपयोगी श्रम में लगे हों और अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरों को लूट न रहे हों। फलतः रूस में आज गार्हस्थ्य-जीवन नष्ट होकर सामूहिक रूप में खाने-पीने आदि के सब काम होने लगे हैं। स्त्रियाँ पतियों के साथ ही रहें, ऐसा नहीं है; दोनों के अलग-अलग नौकर होने से कभी-कभी ऐसा भी होता है कि छः-छः महीने तक आपस में उनका मिलना नहीं होता। गाँवों में छोटे-छोटे खेत मिट कर वैज्ञानिक ढंग से विशाल खेतियाँ होती हैं, इससे किसान भी स्वतंत्र कृषक के बजाय उसके मजूर ही बन गये हैं और उनका जीवन भी शहरी मजूरों का सा होता जा रहा है। धर्म को अफ़ीम की तरह हानिकारक माना जाता है और इसी वाक्य से बच्चों की पढ़ाई का श्रीगणेश होता है। पुरुष-स्त्री की साथ-साथ पढ़ाई होती है। पुरुष-स्त्री का एक

साथ एकान्त में रहना ही नहीं, एक-दूसरे के सामने नहाते समय बिल्कुल नंगे होना भी आम रिवाज है। वेश्यावृत्ति नहीं, बल्कि वेश्याओं के द्वारा कमाई करना दण्डनीय है; वेश्या को तो तभी सज़ा होती है, जब वह कोई संक्रामक बीमारी फैलावे—और पुरुष-स्त्री दोनों के लिए यह दण्डनीय अपराध है। इसके लिए वेश्याओं की बलात् जाँच करने का भी निश्चय हुआ है। इस प्रकार रूस की स्त्रियाँ आज सबसे विचित्र स्थिति पर अवस्थित हैं—नौकरियों में, सब काम-धन्धों में, यहाँ तक कि फ़ौज में भी उनका प्रवेश है; पंचायतों-कौंसिलों में भी नीचे से ऊपर तक उनका प्रवेश है; और संक्रमण काल, बीच का समय, बीत जाने पर वे क्या स्थिति न धारण कर लेंगी, यह कहना कठिन है।

विविध

अन्यत्र भी सब जगह हवा का रुख पलटने लग गया है। जापान आज बहुत-कुछ पश्चिम की ओर झुका है, अतः इस दिशा में भी बढ़ रहा है। चीन की क्रान्ति ने इस दिशा में भी बहुत-कुछ क्रान्ति की है। ईरान, अरब, मिश्र भी झुक रहे हैं। अफ़गानिस्थान का अमानुल्लाह इसी प्रयत्न में गया। इटली भी कुछ ढीला पड़ता नज़र आता है। और भारत तो ठहरा पश्चिमी सत्ता का सीधा गुलाम। वही क्यों इससे अछूता रहता?

भारत की हलचल

भारत का सबसे प्राचीनकाल वैदिककाल है, जो ईसा के १५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इसके बाद पौराणिक काल शुरू होता है, जिसे महाभारत और रामायण-काल भी कहते हैं, और ईसा के १५०० से ५०० वर्ष पूर्व तक उसकी गणना है। अन्त में सूत्र-काल आता है, जो ईसा के ५०० वर्ष पूर्व के लगभग शुरू होता है। इन तीनों कालों की गणना भारत के प्राचीनकाल में की जाती है; और तीनों ही कालों में भारतीय

स्त्रियों की स्थिति बहुत उन्नत रही है। 'वैदिककाल में स्त्री प्रत्येक बात में पुरुष के बराबर समझी जाती थी। बुद्धि से काम लेने और अपने स्वार्थों को समझ लेने की आयु प्राप्त कर लेने पर वह अपना पति चुनती थी। विधवाओं को पुनर्विवाह करने से कोई रोकता नहीं था।' और, 'कतिपय दशाओं में वैदिक भारत की स्त्रियाँ वर्तमान यूरोपीय स्त्रियों से भी स्वतन्त्र थीं।' पाणिनी-व्याकरण के अनुसार, पति और पत्नी शब्द गृहकार्य (Household) में एक दूसरे की समानता के द्योतक हैं। इस समय वेदों की रचना हुई; और यह सब जानते हैं, वेदों की अनेक ऋचायें स्त्रियों द्वारा भी रची गई हैं। विश्ववारा, लोपामुद्रा, वाक् आदि ऐसी स्त्रियों में मुख्य हैं। पौराणिक काल में भी हम स्त्रियों की तार्किक दक्षता के पर्याप्त प्रमाण पाते हैं; मैत्रेयी, गार्गी, तारा आदि उनमें मुख्य हैं। भारतीय स्त्रियों के आदर्श रूप सीता, सावित्री इत्यादि स्त्रियाँ भी इसी काल में हुईं; कैकेयी, सत्यभामा आदि ने युद्ध-क्षेत्र में अपना कौशल प्रकट किया, और द्रौपदि ने शासन में क्रियात्मक भाग लिया था। लाला लाजपतराय का तो यहाँ तक अनुमान है कि 'इस काल में भारतवर्ष में स्त्रियों को सर्वोत्तम स्थान प्राप्त था।' और, 'उस समय नृत्य, गान और घोड़े की सवारी करना स्त्रियों के गुण समझे जाते थे और कदाचित् स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध सर्वोत्तम ढंग का था।' सूत्र-कालीन साहित्य संक्षिप्त विवरणों से आच्छादित है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ सूत या धागा है। धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, विज्ञान इन सबके इस काल में संकुचित रूप अर्थात् सूत्र बन गये थे। आर्यों के अधिकांश पवित्र सिद्धान्त और स्मृतियाँ इसी काल की हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी नींव प्राचीन थी, परन्तु उनका स्वरूप बहुत पश्चात् के समय का था; और, लाला लाजपतराय के शब्दों में, 'हिन्दू आर्यों के सब बातों के नियमबद्ध करने के ये प्रथम उद्योग थे।' इनमें, 'उनके स्त्री-सम्बन्धी धर्मशास्त्र में हमें संकीर्णता और उदारता तथा स्वतन्त्रता और नियंत्रण का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है।'

स्मृतिकार मनु ने जहाँ यह कहा है कि 'जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं,' तहाँ उन्होंने यह भी कहा है कि 'उन्हें रात-दिन कुटुम्ब के पुरुषों के अधीन रखना चाहिए। बाल्यावस्था में पिता उनकी रक्षा करता है, युवावस्था में पुत्र।' पति से कहा गया कि 'वह पत्नी की सावधानी से रक्षा करे,' दूसरी ओर रक्षा का अर्थ बताया गया है कि 'बल-प्रयोग करके या परदे में बन्द करके कोई पुरुष किसी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता; केवल वही स्त्रियाँ भली-भाँति रक्षित रहती हैं, जो अपनी रक्षा अपने आप करती हैं।' यहाँ पर उन्हें निरन्तर काम में लगी रहने के कुछ उपाय बताये गये हैं, जिनमें सन्तति की शुद्धता पर खास ध्यान रक्खा गया है, जो '(क) वर-वधू के सावधानी के साथ किये गये चुनाव से (ख) जाति के भीतर ही विवाह करने से (ग) स्त्रियों के सामने सदाचार का सर्वोच्च आदर्श रखने से (घ) पत्नी पर शासन करने का पति को पूर्ण अधिकार देने से (ङ) जाति से बाहर किये गये विवाहों के दुष्परिणामों का ज़ोरदार शब्दों में विवेचन करने से और (च) मिश्रित विवाहों से उत्पन्न सन्तति को समाज में अत्यन्त निम्नस्थान प्रदान करने से प्राप्त हो सकती है।' लालाजी के लेखानुसार, "प्रारम्भिक साहित्य में हम समस्त स्थायी सम्बन्धों को धर्मानुकूल समझने की चेष्टा पाते हैं—चाहे वे सम्बन्ध प्रेम के कारण हों, चाहे देवयोग से हो गये हों, चाहे अविचार-द्वारा हो गये हों।" और, "सभी स्मृतिकार इस बात से सहमत हैं कि सबसे उत्तम विवाह वही है, जो अपनी जाति के भीतर ही किया जाय। परन्तु वे उच्चकुल के मनुष्यों को नीचकुल की स्त्री से विवाह करने की आज्ञा देते हैं। जाति से बाहर किये गये पर नियमानुकूल माने गये विवाहों से उत्पन्न सन्तति को पहले के स्मृतिकार पिता के कुल का स्वीकार करने के पक्ष में हैं, परन्तु बाद के स्मृतिकार इसके विरुद्ध हैं। वर्तमान समय में हिन्दुओं में मूल चार वर्णों के अतिरिक्त जो अनेक जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं, वे बहुत-कुछ इन्हीं मिश्रित विवाहों से उत्पन्न हुई हैं।" वंश वृद्धि-संबंधी नियमों

का इस समय अत्यन्त उच्च आदर्श विकसित हुआ था। नारद कहते हैं— 'पहले विवाहार्थी के पुरुषत्व की परीक्षा होनी चाहिए। जब उसका पुरुषत्व प्रमाणित हो जाय और सन्देह के लिए कोई स्थान न रह जाय, तब उसका विवाह होना चाहिए; अन्यथा नहीं।' उधर मनु स्त्री की उपयुक्तता पर ज़ोर देते हैं—'जिसने अपना अध्ययन समाप्त कर लिया है और जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उसको चाहिए कि वह इन दस कुलों की कन्या से विवाह न करे—वह कुल, जो धर्मानुष्ठानों की अवहेलना करता हो, जो वेदों के ज्ञान से रहित हो, जिसमें पुरुष न हों, जिस कुल के लोगों के शरीर पर बहुत बाल हों; और वे कुल भी, जिनमें क्षय, अजीर्ण, मृगी और कुष्ट के रोग पाये जायँ।' विस्तार से इन दोनों ने फिर दोनों के सूक्ष्म गुणों-लक्षणों का वर्णन किया है, पर मुख्यतः पुरुष के पुरुषत्व और स्त्री के स्त्रीत्व की रक्षा करने और फिर अपने अपने विशिष्ट गुणों के साथ ही दोनों का संयोग होने पर ज़ोर रहा है। माता के रूप में स्त्री को हम एकदम उच्चतर पद पर आसीन पाते हैं; और इस सम्बन्ध में सब स्मृतिकार भी सहमत प्रतीत होते हैं। मनु के कथनानुसार, 'आचार्य (आध्यात्मिक गुरु) दस उपाध्यायों (साधारण शिक्षकों) से अधिक पूजनीय है, पिता सौ आचार्यों से अधिक पूजनीय है; परन्तु माता, पिता से भी, सहस्रगुना पूज्य और शिक्षा देनेवाली है।' लालाजी के अनुसार, "हिन्दुओं में मातृत्व पद एक अत्यन्त पवित्र पद माना गया है। सम्पूर्ण प्रकृति में वे इस पद का आदर करते हैं। अपने स्त्रीत्व-संबंधी गुणों के कारण प्रत्येक स्त्री एक सम्भावित माता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री को, जो अपनी पत्नी, पुत्री या बहन न हो, लोग माता कह कर सम्बोधित करते हैं। × × देवियों में माताओं की सबसे अधिक पूजा होती है और कभी-कभी उन्हें देवताओं से भी उच्च स्थान दिया जाता है। इसी प्रकार जन्म-भूमि को भी मातृभूमि कह कर पूजा की जाती है।" क़ानूनी दृष्टि से विचार करें तो "हिन्दू क़ानून पत्नी के अपनी निजी सम्पत्ति रखने के अधिकार को

सर्वदा से मानता आया है।" हाँ, "एक सम्मिलित कुटुम्ब में पुरुष या स्त्री कोई भी सम्पत्ति के किसी निश्चित भाग का अधिकारी नहीं हो सकता। कुटुम्ब के समस्त पुरुषों और स्त्रियों का हित सामने रख कर कुटुम्ब का प्रधान सम्पूर्ण सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है। पुत्रियों का, जबतक विवाह नहीं हो जाता तबतक वे उस कुटुम्ब की सदस्या समझी जाती हैं; परन्तु जब उनका विवाह हो जाता है, तब वे दूसरे कुटुम्ब में जाकर सम्मिलित हो जाती हैं। विभक्त कुटुम्बों में कतिपय दशाओं में विधवायें, मातायें, पुत्रियाँ और बहनें उत्तराधिकारी मानी जाती हैं। कुछ स्मृतिकारों के अनुसार अविवाहिता पुत्री अपने भाई की भाँति पिता की सम्पत्ति का एक भाग पाती है। साधारणतया यह होता है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् यदि पुत्र जीवित रहते हैं तो वे उसकी सम्पूर्ण जायदाद पर अधिकार कर लेते हैं, पर उन्हें उस जायदाद से कुटुम्ब की स्त्रियों का पालन-पोषण करना पड़ता है। यदि वे इस बात की अवहेलना करते हैं और जायदाद बेच डालते हैं, तो उस कुटुम्ब की स्त्रियों के पालन-पोषण का भार भी उसी जायदाद के साथ उस मनुष्य पर जा पड़ता है, जो उसे खरीदता है। यदि पुत्र नहीं जीवित रहते तो मृतक की विधवा उस जायदाद की अधिकारिणी होती है। सम्पूर्ण आय के स्वेच्छानुसार व्यय करने का उसे अधिकार रहता है, परन्तु उस जायदाद को वह किसी दूसरे के नाम नहीं लगा सकती—ऐसा वह केवल क़ानूनी आवश्यकता आ पड़ने पर या अपने पश्चात् के उत्तराधिकारी की अनुमति से ही कर सकती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्रियें उस जायदाद की अधिकारिणी होती हैं और उन्हें भी वही अधिकार प्राप्त रहते हैं, जो माता को थे। इसी प्रकार यदि भाई नहीं तो माता ही उत्तराधिकारिणी होती है। किसी स्त्री की निजी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी सन्तान (पुत्र और पुत्रियाँ) होती हैं। यदि कोई सन्तान न हो तो कतिपय दशाओं में पति और कतिपय दशाओं में उसके पिता के कुल के लोग उस सम्पत्ति को पाते हैं।"

स्त्री को बालक गोद लेने का पूर्ण अधिकार है; परन्तु पति की मृत्यु के बाद तभी, जबकि पति ने अपनी जीवितावस्था में उसे वैसा अधिकार दे दिया हो और आत्मीयजन उसे स्वीकार करलें। शिशुओं के संरक्षण का कतिपय परिस्थितियों में माँ को अधिकार रहता है; 'कन्याओं का विवाहादि निश्चित करने वाले संरक्षकों में उसकी भी गणना होती है।' सन्तति के अधिकार में पुरुष को स्त्री से कुछ प्रधानता दी गई है, क्योंकि 'मनु स्त्री की समता खेत से और पुरुष की बीज से करते हैं' और 'वीर्य और गर्भाशय में साधारण-रूप से तुलना की जाती है तो वीर्य को अधिक महत्व मिलता है।' बीज और खेत के गुण वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'एक शिक्षित पुरुष, जो इन नियमों को जानता है और जो बुद्धिमान है, किसी दूसरे पुरुष की स्त्री में कदापि वीर्यारोपण नहीं कर सकता।' विवाह हिन्दू-धर्मशास्त्र के अनुसार "एक अत्यन्त पवित्र प्रतिज्ञा है और सिद्धान्त-रूप में यह बन्धन कभी तोड़ा नहीं जा सकता। × × पर तो भी अधिक प्राचीन धर्म-पुस्तकों से पता चलता है कि उन दिनों विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा ही प्रचलित नहीं थी वरन् कतिपय परिस्थितियों में पति-पत्नी दोनों को एक-दूसरे की जीवितावस्था में भी पुनर्विवाह करने की आज्ञा थी।" व्यभिचारिणी को दण्ड देने के लिए नारद अत्यन्त कड़े विधान निश्चित करते हैं, परन्तु यह कहने में भी नहीं चूकते कि 'यदि कोई पुरुष अपनी आज्ञाकारिणी, मृदुभाषिणी, गुणवती, सदाचारिणी और सन्तानवत स्त्री का त्याग करे तो राजा को चाहिए कि उसे स्व-कर्त्तव्य पर लाने के लिए कठोर दण्ड दे।' 'मनु के मतानुसार पति-पत्नी का संक्षेप में एक-दूसरे के प्रति यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे मृत्युपर्यन्त एक-दूसरे को मन, वचन या कर्म से दुःखी न करें। और यह वादा किया गया है कि जो इस लोक में सचाई के साथ इस कर्त्तव्य का पालन करेंगे वे शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् दूसरे लोक में जाने पर भी एक-दूसरे के साथ ही रहेंगे और कभी पृथक् न होंगे।' लालाजी के लेखानुसार,

"इसका उद्देश्य यह था कि स्त्री-पुरुष दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से एक में मिला दें।" क्योंकि, मनुस्मृति के अनुसार, "विभक्त पुरुष और स्त्री एक पूर्ण पुरुष तभी बनते हैं, जब दोनों पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध से फिर एक मे मिल जायँ। और इस प्रकार एक पूर्ण पुरुष बनने पर ही वे धार्मिक कृत्यों का सफलतापूर्वक प्रतिपादन कर सकते हैं।" यही कारण है, जैसा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय लिखती हैं, "उस समय देश के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में स्त्रियाँ स्वतन्त्रता से भागीदार होती थीं और धार्मिक अनुष्ठान-कर्मों के परिपालन में उन्हें एक खास स्थिति प्राप्त थी।" और श्रीमती मार्गरेट ई० कज़िन्स इस निर्णय पर पहुँची हैं कि "ऋगवेद में विवाह के जो आदर्श कहे गये हैं वे संसार के प्रत्येक राष्ट्र के पालन करने योग्य हैं।"

बौद्धकाल में, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय के लेखानुसार, स्त्रियों की शिक्षा और सामान्य प्रगति को और ताज़ा प्रोत्साहन मिला। सम्राट् अशोक के एक चचेरे भाई संघमित्र ने तो सीलोन जाकर वहाँ भी दर्शन-शास्त्र का एक विद्यालय खोला और स्त्रियों को कई कलाओं की शिक्षा दी। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में निर्णायक बनने वाली मण्डन मिश्र की सुप्रसिद्ध स्त्री भारती, गणित और दर्शनशास्त्र की सुप्रसिद्ध विद्वान लीलावती, तथा ज्योतिष की सुविख्यात ज्ञाता खान इसी समय में हुई हैं। क़ानून की दृष्टि से बौद्धकाल में भी स्त्रियों को पहले का सा ही स्थान प्राप्त था। परन्तु, ला० लाजपतराय के अनुसार, बौद्ध-काल से ही उनकी दशा बिगड़नी शुरू हुई। उनके लेखानुसार, "यह एक विचित्र बात है कि यूरोप के रोमनराज्य के समकालीन हिन्दू-इतिहास में स्त्रियों की स्वतन्त्रता में जो रुकावटें डाली गईं थीं वे बहुत अंशों में वैसी ही थीं, जैसी कि रोमन-राज्य में थीं। उदाहरण के लिए, दोनों जगह स्त्रियों को निरन्तर पुरुषों के संरक्षण में रहने की आवश्यकता थी। परन्तु भारतवर्ष में यह केवल कुछ ही स्मृतिकारों की सम्मति थी और प्रयोग में

यह कभी नहीं लाई गई। हिन्दू-इतिहास के किसी भी काल में स्त्रियों को जायदाद-सम्बन्धी लिखा-पढ़ी करने, अपनी सम्पत्ति को मनमाने तौर से उपयोग करने, पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनने (यद्यपि केवल जीवन-भर के लिए), अपनी सन्तान की संरक्षिका होने, और माता, पुत्री व बहन के रूप में सम्पत्ति के कुछ भागों का उत्तराधिकार पाने से कभी भी वंचित नहीं किया गया। जीवन में उसके पति का जो स्थान रहा हो उसीकी मर्यादा के अनुसार गृह में निवास करने और भरण पोषण प्राप्त करने का उसे सर्वप्रथम अधिकार था और अब भी है। उसके शिक्षा गृहण करने और धार्मिक कृत्यों में भाग लेने के अधिकार को कभी अ-स्वीकार नहीं किया गया।"

सूत्र-काल की व्याख्याओं और प्रतिबन्धों के कारण, इस काल में, वैदिक काल की स्थिति से कुछ परिवर्त्तन होना जारी हो गया था; फलतः मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति उस समय से कुछ भिन्न हो चला थी। सूत्रों के अर्थों की खींचतान करके स्त्रियों के विवाह आदि में पहले से कुछ प्रतिबन्ध लगने आरम्भ हो गये थे, उधर रजोदर्शन के तीन वर्ष के अन्दर कन्या का विवाह करने की बात से विवाह की आयु में न्यूनता होनी शुरू हो गई थी। फिर इस काल में मुसलमान आक्रमणकारियों का आगमन हुआ, इससे भी हमारे रीति-रिवाजों पर कुछ असर पड़ा। जैसा कि श्रीमती कज़िन्स ने लिखा है, मुसलमानों की सभ्यता हिन्दुओं की सभ्यता से भिन्न थी, दोनों के जीवन-क्रम में ही अन्तर था। मुसलिम सभ्यता पति के अलावा दूसरे सब पुरुषों से स्त्री को अलग रखती है; सिर्फ़ परदेवाली स्त्रियों का ही उसमें आदर होता है और विवाहिता स्त्रियों पर ऐसा कड़ा नियंत्रण रहता है कि कुएँ से पानी लाने को भी मुसलमान स्त्री 'ज़नाने' को नहीं छोड़ सकती। ऐसी हालत में यहाँ बेपरदा घूमती-फिरती स्त्रियों को देख कर मुसलमानों को उनके निम्न-चरित्रीय होने का ख़याल होना स्वाभाविक था; फिर वे कोई सदाचार की मूर्त्ति बनकर तो यहाँ आये नहीं

थे, अतः युद्ध और शक्ति के उत्साह और मद में उन्होंने अपने संयम को भी ढीला छोड़ा हो तो क्या ताज्जुब ? फलतः जहाँ जहाँ मुसलमानों का ज़ोर बढ़ा, परदा भी साथ-साथ वृद्धि करता गया; एक तो इस कारण कि 'मुसलमान-धर्म विवाहित स्त्रियों को गुलाम बनाने की मनाही करता है,' और दूसरे निश्चय ही इस कारण कि 'मुसलमान विजेताओं के असभ्य आक्रमणों से इस तरह स्त्री अपने पति के संरक्षण में अधिक सुरक्षित हुई।' बाल-विवाह भी इन्हीं सब कारणों से उस समय एक आम रिवाज हो गया। इसी समय सती, शिशु-हत्या, विधवाओं के प्रति कठोरता, बहु-विवाह, कन्या विक्रय और कन्याओं के देवार्पण करने आदि की कुप्रथायें भी शनैःशनैः थोड़े-बहुत रूप में प्रवेश कर गईं। परन्तु इस काल में भी हमें कई महान् स्त्रियाँ मिलती हैं। 'विविदचन्द्र' नामक क़ानून का ग्रन्थ लिखनेवाली लक्ष्मीदेवी चौदहवीं सदी में हुईं, जिनका ग्रन्थ आज भी हिन्दू-क़ानून में एक विशेष स्थान रखता है और मिथिला में तो वही माना जाता है। राजपूत स्त्रियों की पति-भक्ति ही नहीं, आन और मान के लिए हँसते-खेलते आत्म-त्याग एवं वीरता के उदाहरण दुनिया में ढूँढे भी मिलने मुश्किल हैं। झाँसी की वीर महारानी लक्ष्मीबाई और इंदौर की महारानी अहल्याबाई आज भी भारतीय नसों में वीरता और स्वातंत्र्य-प्रेम के भाव भर रही हैं। मुसलमान स्त्रियों में रज़िया बेगम और चाँद-बीबी शासन और बहादुरी के लिए, नूरजहाँ अपने सौंदर्य के लिए, और औरंगज़ेब की लड़की ज़ेबुन्निसाँ अपने कवित्व के लिए प्रसिद्ध हैं।

वर्त्तमान काल अंग्रेज़ी शासन का काल है। अंग्रेज़ी शासन में गुलामी की कड़ियाँ दृढ़ तो हुईं, पर हुईं क़ानून और व्यवस्था के नाम पर। अतः एक ओर अधिक-से-अधिक जकड़े जाते हुए भी दूसरी ओर कुछ आज़ादी-सी भी प्रतीत होने लगी। फिर राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुषों ने सुधार का शङ्खनाद किया। आन्दोलन और प्रचार बढ़ा। फलतः पुरुषों ने स्त्रियों की कठिनाइयों-अयोग्यताओं को कुछ समझा, उधर

स्त्रियों को भी अपनी स्थिति का कुछ ज्ञान हुआ। नवीन जागृति की प्रभा फूटी। राजा राममोहन ने ब्रह्मसमाज स्थापित कर सुधार का प्रयत्न किया और सती-प्रथा के नाश का तो बहुत-कुछ श्रेय उन्हींको है। इधर स्वामी दयानन्द ने विधवाओं के पुनर्विवाह तथा स्त्रियों की दूसरी असुविधाओं पर ज़्यादा ध्यान दिया। और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा अन्य महानुभावों के प्रयत्न से विधवा विवाह की भी कम-से-कम क़ानूनन तो इजाज़त मिल ही गई। अन्य सुधारों के लिए भी आवाज़ तो काफ़ी समय से लग रही है, राष्ट्रीय महासभा के जन्म से ही स्त्रियों की भी सभायें होती आ रही हैं, इधर शिक्षा-प्रसार एवं नये-नये विदेशी विचारों के प्रचार और विदेशियों के बढ़ते जानेवाले संसर्ग से भी इस दिशा में कुछ काम हो रहा है। रमाबाई रानाडे, पंडिता रमाबाई, सरोजिनी नायडू और सरला-देवी चौधरानी इस दिशा में प्रयत्नशील होनेवाली सर्व-प्रथम महिलायें हैं। मुख्यतः सामाजिक सुधारों पर ही प्रारम्भ में सबका ध्यान रहा है। शारदा-सदन, सेवा-सदन आदि संस्थायें भी खुलीं। किन्तु १९१० से पहले संगठित रूप से सर्व-भारतीय आन्दोलन कोई उठा हो,ऐसा मालूम नहीं पड़ता। १९१० में विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों को एक संगठन में शामिल करने के उद्देश्य से भारत-स्त्री-महामण्डल की स्थापना हुई, परन्तु अपरिपक्वावस्था होने के कारण वह जड़ न पकड़ सका। इसके बाद १९१४-१६ का होमरूल-आन्दोलन शुरू हुआ,उससे स्त्रियों में भी जागृति फैली। इसी समय फ़िजी में भी शर्त्तबन्धी ग़ुलामी के विरुद्ध आन्दोलन हो रहा था। वहाँ स्त्रियों पर जो अत्याचार होते थे, भारतीय स्त्रियाँ भी उससे प्रभावित हुईं; और अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल संगठित कर उन्होंने उस ओर वाइसराय का ध्यान आकर्षित किया, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। इसके बाद १९१६ में होमरूल आन्दोलन की नेत्री श्रीमती एनी बेसेण्ट के निर्वासन पर स्त्रियों में हलचल मची; स्त्रियों की अनेक सभायें उसके विरोध में हुईं, यही नहीं वरन् उनके छुटकारे की प्रार्थना करने के

लिए सामूहिक-रूप में स्त्रियाँ मन्दिरों में भी गईं। इसीके आस-पास स्त्री-संगठन की भी लहर चली। विभिन्न प्रान्तों में स्त्रियों के कई संगठन क़ायम हुए, परन्तु विस्तृत रूप में भारतीय नारी-संघ (Women's Indian Association) की स्थापना ही उन सबमें श्रेष्ठ और स्थायी हुई। श्रीमती डोरोथी जिनराजदास के प्रयत्न इस दिशा में मुख्य थे; और यही अब भी भारतीय स्त्रियों की सबसे अधिक विस्तृत और संगठित संस्था है। विभिन्न स्थानों में इसकी शाखायें फैली हुई हैं, चार अक्षरों में इसकी सदस्याओं की संख्या का शुमार होता है, और शिक्षा, समाज-सुधार एवं राजनैतिक प्रगति इन तीनों दिशाओं में यह स्त्रियों के लिए काम कर रहा है। श्रीमती मार्गरेट ई० कज़िन्स इसकी मंत्रिणी हैं, जिन्होंने अपनी लगन और अदम्य उत्साह से भारतीय स्त्रियों के हृदय में घर कर लिया है। मुख्यतः इन्हींके प्रयत्न से १९१७ में स्त्री-आन्दोलन के एक नये अध्याय की शुरुआत हुई, जब कि शासन-सुधारों के संबंध में जाँच करने के लिए भारत-मंत्री स्वर्गीय श्री माण्टेगु भारत आये थे। श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में सर्व-श्रीमती बेसेन्ट, कज़िन्स, डोरोथी जिनराज-दास, सरलादेवी चौधरानी, सरलाबाई नायक, रमाबाई नीलकण्ठ, श्री-नगम्मा, चन्द्रशेखर अय्यर, गुरुस्वामी चेट्टी, हीराबाई ताता, अबला बोस, हसरत मोहानी, उमा नेहरू, संजीवराव और कुमारी हेना बाई पेटिट आदि विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल मद्रास में श्री माण्टेगु से मिला, और प्रार्थना की कि, "प्रजा का अर्द्धभाग होने के कारण, संयुक्त (हिन्दू-मुस्लिम) योजना में प्रस्तुत माँग का सीधा असर हमारे हितों पर भी पड़ता है, जिसमें कहा गया है कि 'कौंसिल के सदस्य यथासम्भव अधिक-से-अधिक मताधिकार के साथ जनता द्वारा चुने जाने चाहिएँ' और आवेदनपत्र में जो कहा गया है कि 'मताधिकार की वृद्धि कर उसे जन-साधारण तक पहुँचाना चाहिए।' अतः हमारी प्रार्थना है कि जब ऐसे मता-धिकार की योजना बनाई जाय तो उसमें स्त्रियों को 'जनता' (People)

के रूप में स्वीकार किया जाय और उसकी शब्द-योजना ऐसी रहे कि जो स्त्रियों को मताधिकार के अयोग्य न क़रार देकर पुरुषों की ही तरह स्त्रियों को भी प्रतिनिधित्व का अवसर प्रदान करे।" राष्ट्रीय महासभा में शुरू से ही स्त्रियों को स्थान मिलता रहा है, उन्होंने मत दिया है और प्रतिनिधि भी चुनी जाती रही हैं; और इस वर्ष तो एक स्त्री, श्रीमती बेसेण्ट, ही उसकी सभानेत्री भी चुनी गई थीं। इस बात का ज़िक्र करते हुए कहा गया कि "इस प्रकार भारतीय लोकमत अपनी स्त्रियों को उत्तरदायी और स्वीकृत नागरिकता देने के पक्ष में है। अतः ज़ोरों के साथ हमारी यह प्रार्थना है कि प्रतिनिधित्व की योजना तैयार करते समय स्त्रियों को मताधिकार या सार्वजनिक सेवा (सरकारी नौकरी) के अयोग्य क़रार न दिया जाय।" भारतीय समाज-सम्मेलन ने तुरन्त स्त्रियों की माँग का समर्थन किया, जब कि इसी साल उसने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया—"स्त्रियाँ जिस स्थिति या धन्धे के उपयुक्त हों, स्त्री होने ही के कारण वे उनसे वंचित न रक्खी जायँगी।" और दूसरे ही वर्ष, १९१८ में, मुसलिमलीग और काँग्रेस ने भी स्त्रियों के मताधिकार की माँग को स्वीकार कर लिया। काँग्रेस ने निश्चय किया कि "(सुधार) योजना में (मताधिकार की) जो योग्यतायें रक्खी गई है उन्हें रखने वाली स्त्रियों को स्त्री होने ही के कारण अयोग्य न क़रार दिया जायगा।" परन्तु जब माण्टफ़ोर्ड-योजना प्रकाशित हुई तो सबने आश्चर्य के साथ देखा, उसमें स्त्रियों के मताधिकार का कोई ज़िक्र न था। स्त्रियों को धक्का तो लगा, पर हताश न हुईं; और जब साउथबरो फ्रेंचाइज़ कमिटी (Southborough Frenchise Commi tee) मताधिकार के विचारार्थ बैठी तो ८०० स्त्रियों के हस्ताक्षर से एक आवेदनपत्र पेश कर स्त्री-मताधिकार की माँग पेश की गई। किन्तु उसने भी स्त्रियों का समर्थन न किया। इसके बाद सुधारों को क्रियात्मक-रूप देने के लिए पार्लमेण्ट के दोनों हाउसों की एक जाइण्ट-सेलेक्ट कमिटी बनी, उसके सामने भी श्रीमती बेसेण्ट, सरोजिनी नायडू

और श्रीमती तथा कुमारी हीराबाई ताता की गवाहियाँ हुईं। लेकिन इतने लम्बे-चौड़े प्रयत्नों के बाद भी सफलता सिर्फ़ इतनी मिली कि सुधारों के नियमोपनियम इस ढंग से बनाये गये, जिसमें आरम्भ में तो स्त्रियों को मताधिकार के अयोग्य रक्खा गया परन्तु जिस प्रान्त की व्यवस्थापक सभा स्त्रियों के मताधिकार का निर्णय कर दे उसमें उन्हें आसानी से मतदाताओं में शुमार किया जा सके। मतलब यह है कि अपनी ओर से कोई निर्णय न कर भारतीयों पर ही इसका निर्णय छोड़ दिया गया। फलतः सबसे पहले मद्रास-कौंसिल में ही, १९२१ में, स्त्रियों को मताधिकार देने का प्रस्ताव रक्खा गया, जो सबसे अधिक कट्टर प्रान्त माना जाता है। कोई १॥ घण्टे की ही बहस में वह स्वीकृत भी हो गया। बम्बई-कौंसिल में भी प्रस्ताव पेश हुआ; पहले तो कुछ अनियमितताओं के कारण वह स्वीकृत न हुआ, किन्तु दूसरी बार रक्खा जाने पर तीन दिन की बहस व ४० सदस्यों के पक्ष-विपक्षी भाषणों के बाद वह स्वीकृत हो गया। बंगाल-कौंसिल में भी तीन दिन तक बहस हुई, पर मुसलमानों के सामूहिक विरोध से स्वीकृत न हो सका; आख़िर १९२५ में जाकर वह स्वीकृत हुआ। बिहार-उड़ीसा में भी अस्वीकृत हुआ, जो फिर १९२९ में जाकर स्वीकृत हुआ है। युक्तप्रान्त ने तो दुनियाभर को मात कर दिया, जबकि सर्वसम्मति से १९२९ में उसने इसे स्वीकार कर लिया। आसाम ने १९२४ में इसे स्वीकार किया। पंजाब ने बिना डिवीज़न के १९२६ में इसे मान लिया, और इसी वर्ष मध्यप्रान्त में भी यह स्वीकृत हो गया। इस प्रकार होते-होते ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों में स्त्रियों को कौंसिलों का मताधिकार प्राप्त हो गया है; और असेम्बली ने भी उन्हें अपना मताधिकार प्रदान कर दिया है। परन्तु कौंसिलों में चुने जाने का हक़ तो उन्हें तभी प्राप्त हुआ, जबकि १९२६ में मुडीमेन-कमिटी ने इस बात की सिफ़ारिश की। इस दिशा में भी मद्रास सर्व-प्रथम रहा और १७ जुलाई १९२६ को मद्रास-कौंसिल ने स्त्रियों को सदस्य बनाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। बाद में बम्बई, पंजाब, युक्तप्रान्त, आसाम और मध्यप्रान्त ने

भी उसका अनुसरण किया; और असेम्बली ने भी अपने यहाँ स्त्रियों के सदस्य होने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। परन्तु यह सब हुआ इतनी देर से कि स्त्री-सदस्यों का चुन कर जाना मुश्किल था; अतः मद्रास, युक्त-प्रान्त, मध्यप्रान्त ने कम-से-कम कहने के लिए तो अपने यहाँ स्त्री-सदस्य नामज़द कर ही लिये। मद्रास में तो डा० म्युथुलक्ष्मी अम्मल की योग्यता ने फिर उन्हें उपाध्यक्ष के पद पर भी आसीन कर दिया। रियासतों में त्रावणकोर ने ब्रिटिश भारत से भी पहले स्त्रियों को मताधिकार दे दिया, झालावाड़ ने तुरन्त उसका अनुसरण किया; बाद में मैसोर, कोचीन, राज-कोट ने भी इस ओर पदार्पण किया। त्रावणकोर, कोचीन और राजकोट तो ऐसे राज्य हैं कि जिनमें क़ानूनन तो स्त्रियों की अयोग्यतायें दूर ही कर दी गई हैं—स्त्रियाँ मत दे सकती हैं, चुनी जा सकती हैं, और शासन में भी भाग ले सकती हैं। और म्युनिसिपल मताधिकार तो कोई १५-१६ वर्ष पूर्व ही मद्रास व बम्बई की स्त्रियों को तो मिल चुका था, बिहार व बंगाल में बाद को मिला; रियासतों में भी कई में यह दिया गया है। समाज-सुधार की दिशा में सर हरिसिंह गौड़ के प्रयत्न से असवर्ण विवाह का तथा रायसाहब हरविलास सारडा के प्रयत्न से बालविवाह-निषेधक विधान भी बन चुके हैं और स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के लिए विधान बनाने का प्रयत्न हो रहा है। शिक्षा की दिशा में भी स्त्रियाँ सजग हैं। इसके लिए उन्होंने अपना एक अलग ही संगठन बनाया है, जिसकी ओर से हर साल स्त्रियों की शिक्षा-विषयक सर्व-भारतीय एवं प्रान्तिक परिषदें होती रहती हैं। १९२६ में इसके लिए उद्योग शुरू हुआ था, १९२७ में महारानी गायकवाड़ की अध्यक्षता में पूना में इसका प्रथमाधिवेशन हुआ। उसके बाद इसके कई अधिवेशन हो चुके हैं; और अब इसने शिक्षा के साथ समाज-सुधार को भी अपना क्षेत्र बना लिया है। 'भारतीय नारी-संघ' के बाद शायद यही स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ सर्व-भारतीय संगठन है; और पहला जहाँ दक्षिण भारत में ज़्यादा फैला

हुआ है, यह उत्तर भारत में अधिक फैला हुआ है। इसके हर साल अधिवेशन होते रहते हैं और कई अच्छे-अच्छे प्रस्ताव इसने पास किये हैं। प्रस्तावों में इसने स्त्रियों को खेती की शिक्षा दी जाने पर भी ज़ोर दिया है; और इसके भाषणों में प्रेम व भाईचारे से अपने अधिकार प्राप्त करने पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया है। इसके अलावा और भी कई विविध संस्थायें स्त्री-सुधार की दिशा में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में काम कर रही हैं, जिनमें कोई एकदम क्रान्तिकारी विचारों को लिये हुए हैं और कोई बहुत नम्र विचार वाली। शिक्षा की दिशा में जालन्धर का कन्या-महाविद्यालय तो प्रसिद्ध है ही, हिंगणे (पूना) का करवे-विद्यापीठ जापानी पद्धति पर शुरू होकर बड़ी महत्वपूर्ण संस्था बन गया है। असहयोग के बाद प्रयाग में भी एक महिला-विद्यापीठ की स्थापना हुई है, तथा और भी कई छोटी-मोटी संस्थायें इस दिशा में काम कर रही हैं। असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप जन-साधारण में जो महान् जागृति हुई, स्त्रियों पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ा है। इस आन्दोलन में, जैसा सब जानते हैं, स्त्रियों ने पुरुषों के कन्धे-से-कन्धा मिला कर मातृ-भूमि के लिए कष्ट और आपदायें सहीं—जेल ही नहीं, दुर्वाक्य और लाठी-प्रहार भी उन्होंने सहे और फिर भी निरुत्साहित न हुईं। फलतः उनमें आत्म-विश्वास ही नहीं बढ़ा, परदा आदि जिन बातों के विरुद्ध वे प्रयत्नशील थीं उनकी कड़ियाँ भी ढीली पड़ गईं; और समाज में उनकी स्थिति बढ़ना तो स्वाभाविक ही था। इसी दर्मियान सहवास वय पर विचार करने को एक सरकारी कमिटी बैठी थी, उसमें श्रीमती रामेश्वरी नेहरू को भी रक्खा गया था; और गोल-मेज़-परिषद् में भी पहले तो श्रीमती सुब्रायन व बेगम शाहनवाज़ को ही रक्खा गया था, इस बार श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी आमन्त्रित किया गया है। और काँग्रेस तो स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव रखती ही क्यों है—सिवा तत्सम्बन्धी योग्यता-उपयुक्तता के? श्रीमती एनी बेसेण्ट ही नहीं, श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी वह अपना सर्वोच्च पद—राष्ट्रपतित्व—प्रदान कर चुकी है

और अपने में भी उसने उन्हें स्थान दिया है। अन्य सब दिशाओं में भी थोड़े-बहुत प्रयत्न जारी हैं—थोड़ी-बहुत सफलतायें भी मिलती रही हैं, और उनके लिए प्रयत्न तो होते ही रहते हैं। पुरुषों की भी स्त्रियों के साथ अभीतक तो प्रायः सहानुभूति ही है, क्योंकि, भारतीय स्त्री-आन्दोलन की एक प्रमुख नेत्री श्रीमती कमलादेवी के कथनानुसार "यह एक नई स्थिति (Order) या नई प्रथा की स्थापना का नहीं बल्कि किसी क़दर अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को ही पुनः प्राप्त करने और अमल में लाने का प्रयत्न है—यद्यपि है यह एक भिन्न इच्छा और प्रयत्न के साथ, अर्थात् आधुनिक स्थितियों के अनुसार उसे बनाने का।" और उन्हींके कथनानुसार, "इस मुख्य बात को हमें याद रखना चाहिए कि मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टि से भारत की स्त्रियों का प्राचीन-सम्मानित पद कभी नहीं छिना है; बाहरी प्रभावों के आक्रमण हुए ज़रूर, किन्तु वे उसकी सिर्फ़ बाहरी स्थिति को ही प्रभावित कर सके।" अतः, उनका कहना है, "इस प्रकार भारत का स्त्री-अन्दोलन यूरोप की अपनी बहनों के आन्दोलन से बहुत अधिक भिन्न है। यह ठीक है कि बरसों से पुरुष ही सर्वत्र अपना अधिकार किये हुए हैं और कठोर नियमों-प्रथाओं से उन्होंने स्त्रियों को अलग रखकर उनके प्रभाव को मर्यादित कर रक्खा है; परन्तु पुरुषों ने स्त्रियों के किसी क्षेत्र या धन्धे में प्रवेश करने के हक़ को कभी अमान्य नहीं किया है। यहाँ तक कि जब स्त्रियाँ अपने एकान्त से हटकर पुरुषों के साथ अपने उपयुक्त स्थान ग्रहण करने लगीं तब भी उन्हें कोई नई या विचित्र अनोखी बात न मालूम हुई। इस प्रकार इस आन्दोलन को पुरुषों के ख़िलाफ़ विद्रोह या क्रान्ति नहीं कहा जा सकता, यह तो किसी क़दर अपनी स्थिति की पुनःप्राप्ति का ही प्रयत्न है। न तो प्रतिस्पर्धा के भाव से यह उठा है, न इसमें हिंसा का ही प्रयोग हुआ है; यह तो शान्त अभिव्यक्ति का ही आन्दोलन है।"

उपसंहार

स्त्रियों का वर्त्तमान आन्दोलन कैसे शुरू हुआ और किस प्रकार बढ़ता गया, यह हम देख चुके। जिस मार्ग पर और जिस ढंग से वे अग्रसर हो रही हैं, उसे देखते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि आज या कल अन्त में एक दिन ऐसा आने वाला है, जब समाज का बिलकुल कायापलट हो जायगा। स्त्री-पुरुष का जो वर्त्तमान सम्बन्ध है वह न रहेगा, और घर जो वर्त्तमान-समाज की इकाई (Unit) है वह नष्ट हो जायगा। अभी का जो समाज है उसकी नींव परस्पर के सहयोग पर है, परन्तु वर्त्तमान उथल-पुथल के फलस्वरूप जो समाज अथवा स्थिति उत्पन्न होगी वह इसके विपरीत वैयक्तिक स्वावलम्बन का आधार रक्खेगी। आज का धर्म है परस्पर-पूरकता, और उस समय का धर्म होगा प्रतिस्पर्धा एवं आत्म-प्रस्फुटन Self-assertion)।

स्त्रियों का यह दावा है कि उनकी बन्धन-ग्रस्तता के कारण अद्यापि सृष्टि का जो रूप है वह मात्र पुरुष-पक्षीय है, स्त्रियों की मुक्ति से उसमें पूर्णता अतएव सुन्दरता आयगी; और उस हालत में वह न केवल अधिक कल्याणकर बल्कि वास्तविक स्वरूप को भी प्राप्त होगी। अर्थात् सुन्दर के साथ ही उसे शिव और सत्य स्वरूप भी प्राप्त होगा; और इस प्रकार स्त्री-मुक्ति या स्त्री-स्वातन्त्र्य का यह आन्दोलन और कुछ नहीं, सृष्टि में सत्यं-शिवं-सुन्दरं की ही स्थापना का प्रयत्न है।

अवश्य उस हालत में कोई किसी का गुलाम न रहेगा; न तो पुरुष स्वामी होगा और न स्त्री दासी। सब अपने-अपने स्वतन्त्र रहेंगे, खायेँ-कमायँगे और मौज करेंगे। आज की तरह बन्धन न रहेंगे; न तो पुरुष के लिए यह आवश्यक होगा कि वह अपने बीबी-बच्चों की उदर-पूर्त्ति तथा नाज़-नखरों के लिए सिरतोड़ परिश्रम करके कहीं-न-कहीं से कुछ-न-कुछ कमाकर लावे ही, न स्त्री ही इस बात के लिए बाध्य होगी कि वह घर

ही में सीमित रहे और घर-गृहस्थी के ही कामों में अपने दिल-दिमाग़ को खपाया करे। रहे बच्चे; सो जब पुरुष उनकी सार-सम्हाल को बँधे नहीं रहते, तो फिर स्त्रियाँ ही क्यों उनके बन्धन में पड़ें ? फलतः जैसे स्त्रियों और पुरुषों के स्वच्छन्द निवास-भोजनादि के लिए होटल-क्लबादि होंगे, बच्चों की रक्षा-परवरिश के लिए भी राज्य शिशु-गृहों आदि की व्यवस्था करेगा। मतलब यह कि सब सम-समान होंगे और राज्य-रूपी केन्द्र के अन्तर्गत स्वच्छन्द और स्वतन्त्र मौज करेंगे। नीति और धर्म के बन्धन का अड़ंगा भी फिर क्यों रहे ? आधुनिक रूस ने धर्म को अफ़ीम की तरह हानिकारक क़रार देकर इस दिशा में पथ-प्रदर्शन कर भी दिया है। इस प्रकार भविष्य की जो कल्पना है, वह हमारे सामने बिलकुल निर्मुक्त और स्वाधीन व्यक्तियों का चित्र प्रस्तुत करती है; और यह ज़रूरी नहीं कि वह निर्मुक्तता और स्वाधीनता किसी एक ही वर्ग या जाति की सम्पत्ति अथवा विरासत हो—पुरुष-स्त्री, मानव-सृष्टि के दोनों वर्ग, पूर्ण समानता के साथ उसका उपभोग करेंगे और उन्हें करना चाहिए।

कितनी सुन्दर और सुखद कल्पना है यह ? काश हम भी कल्पना के जगत् में निवास करते !

परन्तु अफ़सोस, "प्रकृति के नियम इस इच्छित एकरूपता के विरुद्ध हैं।" जैसा कि 'नाइण्टीन्थ सेंचुरी' में सर आर्थर अण्डरहिल ने लिखा है, "पुरुष-स्त्री चाहे 'समान' हों परन्तु समानता का मतलब एकरूपता ही नहीं है। पुरुष-स्त्री दोनों मूलतः भिन्न हैं, न केवल शारीरिक दृष्टि से बल्कि जीवन के दृष्टिकोण में भी। और जो स्त्रियाँ पुरुषों की शक्ल-सूरत और उनकी कठोरता रूखेपन को अपनाने का प्रयत्न करती हैं वे मानों हमें, उस विचित्र जन्तु का स्मरण कराती हैं, जो अपनेको बिच्छू दर्शाने के लिए अपनी पूँछ को सिर पर घुमा लेता है—यह समझ कर कि जैसा मैं दीख रहा हूँ वैसा ही समझ लिया जाऊँगा, हालांकि असली चीज़ जो डंक है वह उसके पास होता ही नहीं है।"

श्रीमती मेयरिक बूथ ने ('नाइण्टीन्थ सेंचुरी' में) बिलकुल ठीक कहा है कि आजकल लच्छेदार शब्दों और वाक्यों की धाँधली चल रही है। पुरुष-स्त्री के बीच की स्वाभाविक भिन्नताओं की उपेक्षा करनेवाली भावनाओं और हलचलों को बिलकुल निरर्थक रूप में 'प्रगतिशीलता' का नाम दिया जाता है। यह कहना कि पुरुष-स्त्री मानसिक एवं नैतिक गुणों में यदि बिलकुल नहीं तो भी क़रीब-क़रीब एक-से हैं और उन्हें एक-सी शिक्षा और एक-से ही धन्धों का उपभोग करना चाहिए, 'प्रगतिशील' होना है; इसके विपरीत जो पुरुष-स्त्री की शाश्वत भिन्नता में एक गम्भीर अर्थ देखते हैं और कहते हैं कि इस फलप्रद भिन्नता का यदि सम्पूर्ण सिञ्चन किया जाय तो उससे सभ्यता को समृद्धि एवं जीवन मिलेगा, बिना आगा-पीछा सोचे उनपर 'कूपमण्डूक' या 'प्रतिक्रियावादी' होने की छाप लगा दी जाती है। परन्तु यही सच हो, सो बात नहीं; नई-नई जो शोधें हुई हैं वे तो कुछ और ही ज़ाहिर करती हैं।

इंग्लैण्ड के हेवलाक एलिस, अमेरिका के स्टैनली हाल तथा मोल, फ्रूड इत्यादि अन्य यूरोपीय मानसशास्त्रियों ने सबसे हाल में इस सम्बन्धी जो महान् शोधें की हैं उनको देखते हुए यह कहना बहुत कठिन है कि शिक्षा या काम-धन्धों में पुरुषत्व या स्त्रीत्व का बिलकुल या बहुत-कुछ महत्व नहीं है। "स्त्री-मस्तिष्क नाम की कोई चीज़ नहीं है और मस्तिष्क पुरुषत्व या स्त्रीत्व का अवयव नहीं है", 'वूमन एण्ड एकानामिक्स' में लिखित श्रीमती सी. पी. गिलमेन का यह अथवा इस जैसे अन्य कथन अब बिलकुल असंगत प्रतीत होते हैं।

"स्वातन्त्र्य-वादिनियों के पुरुष-स्त्री के भेदभाव को मूल सामाजिक सिद्धान्त मानने से इन्कार करने ही का यह परिणाम है कि," श्रीमती मेयरिक बथ के लेखानुसार, "उनके लिए अपने खुद के कोई निश्चित उद्देश्य या आदर्शों की प्रगति करना सम्भव न हुआ; क्योंकि यह तो केवल तभी हो सकता था कि जब उनकी विशेष प्रकृति (Specific

character) को स्वीकृत किया जाता। फलतः, पुरुष की श्रेष्ठ निश्चयात्मकता की ही विजय हुई है। आधुनिक स्त्री-स्वातन्त्र्य का व्यावहारिक रूप में यही अर्थ रह गया है कि स्त्रियाँ पुरुष-निर्मित सामाजिक एवं औद्योगिक पद्धति में ही प्रवेश करती जा रही हैं। आज वह स्त्री ही है, जो अपने चरित्र की जन्मजात कोमलता (Pliability) के साथ सब तरह पुरुष के कामों का ही अनुकरण करने में व्यस्त है। पुरुषीय प्रभाव ने आज की कन्याओं को स्तम्भित कर दिया है; और अपने निज के जीवन का कोई सिद्धान्त न होने से, जो कुछ पुरुष कर चुके हैं, उसका अनुसरण करने में ही वे सन्तुष्ट हैं।" और 'फेमिनिज़्म' के लेखक डा० क्नडसन के शब्दों में कहें तो, "ऐसी कोई बात नहीं है कि जिससे हम यह कह सकें कि सृष्टि के आरम्भ से अबतक भी स्त्रीत्व पुरुषत्व के निकट पहुँच पाया हो, सिवा उस हद तक कि जिन बातों को स्त्रियाँ पुरुषों के दुर्गुण कहती हैं उन्हींको वे नक़ल करने की कोशिश कर रही हैं।"

सच तो यह है कि ऐसा मालूम पड़ता है, मानों स्त्रियों ने अपने पुरुषीकरण को ही न स्त्री-मुक्ति समझ लिया हो! हर बात में वे बिलकुल पुरुष-जैसी ही बनती जा रही हैं। और उसीके लिए प्रयत्नशील हैं—सिवा एक उस बात के कि जिसके अनुपयुक्त उस विधाता ने ही उन्हें कर दिया है, जिसे उनमें से अनेक चाहे मानती भी न हों। परन्तु जैसा कि श्रीमती डा० अराबेला केनीली ने अपने विचारोत्तेजक ग्रन्थ (Feminism & Sex Extinction) में लिखा है, हमें यह न भूलना चाहिए कि जैसे मर्दों का ज़नानापन पतन या गिरावट की निशानी है वैसे ही लड़कियों या औरतों का मर्दानापन (पुरुषीकरण) भी अधःपात का ही चिन्ह है; और यह भी समाज के लिए वैसा ही ख़तरनाक है। उनके कथनानुसार, पुरुष-स्त्री प्रत्येक में विपरीतवर्ग के गुण अन्तर्निहित रहते हैं और सर्वोत्तम पुरुष वही हैं, जो स्त्रियोन्मुख हों। परन्तु यदि विपरीतवर्ग के गुण अत्यधिक बढ़ जायँ तो पतन हो जाता है।

"कन्याओं को ज़बर्दस्ती पुरुषों के ढंग पर चलाने से उनके स्वास्थ्य पर बड़ा भयंकर और स्थायी दुष्परिणाम होता है"—यह लिखते हुए डा० अराबेला केनीली ने बतलाया है कि आधुनिक स्त्रियों को पुरुषों के सब काम-धन्धों व खेलों को अपनाने की बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी है। क्योंकि, "प्रकृति ने स्त्री का शरीर और उसके स्नायु ख़ास तौर पर स्त्रियों के अपने कार्यों (Racial functions) के अनुसार ही बनाये हैं, और वे कार्य ऐसे हैं कि उन्हींमें उनकी बहुत-कुछ शक्ति लगने की ज़रूरत है। और जब कन्याओं को इसके विपरीत करना पड़ता है, या जब वे पुरुषों की तरह अपने स्नायुओं को हट्टा-कट्टा बनाती हैं जिसकी स्त्रियों को ज़रूरत नहीं), तो जो स्नायुओं की शक्ति भविष्य के उनके अपने कार्यों के लिए सुरक्षित रहनी चाहिए वह या तो ख़र्च हो जाती है अथवा दूसरे स्रोतों में वह निकलती है।" हाकी, फुटबाल, टेनिस, शिकार इत्यादि मर्दाने कामों व खेलों में जो स्त्रियाँ पुरुषों की समानता करती हैं, अपने भावी जीवन में उन्हें अपने उस अस्वाभाविक विकास की अक्सर गहरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। डा० अराबेला केनीली का कहना है कि जब युवतियाँ मर्दाने खेलों, अध्ययनाधिक्य या उद्योग-धन्धों की थकावट से दब जाती हैं तो उनकी मूल शक्तियाँ उनकी अपनी आवश्यकताओं से ऐसी भिन्न हो जाती हैं कि उन्हें संपूर्णतया या किसी अंश तक पत्नीत्व और उत्तम एवं स्वस्थ बच्चों की दात्री होने के असमर्थ कर देती हैं। अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस इत्यादि देशों में जिन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ शोध की वे भी ऐसे ही परिणामों पर पहुँचे हैं और उनकी शोधों से ज्ञात होता है कि वहाँ इस स्त्री-स्वातन्त्र्य रूपी स्त्रियों के पुरुषीकरण के फलस्वरूप स्त्रियों में मातृत्व और पत्नीत्व के गुणों का क्रमशः ह्रास होता चला जा रहा है। अमेरिका के विशेष अनुभवी स्वर्गीय अध्यापक एञ्जलमेन ने तो लिखा था, "जो स्त्रियाँ अपनी मर्दानगी बढ़ाती हैं, ख़ास तौर पर प्रसव के समय वे बड़ा दुःख पाती हैं।"

इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध हेवलाक एलिस ने भी स्पष्ट लिखा है कि "जिन स्त्रियों ने बाहरी जीवन विताया और खूब हट्टी-कट्टी व खिलाड़ी रहीं... प्रायः गर्भावस्था में उन्हें बहुत मुश्किल पड़ती है, जिससे बच्चे का जीवन भी दूभर हो जाता है।" यही हाल अन्य स्वातन्त्र्योन्मुख देशों का है।

सम्भव है कि कोई कहे, 'यदि ऐसा भी हो तो क्या हर्ज है? स्त्रियाँ बच्चे पैदा करनेवाली ही क्यों बनें—उनकी बला से, इसके लिए वे अपने को बन्धनग्रस्त क्यों करें?' यह ठीक भी हो सकता है, परन्तु तभी कि जब बच्चे पैदा करने का कोई और उपाय मिल जाय। जैसा कि श्रीमती मेयरिक बूथ ने लिखा है, हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि, "स्त्री-पुरुष की समानता का वाक्य बिलकुल निरर्थक है, जबतक कि उसकी अच्छी तरह व्याख्या न हो जाय। पूर्ण-समानता की प्राप्ति के लिए स्त्रियों के पुरुषीकरण के साथ ही पुरुषों का स्त्रीकरण भी आवश्यक है, मातृत्व जिसका सबसे महत्वपूर्ण अंग है। चूँकि यह असंभव है, यह स्पष्ट है कि पुरुष-स्त्री की पूर्ण समानता भी असम्भव है; अतः हमें दोनों के क्षेत्रों को इस प्रकार समतौल रखकर ही सन्तोष करना चाहिए कि जिसमें स्त्री का कार्य नैतिक और आर्थिक दृष्टि से पुरुष के काम के बराबर ही महत्वपूर्ण रहे। इस विचार को तो हमें हर तरह दबाना चाहिए, जो कि आधुनिक कन्याओं के मस्तिष्क में बड़ा गहरा घर किये हुए है, कि वे अपनी समानता का प्रदर्शन हर बात में केवल पुरुषों की नक़ल करने से ही कर सकती हैं। यह तो एक ऐसा विचार है कि जिसका मूल अपने को छोटा या हीन मानने (Inferiority Complex) में ही है।"

फिर जिस समानता के सिद्धान्त पर इस सारे आन्दोलन का आधार है, वह भी क्या भ्रमात्मक नहीं? अवश्य एक समय ऐसा था, जब इस सिद्धान्त ने अपना बहुत-कुछ सिक्का जमा लिया था। जॉन स्टुअर्ट मिल और विक्टोरियाकालीन बुद्धिवादियों को निस्सन्देह ऐसा प्रतीत हुआ था कि पुरुष-स्त्री के बीच की भिन्नता केवल शारीरिक भिन्नता है, परन्तु जैसा कि

श्रीमती मेयरिक बूथ तथा डा० क्लडसन आदि ने लिखा है, उन्हे वैज्ञानिक मनोविज्ञान का कोई ज्ञान न था—अथवा, यों कहें तो ज्यादा अच्छा होगा कि उस समय उसका इतना विकास न हुआ था। पर उसके बाद मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और समाजशास्त्र की बड़ी उन्नति हुई है और विचार के अनेक नये रास्ते खुल गये हैं। "भौतिकशास्त्रीय मनोविज्ञान के अध्ययन ने हमें बतला दिया है कि मानव व्यक्तित्व उसके एक ही सम्पूर्ण रूप में देखा जाना चाहिए, मस्तिष्क एवं शरीर की क्रिया-प्रक्रियायें ऐसी घनिष्ठता के साथ होती हैं कि व्यावहारिक रूप में यह कहना नितान्त अशक्य है कि कब किसका प्रारम्भ और किसका अन्त होता है।" श्रीमती बूथ के लेखानुसार, "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी स्त्री या पुरुष के मानसिक गुणों (Attributes) पर उसके विशिष्ट वर्ग (Sex) का अत्यन्त महत्वपूर्ण असर पड़ता ही है।" पुरुष-स्त्री में समानता है सही, परन्तु यदि हम जीव-विज्ञान के व्यापक दृष्टिकोण को अपना आधार बनावें तो उसका आशय यही होना चाहिए कि दोनों अपने-अपने महत्व में समान हैं परन्तु दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। इसका मतलब सम-समानता या एकरूपता हर्गिज़ न करना चाहिए। कवि रवीन्द्र ने बिलकुल ठीक लिखा है कि "यदि स्त्री और पुरुष स्वभावतः एक ही होते तो फिर स्त्री तो एक व्यर्थता ही होती, बिलकुल पुनरुक्ति···यदि स्त्रियाँ ऐसा समझ लें कि पुरुष-स्त्री की भिन्नता केवल शारीरिक भिन्नता है, और मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्रकृत रूप में वे बिलकुल पुरुषों के ही समान हैं, और यदि इसी धारणा से (इस प्रकार जीवन को एक-पक्षीय पुरुष-रूप ही देकर) वे काम करें, तो जल्दी या देर में एक-न-एक दिन हमारी सभ्यता बिलकुल गड़बड़ी और अस्तव्यस्तता में डूब जायगी।"

अतः हमें इन अवास्तविक बातों की मृगतृष्णाओं में भटकने के बजाय उसी वास्तविकता पर ध्यान देना चाहिए, जो वास्तव में सत्य है और इसलिए शिव और सुन्दर भी है। उसे अपना लक्ष्य बनायें तभी वस्तुतः

सत्यं, शिवं और सुन्दरं को पाने के हक़दार होंगे । और ऐसा हो सकता
है तभी, जब हम कल्पना के जगत् से नीचे उतर कर व्यावहारिक और
वास्तविक दुनिया में आवें । उस हालत में हेर-फेर कर हम इसी सत्य-सिद्धान्त
पर पहुँचेंगे कि न तो सृष्टि अकेले पुरुषों के बूते चल सकती है और न
अकेली स्त्रियों के; स्त्रियों के इस दावे में कोई तथ्य नहीं कि 'स्त्रियाँ पुरुषों
के बिना काम चला सकती हैं, जबकि पुरुष स्त्रियों के बिना हर्गिज़ समाज
का निर्माण नहीं कर सकते'—ठीक उसी तरह, जैसे कि पुरुषों का यह
कहना कि 'ओह' मानव-जाति अपने समस्त कष्टों से मुक्त हो जाती, यदि
स्त्री-जाति का अस्तित्व न होता और पुरुष किसी अन्य प्रकार बच्चे पा सकते।'
संसार-चक्र तो एक ऐसी गाड़ी है, पुरुष स्त्री जिसके दो पहिये हैं, जो अपने
महत्व में अवश्य समान हैं किन्तु प्रत्येक का पथ दूसरे से भिन्न है।
रस्किन के इस वाक्य में सचमुच बड़ा तथ्य है कि 'एक दूसरे की कमी
की पूर्त्ति करता है ।' इसीलिए, "प्रत्येक उन गुणों में वृद्धि करता है कि
जिनका दूसरे में अभाव होता है । ध्रुवता ऐसा नियम है कि जो विश्व में
प्रसारित है; और वह स्त्री-पुरुष की ध्रुवता या भिन्नता ही है, जो मानव-
संस्कृति को उसके सर्वोत्तम आन्दोलन एवं अमूल्य सन्तोष पर पहुँचा
सकती है ।" अतएव यह परमावश्यक है कि दोनों को अपने-अपने विशिष्ट
मार्ग पर, अपनी-अपनी प्रकृत आवश्यकताओं के अनुसार, आगे बढ़ने का
अवसर मिले ।

"पुरुष-स्त्री मूलतः अपने वैज्ञानिक निर्माण में एक-दूसरे से भिन्न
नहीं हैं अतएव अपनी सामाजिक आवश्यकताओं और इच्छाओं में भी
अभिन्न हैं, यह कहना ख़तरनाक और वैज्ञानिक प्रतिकूलता है" यह लिखते
हुए श्रीमती वूथ ने लिखा है कि उपयोगितावादी-समानता के सिद्धान्त से
प्रभावित होकर आज की हमारी कन्याशालायें सालोंसाल हज़ारहा नौकरी
करनेवाली स्त्रियाँ प्रदान करके मानों आर्थिक यंत्र ही बन रही हैं और इस
प्रकार उनका अधःपात हो रहा है । अतः, उनका कहना है, "कन्याशा-

लाओं को ऐसी स्त्रियाँ तैयार करने का उद्देश्य छोड़ देना चाहिए कि जो जीवन में अपना प्रथम उद्देश्य आर्थिक स्वाधीनता ही रक्खें। शालाओं को तो चाहिए कि वे स्त्रियों का सम्बन्ध उनके अपने जीवन से करें। राष्ट्र जिन शालाओं की सहायता करता है उनसे ऐसी स्त्रियों की माँग करने का उसे अधिकार है कि जो हर तरह राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं जीवविज्ञान-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।"

सचमुच यह बहुत ज़रूरी है कि उस शिक्षा-पद्धति के मूल में ही कुठाराघात किया जाय, उसमें आमूल परिवर्तन किया जाय, जो स्त्रियों में 'खुदी' पैदा करती और आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन होने और तत्पश्चात् अपनेको दुनिया के सारे कर्तव्य-कर्मों से मुक्त समझकर मनमानी करने को उन्हें प्रेरित और प्रोत्साहित करती है। इसका परिणाम तो अन्ततोगत्वा 'खाना-पीना और मौज करना' ही होता है, जो कर्तव्य-कर्मों से घिरे इस जगत् में वांछनीय नहीं। हम यह तो चाहते हैं कि स्त्रियों में अर्थोपार्जन की योग्यता हो, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वे आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन ही रहें। स्त्रियों में अर्थोपार्जन की योग्यता का मतलब भी यही होना चाहिए कि अपने आड़े वक्त आवश्यकतानुसार वे उसका उपयोग करें, ताकि उसके अभाव में किसी अवाञ्छनीय संयोग में उन्हें न पड़ना पड़े; इसे हर हालत में अपना सामान्य धर्म ही उन्हें न बना लेना चाहिए। ऐसा होने का परिणाम तो एक ओर तो उनके स्वास्थ्य का ह्रास होता है, जिससे दुनिया को सन्तति के रूप में अपनी सौगात देने की उनकी शक्ति विशृंखलित होती है; दूसरी ओर इससे उनमें फ़िज़ूलख़र्ची बढ़ती है, जो कोई ख़ास दायित्व न होने और कमाने का मार्ग खुला पड़ा रहने से बिलकुल स्वाभाविक परन्तु राष्ट्र के लिए अहितकर है। साथ ही इसका एक परिणाम बेकारी भी होता है; क्योंकि एक ओर नित्य-नवीन वैज्ञानिक शोधों से काम-धन्धों में काम करनेवालों की आवश्यकता जहाँ कम होती जाती है, दूसरी ओर स्त्रियों के भी उनमें भागीदार होने से भी पुरु-

कार्यकर्त्ताओं की संख्या कम होती ही है, और इस सबका परिणाम बेकारी तथा मजूरी के दामों में कमी होना ही होता है, जैसा कि इङ्गलैण्ड के 'डेली हेरल्ड' और 'लैंसबरीज़' लेबर वीकली' की महिला लेखिका श्रीमती लियोनोरा आइल्स ने अपनी पुस्तक 'वीमन्स प्रॉबलम्स ऑफ़ टुडे' में बतलाया भी है। जहाँ-जहाँ स्त्रियाँ जितनी अधिक संख्या में पुरुषों के काम-धन्धों में पड़ती जाती हैं बेकारों की संख्यायें भी वहाँ अधिकाधिक ही होती जा रही हैं। अतः यह आवश्यक है कि स्त्रियों ने अपनी स्वतन्त्रता की दौड़ में आज इस तत्त्व को जो बिलकुल भुला दिया है उसे फिर से अपनावें कि "पुरुष का आर्थिक महत्व कमाई करने में है और स्त्री का बचत करने में।" कमाना जैसा महत्वपूर्ण है, कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग अर्थात् खर्च करने की योग्यता का भी उससे कम महत्व नहीं है। इसीलिए समाज में घर और बाहर के दो विभाग किये गये हैं। और "पूर्वी नीतिशास्त्र के अनुसार तो," 'कमिंग रिनेसाँ' के लेखक श्री पी० एम० एल० वर्मा लिखते हैं, "यह एक सन्मान की बात समझी जाती थी कि स्त्रियाँ अपनी व्यक्तिगत सेवायें किसी भी मूल्य पर ऐसे कामों में न बेचें, जो उन्हें घर से बाहर करना पड़े।" क्योंकि स्त्रियों की फ़ज़ूलख़र्ची और पुरुषों की बेकारी तो एक ओर, इस मूलभूत तथ्य को भी हम नहीं भुला सकते कि घर से बाहर जो भी काम-धन्धे होंगे उनमें थोड़ी-बहुत प्रतिस्पर्धा अवश्य रहेगी और उसमें किसी निश्चित क़िस्म तथा परिमाण में काम करना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति का परिणाम आत्मा को कुचल डालनेवाला ही न हो तो भी शरीर पर तो उसका असर पड़ेगा ही। स्त्रियों के लिए तो ऐसा कार्य बहुत ही अनुपयुक्त है, क्योंकि उनके विवाहित जीवन और ख़ासकर उनकी मातृत्व-शक्ति पर इसका बहुत नाशक परिणाम होता है। यह कोई ख़याली बात नहीं; बल्कि स्वयं उन स्त्रियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है, जो इस मार्ग पर आरूढ़ हैं। श्रीमती लियोनोरा आइल्स ने निश्चय किया था कि अपनी उदर-पूर्ति के लिए

मैं किसी पुरुष पर निर्भर न रहूँगी, और वस्तुतः वह किसी पर निर्भर रही भी नहीं; परन्तु वर्षों के कटु-अनुभव के बाद अन्त में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि "स्त्री का उचित स्थान घर ही है, कारख़ाना नहीं।" यह ठीक है कि "काम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है; मानव-प्राणियों को कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए, नहीं तो खाली बैठे हुए वे शैतान के चक्कर में पड़ेंगे; क्योंकि मनुष्यों के अन्दर निवास करनेवाला ईश्वरीय अंश निरन्तर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है, निकम्मा कभी नहीं रहता।" परन्तु, वह कहती हैं, "पुरुषों को अपनी रक्षा के लिए जिन कामों की ज़रूरत है वही काम स्त्रियों के लिए आवश्यक नहीं। स्त्रियों का शारीरिक निर्माण तो ऐसा है कि भावनाओं के प्रदर्शन, सन्तानोत्पत्ति और गृहसम्बन्धी पवित्र एवं सुन्दर सेवायें ही उनके लिए पर्याप्त हैं शैतान के चक्कर से बचने के लिए उन्हें पुरुषों की नाईं दूसरे कामों को अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।" "औद्योगिक यंत्र का अंग बनी हुई कोई स्त्री साथ ही उपयुक्त माता नहीं बन सकती, यह मैं जानती हूँ, क्योंकि मैंने खुद इसकी आज़माइश की है।" यह आत्मानुभव बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि "पुरुष-स्त्रियों को आज एक-दूसरे के प्रोत्साहन की ऐसी आवश्यकता है, जैसी पहले शायद कभी नहीं थी। उन्हें साथ-साथ चले-चलने की ज़रूरत है; और साथ ही एक-दूसरे की कृपा व सहानुभूति भी आवश्यक है।" क्योंकि, "हम स्त्री-पुरुष, परस्परावलम्बी हैं। हम मूर्ख हैं, यदि और कुछ बनने का प्रयत्न करें।"

एक बात और। स्वातंत्र्य वादिनी स्त्रियाँ अक्सर, और कभी-कभी उनसे सहानुभूति रखने वाले हम पुरुष भी, पुरुषों पर खूब दोषारोपण करते हैं। यह कहा जाता है कि पुरुष सदा से स्त्रियों को दबाये हुए हैं, वे उनको आगे बढ़ने ही नहीं देते, इसीलिए स्त्रियों का शारीरिक विकास पूरा नहीं होता; अन्यथा और कोई ऐसी बात नहीं कि जिससे स्त्रियाँ पुरुषों-जैसी ही सशक्त न हो सकें, और मानसिक या बौद्धिक रूप में तो अब भी वे

पुरुषों से कम नहीं हैं। मतलब यह कि यदि स्त्रियों पर पुरुषों द्वारा लादे हुए सामाजिक-आर्थिक बन्धन न रहें तो मूलतः स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं और जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों की सफल प्रतियोगिता कर सकती हैं। सचमुच पुरुष आज स्त्रियों से उतना अच्छा व्यवहार नहीं कर रहे हैं, जैसा कि चाहिए था; परन्तु हम ग़लती करेंगे, यदि सिर्फ़ इसीसे यह मान लें कि पुरुष अस्वाभाविक रूप में स्त्री को दबाये हुए हैं। यह कथन तो प्रारम्भ में ही ग़लत है। क्योंकि यदि हम जीवन-संघर्ष में सर्वोत्तम के अस्तित्व (Survival of the fittest) के सिद्धान्त पर ही चलें जो कि आधुनिक जगत् सृष्टि-विकास की कल्पना का मूलभूत मान रहा है, तो यह कैसे संभव था कि स्त्री से श्रेष्ठ हुए बग़ैर पुरुष स्त्री को अपने अधीन कर सकता? यदि पुरुष के शरीरबल की अधिकता को ही इसका कारण मानें तो यह ठीक नहीं; क्योंकि शरीर-बल की ही बात होती तो फिर तो लम्बे-चौड़े डील-डौल और कहीं अधिक शरीर-बल वाले जानवर ही न पृथ्वी पर शासन करते, शरीर-बल में उनसे कहीं निम्न दर्जे का मनुष्य-प्राणी ही क्यों उन सबमें प्रमुख रहता? डा० क्नडसन के शब्दों में कहें तो ऐसी हालत में, "इसी बात को हमें बहुत सम्भव मानना पड़ेगा कि जहाँतक पुरुष के स्त्री को अपने अधीन बनाने की बात है पुरुष ऐसा स्त्री से अपेक्षाकृत ऊँचे दर्जे की बुद्धि रखने के कारण ही कर सका है।" और उन्हीं के शब्दों में "दूसरे शब्दो में कहें तो, खासकर मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में, बुद्धि-सम्बन्धी, स्त्रियों की कमज़ोरी या कमज़ोरियो का कारण पुरुषों का स्त्रियों के प्रति कहा जाने वाला अत्याचार नहीं है; किन्तु इसके विपरीत उनकी यही कमज़ोरी असल में वह कारण है कि जिससे सब समयों और समस्त जातियों में स्त्रियों ने अपने-आपको पुरुषों के अधीन रक्खा है।" ब्रह्मदेश की स्त्रियाँ आज संसार में सबसे अधिक स्वतंत्र स्त्रियाँ हैं। परन्तु 'सोल ऑफ़ ए पीपुल' पुस्तक में हमने उनका जो वर्णन पढ़ा है, उससे मालूम होता है कि कोई बाध्यता न होते हुए भी ब्राह्मी स्त्रियों ने पुरुषों को कई बातों में अधिक

स्वतन्त्रता दे रक्खी है। किसी हद तक यह ज़रूरी भी है, क्योंकि जैसा हम कई जगह लिख चुके, पुरुष-स्त्री का अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, दोनों परस्पर-पूरक हैं, और दोनों अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्रोंमें विकास करके ही सम्मिलित-रूप से पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

निस्सन्देह इन बातों का यह मतलब नहीं कि कोई स्त्री अन्यथा कुछ कर ही नहीं सके। यह न तो सम्भव है, न अनिवार्य। नियम जबतक सामान्यता की सीमा में रहता है, वह हितकर होता है; किन्तु कठोरता और अनिवार्यता में जकड़ा जाने पर वह बन्धन बन जाता है, और बन्धन ही आगे जाकर गुलामी की सृष्टि करता है। अतः ऐसे भी अवसर होते हैं, जब सामान्य धर्म से अन्यथा भी हो सकता है और होता रहा है। कभी-कभी तो ऐसा करना अनिवार्य भी हो जाता है। यदि घर में आग लग रही हो तो घर की व्यवस्था में उथल-पुथल करनी ही पड़ती है; देश को पराधीनता-पीड़ा से उबारने अथवा अन्य सामूहिक हित के कार्यों में भी कभी-कभी अन्यथा करना ही पड़ता है। यह सब काल-धर्म होता है, जैसा युद्धादि अवसरों पर होता रहा है और भारत-मुक्ति के इस समय में भी हो रहा है। फिर यह भी ज़रूरी नहीं कि सभी स्त्रियाँ स्त्री-सुलभ गुणों से ही युक्त हों, वैसे ही कि जैसे सभी पुरुष पुरुषजन्य गुणों से अलंकृत नहीं होते; अतः पुरुषों की ही तरह ऐसी स्त्रियाँ भी सभी कालों में होंगी कि जो पुरुष के क्षेत्रों में अपनी पहुँच रक्खेंगी, हालांकि यह होगा अपवाद-रूप में ही। और इन नियमों का मतलब गुलामी तो हुई नहीं। जैसे कि अरस्तू ने कहा है, बच्चों पर पूर्ण और स्त्री पर वैध-शासन पुरुष करता है सही, पर उसका मतलब गुलामी हर्गिज़ नहीं। और यदि पुरुष आज अपने क्षेत्र से आगे बढ़ गया है तो उसका भी कर्तव्य है कि वह सम्हले; नहीं तो स्त्रियों में जैसी प्रतिक्रिया हो रही है वह स्वाभाविक ही है—फिर चाहे वह वांछनीय न भी हो और उसका परिणाम अन्त में सृष्टि-संहार ही क्यों न हो। यदि हम इस स्थिति से बचना चाहते हैं तो

हमें, स्त्री-पुरुष दोनों को, सम्हलना ही होगा; और यह तभी हो सकता है, जब हम पुरुष-स्त्री को अपने-अपने स्वाभाविक स्थान पर रक्खें, और दोनों अपने सम्मिलित सहयोग से सृष्टि को सत्य, शिव और सुन्दर बनावें, जिसका कि छोटा रूप या प्रतीक हमारा घर है। आत्म-सुधार के साथ पहले अपने घर को सुधारें तभी समाज और देश के साथ क्रमशः विश्व-सुधार और विश्वबन्धुत्व का सुनहला स्वप्न पूर्ण हो सकेगा।

यह खुशी की बात है कि भारतवर्ष में अभी पश्चिम के इस प्रवाह का पूरा असर नहीं हुआ है। परन्तु हवा का रुख भारत में भी किधर बहने लगा है, इससे हम अनभिज्ञ नहीं। श्रीमती सरलादेवी चौधरानी ने तो बंग-नारी-परिषद् के अध्यक्ष-पद से पुरुषों को खूब कोसते हुए स्त्री-अधिकारों का घोषणापत्र भी प्रस्तुत कर दिया है। निस्सन्देह आज भारतीय स्त्रियों की वैसी ही स्थिति नहीं है, जैसी कि हम चाहते हैं, परन्तु उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप स्त्रियाँ कुछ भी करने लगें तो वह स्वाभाविक चाहे हो पर वांछनीय नहीं होगा। पुरुषों का सुधार आवश्यक ही नहीं अत्यवश्यक है; परन्तु जबतक उनका सुधार नहीं हो जाता, यह आवश्यक नहीं कि स्त्रियाँ भी उन्हींका अनुसरण करने लगें। एक अच्छा रहेगा तो दूसरे के सुधरने की कुछ गुंजाइश भी रहेगी। जोश और प्रतिक्रिया के प्रवाह में हम यह न भूल जायँ कि समाज-निर्माण की समस्यायें अत्यन्त गहन आधारों को लेकर चलती हैं। विश्व की इस समय जो संकटापन्न अवस्था है वह अस्वाभाविक है; और यदि वर्त्तमान समाज से अशान्ति एवं असन्तोष के मूल कारणों को हटाकर उसे संयत, शान्त एवं सुखी जीवन की ओर लेजाना है, तो जहाँ एक ओर हमें वर्ग-विशेष की अनियंत्रित उच्छृंखलता को संयत करना पड़ेगा वहाँ शिकायतों की आड़ में उठनेवाली होड़ या प्रतियोगिता की क्रोध-मूलक भावना को भी दूसरे वर्ग से दूर करना पड़ेगा। सुधार-प्रेमी स्त्री-पुरुष इधर ध्यान दें, इसी में उनका हित है।

सस्ता-साहित्य-मण्डल अजमेर के

प्रकाशन

१–दिव्य-जीवन	।=)	१५–विजयी बारडोली	२)
२–जीवन-साहित्य (दोनों भाग)	१=)	१६–अनीति की राह पर	॥)
३–तामिलवेद	॥।)	१७–सीताजी की अग्नि-परीक्षा	।-)
४–शैतान की लकड़ी	॥।=)	१८–कन्या-शिक्षा	।)
५–सामाजिक कुरीतियाँ	॥≡)	१९–कर्मयोग	।=)
६–भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग)	१॥।-)	२०–कलवार की करतूत	=)
७–अनोखा !	।=)	२१–व्यावहारिक सभ्यता	।)॥
८–ब्रह्मचर्य-विज्ञान	॥।-)	२२–अँधेरे में उजाला	।≡)
९–यूरोप का इतिहास (तीनों भाग)	२)	२३–स्वामीजी का बलिदान	।-)
१०–समाज-विज्ञान	१॥)	२४–हमारे ज़माने की गुलामी (अप्राप्य)	।)
११–खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र	॥।≡)	२५–स्त्री और पुरुष	॥)
१२–गोरों का प्रभुत्व	॥।=	२६–घरों की सफाई	।)
१३–चीन की आवाज़	।-)	२७–क्या करें ? (दोनों भाग)	१॥=)
१४–दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह (दोनों भाग)	१।)	२८–हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य)	॥=)
		२९–आत्मोपदेश (अप्राप्य)	।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन
(अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज नहीं
आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धांत ॥)
३७—महान् मातृत्व की
ओर— ।॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय
अप्राप्य) ॥)
४०—नरमेध ! १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (दोनोंखण्ड)
अजिल्द २) सजिल्द २॥)

४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग =)
४९—स्वर्ण-विहान (ज़ब्त)
(नाटिका) ।=)
५०—मराठों का उत्थान
और पतन २॥)
५१—भाई के पत्र—
अजिल्द १॥) सजिल्द २)
५२—स्व-गत— ।=)
५३—युग-धर्म— १=)
५४—स्त्री-समस्या
अजिल्द १॥।) सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का
मुक़ाबला ॥=)